

**DUE DATE SLIP****GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj )

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DATE	SIGNATURE

संरक्षित RESERVED BOOK

# श्रीमद्दाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवादसहित]

अध्याकाण्ड उत्तरार्द्ध-३

अनुवादक

'साहित्यवाचस्पति चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा

डी० ओ० सी० (काशी)

RESERVED BOOK

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

सं. २००६

द्वितीय संस्करण ३००० ]

[ मूल्य ३ ]

---

---

मुद्रकः विशेखर नाथ भार्गव,  
भार्गव प्रेम, प्रयाग ।

---

---

# अयोध्याकाण्ड के उत्तरार्द्ध

की

## विषय-सूची

चौरनवाँ सर्ग

५६३—५७३

गङ्गा-यमुना के सङ्गम-स्थल पर भरद्वाज के आश्रम में श्रीरामचन्द्रादि का पहुँचना । भरद्वाज को श्रीरामचन्द्रजी का अपने आगमन की सूचना दिलाना । भरद्वाज जी का आतिथ्य ग्रहण कर, श्रीरामचन्द्र जी का उनसे रहने के लिये किसी एक निश्चित स्थान के विषय में प्रश्न करना । उत्तर में भरद्वाज का चित्रकूटपर्वत पर रहने की सम्मति देना ।

पचपनवाँ सर्ग

५७४—५८२

भरद्वाज जी के बतलाए हुए मार्ग से श्रीरामचन्द्रादि का चित्रकूट की ओर प्रस्थान । यमुना के दक्षिणतट पर बटवृक्ष के नीचे सीतालक्ष्मणमहिन श्रीरामचन्द्र जी का टिकना ।

छप्पनवाँ सर्ग

५८२—५९३

सीतासहित श्रीरामलक्ष्ण का चित्रकूट पहुँचना, वहाँ वाल्मीकि मुनि से भेंट और उनसे वार्तालाप । चित्रकूट पर लक्ष्मण जी का पण्डुटी बनाना ।

सत्तावनवाँ सर्ग

५९३—६०१

श्रीरामचन्द्रादि का रिदा कर और गुह से रिदा माँत सुमेरु का अयोध्या की ओर प्रयाण । रावणमार्ग में पुर-

वासियों का आर्तनाद सुनते हुए दशरथ-सदन में इनका प्रवेश । श्रीरामचन्द्र जी के बिना सुमंत्र को आया देख, महाराज दशरथ और उनकी स्त्रियों का पुनः विलाप ।

### अट्ठावनवाँ सर्ग

६०२—६११

पुत्रों के वनप्रवेश का वृत्तान्त सुन, महाराज दशरथ का मूर्छित होना । तदनन्तर किसी प्रकार सचेत होने पर महाराज दशरथ को सुमंत्र के साथ बातचीत । सुमंत्र द्वारा श्रीरामचन्द्र जी का सदेशा महाराज दशरथ को सुनाया जाना ।

### उनसठवाँ सर्ग

६११—६२०

श्रीरामचन्द्र जी के विरह में अपने राज्य में बसने वालों के विपाद का वृत्तान्त सुन, महाराज दशरथ का मूर्छित होना ।

### साठवाँ सर्ग

६२०—६२६

पुत्रघातसत्य के कारण पुत्र के वियोग का दारुण दुःख सहने में असमर्थ कौसल्या जी को वन जाने का आग्रह करते देख, सुमंत्र जी का उनको समझाना धुमाना ।

### इकसठवाँ सर्ग

६२६—६३३

महाराज के सामने कौसल्या का विलाप ।

### बासठवाँ सर्ग

६३३—६३८

सचेत होने पर महाराज दशरथ का कौसल्या जी से अपने पूर्वकृत बर्तों का स्मरण करते हुए, वार्तालाप ।

## तिरसठवाँ सर्ग

६३६—६५२

अन्न-मुनि-पुत्र-वध सम्बन्धी अपनी पापकथा का  
कौसल्या जी से दशरथ जी का निरूपण करना ।

## चौंसठवाँ सर्ग

६५३—६७२

अन्नमुनि से महाराज दशरथ का अपने हाथ से  
मारें गए मुनिकुमार के वध का वृत्तान्त निवेदन करना ।  
अपने सुन के मरण का दुःखवाद सुन और दुःखी हो  
अन्नमुनि का महाराज दशरथ को शाप देना । महाराज  
दशरथ की मरणवस्था का वर्णन । महाराज के जीवन  
का अन्त ।

## पैंसठवाँ सर्ग

६७२—६८०

महाराज के मर जाने पर उनकी पत्नियों का रोना धोना ।

## छयाठठवाँ सर्ग

६८०—६८८

केकेयी की निन्दा कर के कौसल्या जी का विलाप ।  
अमर्यों द्वारा महाराज के शव की रक्षा ।

## सतरसठवाँ सर्ग

६८८—६९६

माकेण्डेशदि द्वारा सार्वजनिक समा का बुलाया  
जाना और उसमें अराजक राज्य के दोषों का वर्णन ।

## अड़सठवाँ सर्ग

६९६—७०५

वसिष्ठ जी की सम्मति से राजदूतों का भरत जी के  
बुलाने को भेजा जाना ।

## उनपठवाँ सर्ग

७०५—७१०

ननिहाल में उदास भरत जी का अपने मुद्दों से  
पिङ्गली रात के दुःस्वप्न का वर्णन करना ।

## सत्तरवाँ सर्ग

७११—७१६

इतने ही में अयोध्या के दूतों का भरत जी के सामने पहुँचना । दूतों से भरत जी द्वारा कुशलप्रश्न पूँछा जाना । दूतों के साथ भरत शत्रुघ्न का अयोध्या की ओर प्रस्थान ।

## इकहत्तरवाँ सर्ग

७११—७३१

केकय देश से बड़ी हड़बड़ी में प्रस्थान कर, भरत जी का उदास अयोध्या में पहुँच वहाँ की शोच्य निरानन्दमयी दशा को देखना ।

## बहत्तरवाँ सर्ग

७३२—७४५

पिता के भवन में पिता के दर्शन न पाकर भरत का कैकेयी के भवन में जाना और वहाँ अपनी जतनी के मुरझाए हुए पिता की मृत्यु का समाचार अपने को राज्य दिलाने के लिए, श्रीरामचन्द्र जी के निर्धामन का वृत्तान्त सुनना ।

## तिहत्तरवाँ सर्ग

७४५—७५२

माता के वचनों को सुन शोकसन्तप्त भरत की शोकावस्था का वर्णन ।

## चौहत्तरवाँ सर्ग

७५२—७६२

भरत द्वारा कैकेयी को फटकारा जाना ।

## पचहत्तरवाँ सर्ग

७६२—७८१

प्रिलाप करते हुए भरत का वृण्ठस्वर पहचान, वीसल्या का सुमित्रा जी को भेज कर, भरत को अपने

निकट बुलवाना । कौसल्या जो के मामले भरत जी का  
अपने को निर्दोष सद्ध करने के लिए शय्ये खाना ।

छिह्त्तरवाँ सर्ग

७८१—७८७

वसिष्ठ जी के सम्माने बुझाने पर भरत जी का पिता  
जी के शत्रु का दाहकर्म करने को प्रवृत्त होता ।

सहस्रवाँ सर्ग

७८७—७९३

महाराज दशरथ के शय्ये का मेलकर्म, पिता के गुणों  
को स्मरण कर, भरत शत्रुघ्न का विलाप करना ।

अठ्ठत्तरवाँ सर्ग

७९३—८००

पूर्वद्वार पर गड़े हुए और आपस में दाहवीन करते  
हुए भरत शत्रुघ्न का कुत्ता को देवता और भरत द्वारा  
शत्रुघ्न का ध्यान जन और आकर्षित किया जाता, तब  
रोर में भरत शत्रुघ्न का मन्थरा को धमोडना ।

उत्तासीर्ग सर्ग

८००—८०४

राजकर्मचारियों द्वारा राजगद्दी पर बैठने की मार्यना  
लिए जाने पर, भरत जी का उसे अक्षीकार करना  
और श्रीरामचन्द्र जी को वन से लाने के लिए वन जाने  
की इच्छा प्रकट करना और मार्ग ठीक करने की  
शिल्पियों को भेजने की आज्ञा देना ।

अस्मीर्ग सर्ग

८०५—८११

भूपदेश विशेषों द्वारा मार्ग की मास्मता

इष्यासीर्ग सर्ग

८११—८१५

प्रातःकाल होने पर मागधवन्दीजनों द्वारा अपनी  
स्तुति सुन, भरत जी का उनको वचन और स्वयं  
विलाप करना ॥



## व्यासीर्वाँ सर्ग

८१५—८२४

सभा में बैठे हुए मध्यस्थों द्वारा भरत जी से अभिप्रेष कराने का अनुरोध निश्चय जाना । उनके वचन को श्रद्धापूर्वक कर, भरत का पास बैठे हुए समग्र से उन जाने के लिए सेना तैयार करने की आज्ञा देना ।

## तिरासीर्वाँ सर्ग

८२५—८३१

अपने अनुयायियों के साथ भरत जी का गङ्गातट पर पहुँचना ।

## चौरासीर्वाँ सर्ग

८३२—८३६

गङ्गातट पर पड़ी हुई भरत की सेना को देख और यह सोच कि भरत, श्रीरामचन्द्र जी को मारने जाते हैं, गुह का अपने अनुयायियों को एकत्र करना । तदनन्तर गुह का भरत जी की फलों फूलों की भेंट देना ।

## पचासीर्वाँ सर्ग

८३६—८४२

भरद्वाजाश्रम का मार्ग जानने के लिए भरत का गुह से प्रश्न । भरत और गुह का वार्तालाप ।

## छियासीर्वाँ सर्ग

८४३—८४६

भरत के प्रति गुह का लक्ष्मण जी के गुणों का वर्णन करना ।

## सत्तासीर्वाँ सर्ग

८४६—८५६

गुह की बातें सुन मूर्च्छित भरत जी का दौसल्या जी को सम्मानना । भरत को गङ्गातट पर गुह द्वारा श्रीराम लक्ष्मण के टिकने का स्थान दिखाया जाना

**अट्टासीर्वा सर्ग**

८५६—८६४

इङ्गुदी वृद्ध के नीचे गुह की दिखलाई श्रीरामचन्द्र जी की साथरो देग्य, भरत जी का रिताप करना ।

**नवासीर्वा सर्ग**

८६५—८७१

सोफर बठने पर भरत का शत्रुघ्न जी से गुह द्वारा नावें मँगवाने को कहना और गुह का भरत के सम प आना । भरतादि का गद्दा के पार होना ।

**नव्वेर्वा सर्ग**

८७२—८७८

वसिष्ठ जी की आगें कर भरत का भरद्वाजाधम में प्रवेश । भरत और भरद्वाज जी का सवाद । भरद्वाज द्वारा भरत को श्री रामचन्द्र जी के बसने का स्थान बतलाया जाना ।

**इक्यानव्वेर्वा सर्ग**

८७८—८९८

अपने तप प्रभाव से भरद्वाज द्वारा भरत और उनके लक्ष्मर का आनिच्छ कर जाने के वृत्तान्त का वर्णन ।

**बानव्वेर्वा सर्ग**

८९९—९०८

आतिथ्य ग्रहण करने के बाद भरत जी का भरद्वाज जी से विदा मँगना । मुनि का भरत जी को चित्रकूट का मार्ग बतलाना । भरद्वाज जी के पूँछने पर भरत जी का अपनी माताओं का परिचय देते हुए अपनी जननी के यी की निन्दा करना । तब भरद्वाज जी का श्रीरामचन्द्र जी को वनयात्रा का प्रयोजन बतलाना । भरत जी का वहाँ से प्रस्थान ।

तिरानवेवाँ सर्ग ६०८—६१५

दूर ही से भरत द्वारा चित्रकूट प्रयत्न पर श्रीरामचन्द्र जी का देखा जाना।

चौरानवेवाँ सर्ग ६१५—६२१

श्रीरामचन्द्र जी का मोटा रे प्रति चित्रकूट के वन की शोभा का वर्णन करना।

पञ्चानवेवाँ सर्ग ६२२—६२७

चित्रकूट के निरुद्ध बहने वाली मन्दाकिनी के तट की शोभा का वर्णन।

द्वियानवेवाँ सर्ग ६२७—६३४

भरत जी के नैन्य-चालन का शब्द मुन वनगामी पशु-पक्षियों का भयभीत हो इधर उधर भागना। यह देख श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण जी बुलाना। माल के वृक्ष पर बड़े लक्ष्मण जी का भरत जी की सेना को देखना। सत्तैन्य भरत को आया हुआ देख, सशक्त हो लक्ष्मण जी का भरत के वध के लिए श्रीरामचन्द्र से अनुरोध करना।

सत्तानवेवाँ सर्ग ६३५—६४२

श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण जी को अपनी भूल बताना। लक्ष्मण जी का अपनी भूल पर लज्वित होना। श्रीरामाश्रम से दूर भरत जी का अपनी सेना को टहराना।

अष्टानवेवाँ सर्ग ६४२—६४६

श्रीरामाश्रम की ओर गुह के माथ भरत जी का पैदल प्रस्थान करना।

निन्यानवेवों सर्ग ६४६—६५७

पर्यशाळा मे श्रीरामचन्द्र जी को देग, भरत जी का  
उनको प्रणाम करना ।

सौर्षो सर्ग ६५७—६७६

भरत के प्रति कुशल प्रश्न पूछने व मिस श्रीराम-  
चन्द्र जी का रावनीति का उपदेश ।

एक सौ पहला सर्ग ६८०—६८२

भरत का श्रीरामचन्द्र जी को महाराज दशरथ के  
स्वर्गवासी होने का समाद सुनाना ।

एक सौ दूसरा सर्ग ६८२—६९४

पिता के मरने का दुःखवाद सुन, श्रीरामचन्द्र जी का  
विलाप करना और जनाञ्जलि देने के लिए मंत्र भाइयों  
का मन्दाकिनी के तट पर जाना ।

एक सौ तीसरा सर्ग ६९४—१००२

वशिष्ठ जी को आगे कर, महाराज दशरथ की  
रानियों का मन्दाकिनी के तट पर जाना । रामलया  
जी का सीता जी को धीरन पँगाना ।

एक सौ चौथा सर्ग १००३—१००६

श्रीरामचन्द्र जी का भरत जी से उनके वहाँ आने का  
कारण पूछना । इस पर वन से लौट कर अयोध्या में  
जा, राज्य करने के लिए भरत जी की श्रीरामचन्द्र जी  
से प्रार्थना । उत्तर में श्रीरामचन्द्र जी का पिता के  
वचन का गौरव रखने तथा उनके मृत्यु की रक्षा करने  
के लिए अयोध्या जाना अस्वीकार करना ।

एक सौ पाँचवाँ सर्ग १००६—१०२१

“पितृशोक को दूर कर तुम स्वयं राज्य करो”—यह उपदेश श्रीरामचन्द्र जी का भरत की देना ।

एक सौ छठवाँ सर्ग १०२१—१०३०

श्रीरामचन्द्र जी को लौटाने के लिए भरत जी का यत्न करना ।

एक सौ सातवाँ सर्ग १०३१—१०३६

बिरादरी वालों के बीच बैठ कर, श्रीरामचन्द्र जी का भरत के गुणों की प्रशंसा करना ।

एक सौ आठवाँ सर्ग १०३७—१०४२

ब्राह्मणोत्तम जावालि का नास्तिरुवाद के सहारे श्रीरामचन्द्र जी को लौटाने का प्रयत्न करना ।

एक सौ नवाँ सर्ग १०४२—१०५४

जावालि की बातों का श्रीरामचन्द्र जी द्वारा उत्तर ।

एक सौ दसवाँ सर्ग १०५४—१०६२

इक्ष्वाकुकुल में ज्येष्ठ राजकुमार ही राजगद्दी पर बैठते आए हैं, यह समझाने के लिए वंशानुचरित कथनपूर्वक वासुदेव जी का श्रीरामचन्द्र को कुलधर्मोपदेश ।

एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग १०६२—१०७१

वसिष्ठ जी के समझाने पर भी श्रीरामचन्द्र जी लौटाने के लिए तैयार न देख, भरत जी का अनशनव्रत धारण करने की तैयारी करना । तब श्रीरामचन्द्र जी का भरत को सान्त्वना प्रदान करना ।

एक सौ बारहवाँ सर्ग १०७१—१०७६

दशमीव-वधैषी महर्षि का भरत जी को सममाना कि वे श्रीरामचन्द्र जी का कहना मान लें और अयोध्या में जा राज्य करें। इतने बड़े भारी राज्य का शासन करने के विचार से भयभीत हो भरत का श्रीरामचन्द्र जी की पादुकाओं का उनसे माँगना।

एक सौ तेरहवाँ सर्ग १०७६—१०८४

पादुका ग्रहण कर भरत जी का पुनः भरद्वाजाश्रम में आना। भरद्वाज जी का भरत के कार्यों की प्रशंसा करना। भरत जी का गृहवेरपुर में पहुँचना।

एक सौ चौदहवाँ सर्ग १०८५—१०९२

भरत जी के अयोध्या में जाने पर, वहाँ की दुर्दशा देख, भरत जी का विलाप करना।

एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग १०९२—१०९६

पुरोहित, मंत्री और पुरवासियोंसहित भरत का नन्दिग्राम में प्रवेश और वहाँ पर पादुकाओं का पट्टा-पिपेक।

एक सौ सोलहवाँ सर्ग १०९६—११०६

अपने अपने आवासस्थानों को छोड़ कर भागे हुए ऋषियों का श्रीरामचन्द्र जी के सामने खर की दुष्टता का वर्णन करना।

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग ११०६—१११३

श्रीरामचन्द्र जी का महर्षि अत्रि के आश्रम में गमन। अनुसूया को सीता जी का प्रणाम करना और अनुसूया जी का सीता को आशीर्वाद देना।

एक मौ अट्टारहवाँ सर्ग

१११४—११२६

पातिव्रत्य वर्म के विषय में सीता और अनुसूया जी का परस्पर कथोपकथन । अत्रिपत्नी अनुसूया का सीता को प्रीतिपुरस्कार । सीता का अनुसूया जी को अपने मयबर का ममत्त वृत्तान्त सुनना ।

एक मौ उन्नीसवाँ सर्ग

११२६—११३२

रात भर अत्रिआश्रम में रह कर, दूमरे दिन श्रीरामादि का मुनि से विदा भाँग, दूरटकथन में प्रवेश करना ।

अयोध्या का ट पे उत्तगर्द की विषय-मूर्ची समाप्त हुई ।



उल्लङ्घय सिन्धोः सलिलं सलीलं

यः शोरुग्रहि जनकात्मजायाः ।

आदाय तेनैव ददाह लद्धां

नमामि त प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलानन

व ऋचनार्द्रिमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवामिन

भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र तत्र रघुनाथकोर्तनं

तत्र तत्र कृणमन्तयाञ्जलिम् ।

वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं

मार्हात नमस्त राक्षसान्तरम् ॥ ९ ॥

विद्वेषे परे पुंसि जाते दशरथात्मज ।

वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्गामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतममाससन्धियोग

सममधुरोपनतार्यवाक्यद्वयम् ।

रघुवरचरित मुनिप्रणीतं

दशशिरशश्च यधं निशमयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं

सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।

आज्ञानुवाहुमरविन्ददत्तायताज्ञं

रामं निशाचरविनाशकर नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहित मुरद्रुमतले हृमे महामण्डपे

मध्येपुष्पकमासने मणिभये धीरासने सुस्थितम् ।



अग्रे वाचयति प्रमञ्जनमुते तत्त्वं मुनिभ्यः पर  
च्याख्यान्त भरतादिभिः परिवृत्तं रामं भजे श्यामजम् ॥ १३ ॥

—:०:—

### माघसम्प्रदायः

शुक्राम्बरधरं त्रिष्णुं शशिशर्णं चतुर्भुजम् ।  
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तय ॥ १ ॥  
लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रपरो हि यः ।  
श्रीमदानन्दतोर्थाढ्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥  
वेदे रायायणे चैव पुराणे भारते तथा ।  
श्रादावन्ते च मध्ये च त्रिष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥  
सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वमिद्धि हर परम् ।  
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयद हरिम् ॥ ४ ॥  
सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वाणिनिवारकम् ।  
जानकोजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुमन्दिताम् ॥ ५ ॥  
अध्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।  
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥  
भवति यदनुभासादेडमूसोऽपि वाग्मी  
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।  
सरलवचनचैतौ देवता भारती सा  
मम यचमि विधत्तां सन्निति मानसे च ॥ ७ ॥  
मिथ्या मिद्धान्तदुर्घान्तत्रिध्वंसनविचक्षणः ।  
जयतीर्याख्यतराणिर्भासतां नो हृदयधरे ॥ ८ ॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैररपण्डितैः ।  
गुरुभाय व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ९ ॥

कूजन्त राम गमेति मधुरं मधुराक्षरम् ।  
आरह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिमोदिलम् ॥ १० ॥

वाल्माफेमुनि सहस्य कवितावनचारिणः ।  
शृण्वन् रामप्रथानाद् को न याति परा गातम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सतत रामचरितामृतसागरम् ।  
श्रुत्वात् मु न वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोप्पदीकृतवारीश मशनीकृतराक्षसम् ।  
रामायणमहामालारत्न वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

श्रद्धानानन्दन धीर जानकीशोकनाशनम् ।  
कर्पीशमक्षहन्तार वन्दे लङ्काभयद्वरम् ॥ १४ ॥

मनोजव भारततुल्यवेग  
जितेन्द्रिय बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।  
वातात्मज वानरयुयमुख्यं  
श्रीरामदूत शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिल सजील  
यः शोचति जनमात्मजाया ।  
प्रादाय तेनैव ददाह लङ्कां  
नमामि त प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

प्राञ्जनेयमतिपाटलाननं  
काञ्चनाद्रिवमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततनुमूलवामिन

भावयामि पद्ममाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनायकीर्तनं

तत्र तत्र कृणुमस्तकाञ्चलिम् ।

बाष्पवारिपरिपूर्णलोचन

भ्राम्ति नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेद्वेद्ये परे पुंमि जाते दशरथात्मजे ।

वेदं प्राचेतसादापीत्माक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

प्रापद्दामपद्मार्त्वि दातार सर्वमम्पदाम् ।

लोकाभिरामं श्रीराम भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

चतुर्पगतममामसन्धियोग

सममधुरोपनतार्थवास्यवद्भन ।

रघुवरचरितं मुनिप्रणोतं

दशशिरमश्च यद्य निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

चैदेहीमहित सुरद्रुमतले हेमे महामण्डपे

मन्ये पुष्पस्मासने मणिमये वीरासने सुम्भितम् ।

अप्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः पर

व्याख्या त भरतादिभिः परिषृत राम भजे श्यामलम् ॥२२॥

चन्दे वन्द्य त्रिधिभ्रमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः

व्यक्त व्यप्त स्वगुणगगतो देशतः कालतरच ।

भूतावद्यं सुगचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः

सानाथ्य नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूपारत्नं भुवनप्रलयस्याग्निलारचर्यरत्नं

लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामालिरत्नम् ।

चिन्तारत्र जगति भवता सत्मरोत्तुरत्र  
कौसल्याया लसतु मम इन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४ ॥  
महाव्याकरणम्भोधिमन्धमानममन्दरम् ।  
कवयन्त रामकीर्त्या हनुमन्तमुपात्महे ॥ २५ ॥  
मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुवान्तरम् ।  
नानावीरमुत्कर्णा निरुपाशमायित वभौ ॥ २६ ॥  
स्यान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहाणसे ।  
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाद्यये नम ॥ २७ ॥  
वाल्मीकेर्गौ पुनीयात्रो महीधरपदाश्रया ।  
यद्दुग्धमुपनीवन्ति कवयस्त्रणका इव ॥ २८ ॥  
सुक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।  
विहरन्तो महीयास प्रीयन्ता गुरवो मम ॥ २९ ॥  
हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।  
तस्य नि सरते वाणी जह्नु कन्याप्रवाहयत् ॥ ३० ॥

— ० —

### स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधर विष्णु शशिशर्ण चतुर्भुजम् ।  
प्रसन्नवदन ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥  
वागीशाद्या सुमनस सर्वार्थानामुपक्रमे ।  
य नत्वा कृतकृत्या स्युरत नमामि गजाननम् ॥ २ ॥  
दोभिर्युक्ता चतुर्भि स्फटिकमणिमय माला दधाना  
हस्तैर्नैकेन पद्मसितमपि च शुक पुस्तक चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्खरुटिकमणिनिभा भाममानासमाना  
सा मे वाग्देवतेय निवसतु चदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥ ३ ॥

वृजन्त राम रामेति मधुर मधुराक्षरम् ।  
आरह्य कविताशाखा व दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मीकेर्मुनिमिहस्य कवितावनचाग्नि ।  
शृ वनरामकथानाद को न याति परा गतिम् ॥ ५ ॥

य पिवन्सतत रामचरितामृतसागरम् ।  
अतृप्तस्त मुनि वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ६ ॥

गोष्पदीकृतवारीश मशकीकृतराक्षसम् ।  
रामायणमहामालारत्न वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जनानन्दने वीर जानकीशोकनाशनम् ।  
कपाशमक्षहन्तार वन्दे शङ्कामयङ्कुरम् ॥ ८ ॥

उल्लहय सिन्धो सलिल सलील  
य शोकवह्नि जनकात्मनाया ।  
आणाय तेनेत्र ददाह लङ्का  
नमामि तं प्राञ्जलिरञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलानन  
काञ्चनाद्रिकमनीर्याविग्रहम् ।  
पारिनाततश्नूलवामिन  
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तन  
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

वाष्पवारिपरिपूर्णलोचन

मार्त नमत राक्षसान्तरम् ॥ ११ ॥

मनोजव मारुततुल्यवेगं

नितेन्द्रिय बुद्धिमता वरिष्ठम् ।

वातात्मन वानरयूथमुख्यं

श्रीरामद्वृतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

य कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरह सन्धक पिदत्यादरात्

वाल्मीकेवर्दनागविन्दगलित रामायणारय मधु ।

जन्मव्याधिजरारिपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रव

ससार स विहाय गच्छति पुमान्विष्णो पद शाश्वतम् ॥१३॥

तद्रुपगतसमाससन्धियोग

सममधुरोपनतार्थवाक्यप्रदम् ।

गुरुरचरित मुनिप्रणीत

दशशिरमश्च वध निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिना ।

• पुनातु भुवन पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गल्लोलसङ्कुलम् ।

काण्डग्राहमहामोक्षप्रदे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।

वेद प्राचेतमादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

चैदेहीसिद्धि सुरद्रमतले हेमे महामण्डपे

मध्येपुष्पकमामने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तस्य मुनिभ्य पर

व्याख्यान्त भरतादिभि परिशृत राम भजे श्यामलम् ॥१८॥

घामे भूमिमुता पुरश्च हनुमान्श्चाहमुमित्रासुतः  
शत्रुतो भरतश्च पार्श्वदलघोर्वाङ्गादिकोष्णेपु च ।  
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवश्च  
मध्ये नीलसरोवकोमलश्चि राम भजे श्यामलम् ॥१६॥

नमोऽस्तु रामाय मन्त्रहमणाय  
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।  
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो  
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ २० ॥

# श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

अयोध्याकाण्डः

(उत्तरार्द्ध)

चतुःपञ्चाशः सर्गः

ते तु तस्मिन्महावृक्ष उपित्वा रजनीं शिवाम् ।  
विमलेऽभ्युदिते सूर्ये तस्मादेशात्प्रतस्थिरे ॥१॥

इस प्रकार वे तीनों उस बड़े बटवृक्ष के नीचे रात बिता कर,  
प्रातःकाल विमल सूर्योदय होने पर, वहाँ से रवाना हुए ॥ १ ॥

यत्र भागीरथीं गङ्गां यमुनाऽभिप्रवर्तते ।

जग्मुस्तं देशमृद्दिश्य विगाह्य सुमहद्वनम् ॥२॥

जहाँ पर श्रीगंगा और श्रीयमुना का सगम होता था, वहाँ अर्थात्  
उस देश की ओर, उस महावन में हो कर वे चले जाते थे ॥ २ ॥

तेऽ भूमिभागान् विविधान्देशान्श्चापि मनोरमान् ।

अदृष्टपूर्वान् पश्यन्तस्तत्र तत्र यशस्विनः ॥३॥

वे यशस्वी दोनों भाई रात्रि में अनेक वनप्रदेशों और अनेक  
पहिले न देखे हुए और रमणीक देशों को देखते हुए आगे बढ़ते  
चले जाते थे ॥३॥

---

१ भूमिभागान्— वनप्रदेशान् । (गो०)



यथा क्षेमेण१ गच्छन्म पश्यश्च विविधान्द्रुमान् ।

निवृत्तमात्रे दिवसे रामः सौमित्रिमत्रवीत् ॥४॥

इस प्रकार सुरपूर्वक रास्ते में उठते बैठते तथा अनेक प्रकार के फूले हुए वृक्षों की शोभा निरखते हुए, जब दिन थोड़ा रह गया; तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा ॥ ४ ॥

प्रयागमभितः पश्य सौमित्रे धूममुद्गतम् ॥

अग्नेर्भगवतः केतुं मन्ये सन्निहितो मुनिः ॥५॥

हे लक्ष्मण ! देखा प्रयाग तीर्थ का थोर जो धुआँ उठ रहा है, वह मानों भगवान् अग्निदेव की पत्नी फहरा रही है । इससे जान पड़ता है कि, भरद्वाज जी का आश्रम भी यहीं वहाँ पास ही है ॥ ५ ॥

नूनं प्राप्ताः स्म सम्मेदं२ गङ्गायमुनयोर्वयम् ।

तथा हि श्रूयते शब्दो वारिणो वारिषट्टजः + ॥६॥

हम लोग गङ्गा यमुना के संगम के समीप निश्चय ही आ पहुँचे हैं, क्योंकि दोनों नदियों के टकर से दसम् शब्द साफ सुनाई दे रहा है ॥ ६ ॥

दारुणि परिभिन्नानि वनजैल्पजीविभिः ।

भरद्वाजाश्रमे चैते दृश्यन्ते विविधा द्रुमाः ॥७॥

यहाँ के वन में से लकड़ी इत्यादि काट कर बेचने वालों ने लकड़ियाँ काटी हैं । देखो भरद्वाज जी के आश्रम में ये नाना प्रकार के वृक्ष कटे हुए देख पड़ते हैं ॥ ७ ॥

१ क्षेमेण—उपविश्योत्थायच शनैः स्वेच्छानुरोधेन सम्मश्यन् सम्मश्यन् । ( ४० ) २ सम्मेदं—सगमं । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“धूम-मुद्गतम्” + पाठान्तरे—“वारिषट्टजः” ।

धन्विनौ तौ सुखं गत्वा लम्बमाने दिवाकरे ।

गङ्गायमुनयोः सन्धौ<sup>१</sup> प्रापतुर्निलयं मुनेः ॥८॥

इस प्रकार आपस में बातचीत करते हुए दोनों धनुर्धारी भाई 'सुर्य' के छिपते-छिपते रगम पर स्थित भरद्वाज जी के आश्रम में पहुँचे ॥ ८ ॥

रामस्त्वाश्रममामाद्य श्रासयन् मृगपक्षिणः ।

गत्वा मृहूर्तमध्वानं भरद्वाजमुपागमत् ॥९॥

आश्रम में दो धनुर्द्वारों को आते देख, आश्रमवासी पशु पक्षी भयभीत हुए । इतने ही में श्रीरामचन्द्र जी एक मुटूत्त चल कर, भरद्वाज जी की ( कुटी के ) पास पहुँच गए ॥ ९ ॥

ततस्त्वाश्रममामाद्य मुनेदर्शनकाङ्क्षिणौ ।

सीतयाऽनुगतौ वीरौ दूरादेवान्तस्थतुः ॥१०॥

तदनन्तर सीता सहित दोनों वीर भरद्वाज जी के दर्शन करने की अभिलाषा से, कुटी से कुछ दूर रुक गए । ( रुकने का कारण मूषण टीकाकार ने यह बतलाया है कि सन्ध्या का समय था । अतः उस समय ऋषिप्रवर अग्निहोत्र कर रहे थे । कहीं उनके कार्य में बिग्न न पड़े, अतः कुछ देर वे ठहर गए, किन्तु जब अनुमति मिल गई तब ) ॥ १० ॥

स प्रविश्य महात्मानमृषिं शिष्यगणैर्दृष्टम् ।

२संशितव्रतमेकाग्रं तपसा लब्धचक्षुषम् ॥११॥ -

फिर श्रीरामचन्द्र (आदि) आश्रम में गए । वहाँ पहुँच कर उन्होंने शिष्यों से घिरे उग्र व्रतधारी एवं तपद्वारा भूत, भविष्य, वर्तमान का ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति में सम्पन्न भरद्वाज जी को देखा ॥ ११ ॥

दृताग्निहोत्रं दृष्ट्वेव महामागं कृत्वाञ्जलिः ।

रामः सौमित्रिणा सायं सीतया चाम्यवादयत् ॥१२॥

महाभाग ऋषि को अग्निहोत्र करते हुए देख, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण और सीतासहित हाथ जाड़ कर, उनको प्रणाम किया ॥ १२ ॥

न्यवेदयत् चात्मानं तस्मै लक्ष्मणपूरुजः ।

पुत्रौ दशरथस्यासौ भगवन् रामलक्ष्मणौ ॥१३॥

और यह कह कर श्रीरामचन्द्र जीने अपना परिचय दिया— हे भगवन् ! हम दोनों श्रीराम और श्रीलक्ष्मण महाराज, दशरथ के पुत्र हैं ॥ १३ ॥

भार्या ममेयं वेदेही कल्याणी जनकात्मजा ।

मां चानुयाता विजन तपोवनमनिन्दिता ॥१४॥

और यह कल्याणी जनका मेरी स्त्री और राजा जनक की पुत्री है और यह आनन्दिता जानकी मेरे साथ विजन तपोवन में जान के लिए आई हैं ॥ १४ ॥

पित्रा प्रनाज्यमानं मां सौमित्रिरनुजः प्रियः ।

अयमन्वगमद्भ्राता वनमेव दृढव्रतः ॥१५॥

पिता ने मुझे वनवास दिया है और सुमित्रा दत्ता के पुत्र तथा मेरे प्रिय छोटे भाई लक्ष्मण दृढव्रत धारण किए हुए मेरे पीछे हो लिये हैं ॥ १५ ॥

पित्रा नियुक्ता भगवन् प्रवेक्ष्यामस्तपोवनम् ।

धर्ममेव चरिष्यामस्तत्र मूलफलाशनाः ॥१६॥

हे भगवन् ! हम लोग पिता के आदेशानुसार तपोवन में प्रवेश करेंगे और वहाँ फलमूल खा कर, धर्माचरण करेंगे ॥१६॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः ।

उपानयतः धर्मात्मा गामर्घ्यमुदकं ततः ॥१७॥

धर्मात्मा भरद्वाज ने धीमान् राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे वचन सुन कर, उनको मधुपर्क, अर्घ्य और चरण धोने का जल रखा ॥ १७ ॥

[ टिप्पणी श्रीरामचन्द्र जी को राजकुमार का विशेषण आदि कवि ने इसलिए दिया है कि, भरद्वाज ने उनको मधुपर्क दिया था । मधुपर्क देने का विधान स्मृत्यनुसार राजा को भी है । यथा—

गो मधुपर्काहो वेदाय्याप्याचार्यं श्रुत्वा स्नातकी रात्वा वा धर्मयुक्तः इति ]

नानाविधानश्चरसान् वन्यमूलफलाशयान् ।

तेभ्यो ददौ तप्ततपा वासं चैवान्वकल्पयत् ॥१८॥

नाना प्रकार के वन के कन्दमूल, फल अन्न तथा रसीले पदार्थ उनके भोजन के लिए दिए और टिकने के लिए स्थान चतलाया । ( रसीले पदार्थ से अभिप्राय शरवत से जान पड़ता है ) ॥ १८ ॥

मृगपक्षिभिरासीनो मुनिभिश्च समन्ततः ।

राममागतमभ्यर्च्य स्वागतेनाह तं मुनिः ॥१९॥

१ उपानयत—रामसमीपं प्रापयत । ( शि० ) २ अन्नरसान्—रस प्रधानान्पदार्थविशेषानित्यर्थः । ( गो० ) ० पाठान्तरे—“चैवान्वकल्पयत् ।”

मृग, पत्नी और मुनियों के बीच में बैठे हुए महर्षि भरद्वाज ने श्रीरामचन्द्र जी का स्वागत किया और उनसे कुशल पूछी ॥ १६ ॥

प्रतिगृह्य च तामर्चामुपनिष्टं स राघवम् ।

भरद्वाजोऽनवीक्षाक्यं धर्मयुक्तमिदं तदा ॥२०॥

तदनन्तर, इस प्रकार महर्षि की पूजा, प्रहण कर के, आसीन श्रीरामचन्द्र जी से, भरद्वाज जी ने ये धर्मयुक्त वचन कहे ॥ २० ॥

चिरस्य खलु काकुत्स्थ पर्यामि त्वामिहागतम् ।

श्रुतं तत्र मया चेदं विवामनमकारणम् ॥२१॥

हे काकुत्स्थ ! बहुत दिनों बाद आज मैं तुम्हें पुनः इस आश्रम में आया हुआ देखता हूँ । मैंने सुना है कि, तुमने अकारण वनवास हुआ है ॥ २१ ॥

अप्रकाशो निविक्रोज्यं महानद्योः समागमे ।

पुण्यश्च रमणीयश्च वसत्विह भवान् सुखम् ॥२२॥

श्रुत इन दोनों महानदियों के संगम पर, इस पुरान्त, पवित्र एवं रम्य स्थान पर आप सुखपूर्वक वास करें ॥ २२ ॥

एवमुक्तः स वचन भरद्वाजेन राघवः ।

प्रत्युवाच शुभं वाक्यं रामः सर्वहिते रतः ॥२३॥

भरद्वाज के इन वचनों को सुन, सर्वहितैषी श्रीरामचन्द्र जी ने शुभ वचन कहे ॥ २३ ॥

[ टिप्पणी—“सर्व-हिते रत” श्रीरामचन्द्र के लिए प्रयुक्त यह विशेषण ब लाता है कि श्री राम ने आश्रमव सो ऋषियों की राक्षसों के उपद्रव से रक्षा की थी । राक्षसों के उपद्रव कहते हैं ]

भगवन्निव आसन्नः पौरजानपदो जनः ।

सुदर्शमिह मां प्रेक्ष्य मन्येऽहमिममाश्रमम् ॥२४॥

१ सुदर्श—मुखेन द्रष्टुं शक्य । ( गो० )

आगमिष्यति वैदेहीं मां चापि प्रेक्षन्तो जनः ।

अनेन कारणेनाहमिह वासं न रोचये ॥ २५ ॥

हे भगवन् ! यह वासस्थान पुरवासियों को अत्यन्त निकट पड़ेगा । अतः मुझे और सीता जी को देखने के लिए लोग यहाँ आसानी से चले आया करेंगे । अतः मुझे यहाँ रहना उचित नहीं जान पड़ता ॥ २४ ॥ २५ ॥

एकान्ते परय भगवन्नाश्रमस्थानमुत्तमम् ।

रमेत यत्र वैदेही सुखाह्वां जनकात्मजा ॥ २६ ॥

हे भगवन् ! अतः काइ ऐसा एकान्त और उत्तम स्थान आश्रम के लिए बतला दोजिए, जहाँ जानकी जी का मन लगे और ( यह ) सुगमपूर्वक रह सके ॥ २६ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरद्वाजो महामुनिः ।

रावस्य ततो वास्यमर्थग्राहकं मन्त्रयत् ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन शुभ वचनों का सुन, महर्षि भरद्वाज उनसे यह अर्थबोधक वचन बोले ॥ २७ ॥

दशकोश इतस्ताव गिरिर्यस्मिन्नित्स्यसि ।

महर्षिसेवितः पुण्यः सर्वतः सुखदर्शनः ॥ २८ ॥

हे बत्स ! यहाँ से दश कोस पर तुम्हारे रहने योग्य एक पहाड़ है, जो महर्षियों से सेवित होने के कारण पवित्र है और उसके चारों ओर नयनाभिराम दृश्य है ॥ २८ ॥

[ टिप्पणी—दशकोश से चित्रकूट का पाठला अथ अधिक है । इसका कारण यह है कि भेता के लोग कलियुगी लोगों से डील डौल में कहीं लंबे चौड़े होते थे, अतः उस समय के एक कोश का नाप उनके हाथों के नाप से बतलाया गया है । ]

गोलाद्गूलानुचरितो वानरर्क्ष निपेवितः ।

चित्रकूट इति ख्यातो गन्धमादनसन्निभः ॥ २६ ॥

उस पर्वत पर लगू, वंदर और रीद्ध घूमा फिटा करते हैं ।  
उस पर्वत का नाम चित्रकूट है और उसकी शोभा गन्धमादन  
पर्वत की तरह है ॥ २६ ॥

यावता चित्रकूटस्य नरः शृङ्गाण्यवेक्षते ।

कल्याणानि समाधत्ते न पापे कुस्ते मनः ॥ ३० ॥

जब तक लोग चित्रकूट के शृङ्गों को देखते हैं, तब तक उनको  
पुण्य होता है और उनका मन पाप की ओर नहीं दौड़ता ।  
अथवा जो लोग चित्रकूट पर्वत के शृङ्गों को देख लेते हैं, वे  
पुण्याचरण करने लगते हैं, उनका मन कर्मों पाप कर्मों की ओर  
नहीं जाता—फिर जो लोग वहाँ रहते हैं, उनके पुण्य का ही  
क्या कहना है ! ॥ ३० ॥

ऋपयस्तत्र बहवो विहृत्य शरदां शतम् ।

तपसा दिवमारूढाः कपालशिरसा सह ॥ ३१ ॥

वहाँ बहुत से ऋषि लोग सैकड़ों वर्षों तक तप कर (बृद्धावस्था  
को प्राप्त हो कर भी, तपःप्रभाव से शरीर से हृष्ट पुष्ट बने रह कर)  
खेलते कूदते सशरीर स्वर्ग चले गए हैं ॥ ३१ ॥

प्रविचिक्तमहं मन्ये त वासं भवतः सुखम् ।

इह वा वनवासाय वस राम भया सह ॥ ३२ ॥

१ कल्याणानि—पुण्यकर्माणि । (गो०) २ समाधत्ते—प्राप्नोति (गो०)

३ कपालशिरसासह—सशरीरः स्वर्गगता इत्यर्थः । (गो०)

वह स्थान विल्कुल एकान्त है । मेरी समझ में तो आप वहाँ आराम स रहेंगे । अथवा हे राम ! वनवास की अवधि पूरी होने तक आप मेरे साथ मेरे आश्रम ही में रहिए ॥ ३२ ॥

[टिप्पणी—भरद्वाज जी के कहने पर श्री राम जो प्रथम ही भरद्वाज-आश्रम में अपने वास करने के अनौचित्य का कारण बतला चुके-थे अब पुनः भरद्वाज का उसी बात का दुहराना केवल शिष्टाचार है । ]

स रामं सर्वकामैस्तं भरद्वाजः प्रियातिथिम् ।

समायं सह च आत्रा प्रतिजग्राह धर्ममित् ॥ ३३ ॥

महर्षि भरद्वाज जी ने सीता और लक्ष्मण सहित आरामचन्द्र जी का, अतिथियाग्य आतिथ्य (पहुनाइ) कर, उनका अपने वश म कर लिआ था ॥ ३३ ॥

तस्य प्रयागे रामस्य तं महर्षिं मृपेयुषः ।

प्रपन्ना<sup>२</sup> रजनी पुण्या चित्राः कथयतः कथाः ॥३४॥

श्रीरामचन्द्र जी का प्रयागक्षेत्र में महर्षि भरद्वाज जी के साथ समागम होने पर अनेक प्रकार की कथा बार्ता होते, पुण्यमयी रात्रि हो गई ॥ ३४ ॥

३सीतातृतीयः काकुत्स्थ परिश्रान्तः सुखोचितः ।

भरद्वाजाश्रमे रम्ये तां रात्रिमसत्सुखम् ॥ ३५ ॥

सुख से रहने योग्य आरामचन्द्र लक्ष्मण और तीसरी सीता अर्थात् तानों ने मार्ग चलने की थकावट से कातर हो रमलोक भरद्वाज जी के आश्रम में सुखपूर्वक वह रात बिताई ॥ ३५ ॥

१ सर्वकामैः प्रतिजग्राह—अतिथियोग्यसकारैर्वशीकृतवान् । प्रतिजग्राह—उपचार । (गो०) २ प्रपन्ना—प्राप्ता । (गो०) ३ सीतातृतायायस्य । (शि०)



प्रभातायां रजन्यां तु भरद्वाजमुपागमत् ।

उत्राच नरशार्दूलो मुनिं ज्वलिततेजसम् ॥ ३६ ॥

जब रात द्यतीत हुई और सपेरा हुआ, तब शरामचन्द्र जी तपस्या के तेज से जागृतमान महर्षि भरद्वाज के पास गए और यह बोले ॥ ६ ॥

शर्वरीं भगवन्नद्य सत्यशील तत्राश्रमे ।

उपिताः स्मेहवसतिमनुजानातुर नो भवान् ॥ ३७ ॥

हे सत्यशील भगवन् ! आज हमने आपके इस आश्रम में बस कर, रात (बड़े आराम से) बिताई । अब आप कृपा कर हमें उस स्थान पर, जिसे आपने बनलाया है, जाने की आज्ञा दीजिए ॥ ३७ ॥

राज्या तु तस्यां व्युष्टायां भरद्वाजोऽनरीदिदम् ।

मधुमूलफलोपेतं चित्रकूटं व्रजेति ह ॥ ३८ ॥

उस रात के बात जाने पर भरद्वाज जी ने यह कहा—अब आप मधु, मूल, फलयुक्त चित्रकूट पर्वत पर जाइए ॥ ३८ ॥

वासमौपयिकं मन्ये तत्र राम महाव्रत ।

नानानगगणोपेतः किन्नरोरगसेवितः ॥ ३९ ॥

हे महाव्रत राम ! मेरी समझ में चित्रकूट ही आरकें रहने योग्य ठीक स्थान है । क्योंकि वहाँ अनेक प्रकार के वृक्ष हैं, वहाँ किन्नर और नाग बसते हैं ॥ ३९ ॥

[ टिप्पणी—श्री राम को भरद्वाज जी द्वारा “महावली फटे जाने का अभिप्राय यह है कि चित्रकूट राक्षसों के उपद्रव से खाली नहीं था—अतः वहाँ महावली ही रह सकता है ]

मयूरनादामिहृतो गजराजनिषेवितः ।

गम्यतां भवता शैलश्चित्रकूटः स विश्रुतः ॥ ४० ॥

वहाँ मार बाजा करत हँ और बड बड़ हाथी घूमा करते हैं,  
अत आप उम प्रभिद्ध चित्रकूट पर्वत पर जाइए ॥ ४० ॥

पुण्यश्च रमणीयश्च महामूनकलायुतः ।

तत्र कुञ्जरयूथानि मृगयूथानि चाभितः ॥ ४१ ॥

विचरन्ति वनान्तेऽग्निस्तानि द्रक्ष्यसि राधर ।

वह स्थान आत पवित्र, रमणीय और नाना प्रकार के  
कन्दमूगों और फलों स परिपूण है । वहाँ कुञ्जरों और मृगों के  
खुरड घूमा करते हैं । उन्हें तुम वहाँ देखोगे ॥ ४१ ॥

सरित्प्रस्रवणप्रस्थान्दुर्गकन्दरनिर्दरात् ।

चरतः सीतया सार्धं नन्दिभ्यति मनस्तर ॥ ४२ ॥

वहाँ की नदिया, झरनों, पतशिखरों और कन्दराओं को  
देखते हुए, विचरण करने पर, तुम्हारा और साता का मन बहुत  
प्रसन्न हागा ॥ ४२ ॥

।हृष्ट होयष्टि'ककोरिन्नस्नैर्विनादितं त वसुधाधरशिवम् ।

मृगैश्च मत्तैर्बहुभिश्च कुञ्जरोः सुरम्पमामाद्यसमायमाश्रमम् ॥ ४३ ॥

इति चतु पञ्चाश सर्ग ॥

उस पवित्र पर्वत पर टिट्टहरियाँ और कोयलें प्रसन्न हो,  
खोला करती हैं । उस पर अनेक मृग और बहुत से मत्त गज,  
घूमा करने हैं । इस प्रकार के उस बड़े रमणीक पर्वत पर आप  
जाकर वास कोजिए ॥ ४३ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौवनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

## पञ्चपञ्चाशः सर्गः

उपित्वा रजनीं तत्र राजपुत्रावग्निदमौ ।

महर्षिममिवाधाय जग्मतुस्तं गिरिं प्रति ॥ १ ॥

शत्रुओं के दमन करने वाले श्रीराम और लक्ष्मण प्रयाग में एक रात रह कर, प्रातःकाल होते ही मुनि की प्रणाम कर, चित्रकूट पर्वत की ओर पध्याहित हुए ॥ १ ॥

तेषां चैव स्वस्त्ययनं महर्षिः स चकार ह ।

प्रस्थितान् चैव तान् प्रंचय पिता पुत्रानिवान्वगात् ॥२॥

उनसे वहाँ से यात्रा करते देख, महर्षि भरद्वाज ने इसी प्रकार उनका वरुदवाचन किया जिस प्रकार पिता अपने निज पुत्र का करता हो ॥ २ ॥

ततः प्रचक्रमे वक्तुं वचनं स महामुनिः ।

भरद्वाजो महातेजा रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर महातेजा महर्षि भरद्वाज सत्यपराक्रमा श्रीराम-चन्द्रजी से कहने लगे ॥ ३ ॥

गङ्गायमुनयाः सन्धिमासाद्य मनुजर्षभौ ।

कालिन्दीमनुगच्छेतां नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम् ॥४॥

हे मनुजश्रेष्ठ ! इस गंगा यमुना के संगम से, पश्चिम की ओर यमुना के निनारे तुम जाओ ॥ ४ ॥

१ अनुगच्छेता—अनुसृत्यगच्छेता । (गो०) २ पश्चान्मुखाश्रिताम्—पश्चिमाभिमुखोभूत्वागच्छेता । (गो०)

अथासाद्य तु कालिन्दीं शीघ्रस्रोतसमापगाम् ।

तस्यास्तीर्थं<sup>१</sup> प्रचरितं<sup>२</sup> पुराणं प्रेक्ष्य राघवौ ॥ ५ ॥

तुम लोग शीघ्र बहने वाली गंगा में मिलने वाली यमुना के किनारे किनारे चल कर, एक घाट देखोगे, जो बहुत पुराना होने से टूटा फूटा है ॥ ५ ॥

तत्र यूयं प्लवं कृत्वा तरतांशुमतीं<sup>३</sup> नदीम् ।

ततो न्यग्रोधमासाद्य महान्तं हरितच्छदम् ॥ ६ ॥

वहाँ पर धरनई बना कर तुम सूर्यपुत्रा यमुना नदी को पार करना । तदनन्तर उस पार जाने पर बड़ा बरगद का बृक्ष मिलेगा, जिसके पत्ते हरे-हरे हैं ॥ ६ ॥

विट्पदं बहुभिर्बृक्षैः श्यामं सिद्धोपसेवितम् ।

तस्मै सीताञ्जलिं कृत्वा प्रयुञ्जीताशिपः<sup>५</sup> शिवाः ॥ ७ ॥

वह बट वृक्ष अनेक वृक्षों के बीच में है, उसके पत्तों का रंग श्यामता लिये हुए हरा है और सिद्धों द्वारा वह सेवित है । अर्थात् वहाँ सिद्ध लोग रहते हैं; वहाँ पहुँच कर, जानकी हाथ जोड़ कर, अपने शुभ मनोऽर्थों के सफल होने के लिए प्रार्थना करे ॥ ७ ॥

समासाद्य तु तं वृक्षं वसेद्वाऽतिक्रमेत वा ।

क्रोशमात्रं ततो गत्वा नीलं द्रक्ष्यथ काननम् ॥ ८ ॥

या तो उसपेड़ के नीचे कुछ देर तक टहर कर विश्राम कर लेना अथवा आगे को चले जाना । वहाँ से एक फोस आगे जाने पर नीलवन देख पड़ेगा ॥ ८ ॥

१ तीर्थ—अवतरणदेश । (गो०) २ प्रचरितं—गमनागमनाभ्यामति-  
 क्षुण्णमित्यर्थः । (गो०) ३ आशुमती—अशुमतः सूर्यस्यात्सभूता । (गो०) ४

५ प्रयुञ्जीत—प्रार्थयेत् । (गो०) ५ आशिपः—मनोरथान् । (गो०)

पलाशदरीमिश्रं रम्यं वंशैश्च यामुनैः ।

स पन्थाश्चित्रकूटस्य गतः सुग्रहो मया ॥ ९ ॥

उस वन में साल, जामुन और बेरी के अनेक वृक्ष हैं। वही मार्ग चित्रकूट को जाता है। मैं उस मार्ग से कितनी ही दूर चित्रकूट गया हूँ ॥ ९ ॥

रम्यो मार्दगयुक्तश्च वनदानैर्विवर्जितः ।

इति पन्थानमावेद्य महर्षिः संन्यतर्तत ॥ १० ॥

यह मार्ग रमणीय, कोमल ( अर्थात् कांटों कण्डों से रहित अथवा रेतीला होने से कोमल है। उस वन में दावानल का भी भय नहीं। इस प्रकार ( कइ और कुछ दूर साथ जाकर ) रास्ता बदला महर्षि भरद्वाज लौट आए ॥ १० ॥

अभिवाद्य तथेत्युक्त्वा रामेण निनिवर्तितः ।

उपावृत्ते मुनी तस्मिन् रामो लक्ष्मणमघ्नरीत् ॥११॥

श्रीरामचन्द्र जी ने भी प्रणाम कर उनको बिदा किया। जब भरद्वाज जी लौट गए, तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा ॥ ११ ॥

कृतपुण्याः स्म सौमित्रे मुनिर्यन्नोऽनुकम्पते ।

इति तौ पुरुषव्याघ्रौ मन्त्रयित्वा मनस्विनौ ॥ १२ ॥

हे लक्ष्मण ! वास्तव में हम लोग बड़े पुण्यवान हैं, तभी तो महर्षि भरद्वाज जी हमारे ऊपर इतनी कृपा करते हैं। दोनों मनस्वी पुत्र मह राजकुमार इस प्रकार बातचीत करते ॥ १२ ॥

सीतामेवाग्रतः कृत्वा कालिन्दीं जग्मतुर्नदीम् ।

अथासाध तु कालिन्दीं शीघ्रस्रोतोवर्धां नदीम् ॥१३॥

और सीता को आगे कर, यमुना की ओर चले और शीघ्र बहने वाली यमुना के पार पहुँचे ॥ १३ ॥

चिन्तामापेदिरे सर्वे नदीजननितीर्षरः ।

तौ वाष्पमहाटमयो चक्रतुः सुमहाह्वयम् ॥ १४ ॥

वे सब उसको पार करने के लिए चिन्ता करने लगे । उन दोनों राजकुमारों ने बहुत सी लकड़ियाँ एकत्र कर, एक बड़ा बेटा बनाया ॥ १४ ॥

शुष्कैर्वृक्षैः समास्तीर्णमुशीरैश्च समानृतम् ।

ततो वेतमशाखाश्च जम्बूशाखाश्च वीर्यवान् ॥ १५ ॥

चकार लक्ष्मणश्छिन्त्वा सीतायाः सुखमासनम् ।

तत्र श्रियमिवाचिन्त्यां<sup>१</sup> रामो दाशरथिः प्रियाम् ॥ १६ ॥

(यह बेटा किस प्रकार बनाया गया—यह बतलाते हैं ।) उन वीर्यवान् राजकुमारों ने प्रथम तो सुखे वृक्षों को पार-पार बाँध कर बेटा बनाया । फिर वृक्षों की संधियों भरने को संधों में रास भरा । तदनन्तर लक्ष्मण जी ने उस पर वेत तथा जामुन की डालियों बाँध कर और त्रिदा कर सीता जी के आराम से बैठने के लिए आसन बना दिया । तत्र श्री रामचन्द्र जी ने लक्ष्मी की तरह अचिन्त्या सौन्दर्यवती प्यारी सीता को, ॥ १५ ॥ १६ ॥

ईपत्संलज्जमानां तामध्यारोपयत ह्वयम् ।

पार्वे च तत्र वैदेह्या यत्ने भूषणानि च ॥ १७ ॥

१ अचिन्त्या—अचिन्त्यसौन्दर्या । ( गो० )

जो ( पति के हाथ का महारा पाने से ) कुछ कुछ लज्जायुक्त थीं, हाथ पकड़ कर उम बेड़े पर बिठाया। और उनके पान ही उनके गहने कपड़े रख दिए ॥ १७ ॥

सुखे कठिनकाजं? च रामश्चक्रे सहायधैः ।

आरोप्य प्रथम सीतां सङ्घाटं परिगृह्य तौ ॥ १८ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी ने बाट दे बेट की कुदाली और मृगचर्म से मढ़ा हुआ पिटारा तथा अपने सन्त आचुध ( हथियार ) रखे। प्रथम सीता को उस पर बिठा दोनो भाइयों ने बेडा पकड़ कर चलाया ॥ १८ ॥

[ नोट—इससे स्पष्ट है कि, उस बेड़े पर केवल सीता जो बैठी थीं और बाघ का साथ सामान रखा था। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण उस बेड़े को दोनों ओर से पकड़कर उसे बल पर तैंगते तथा स्वयं तैरते हुए उस पार हुए थे। [ आगे के श्लोक में 'प्रतेरतुर्युक्तौ' से यह बात समर्थित होती है। ]

ततः प्रतेरतुर्युक्तौ वीरौ दशरथात्मजौ ।

कालिन्दीमध्यमायाता सीता त्वेनामवन्दत ॥ १९ ॥

तदनन्तर दोनों वीर दशरथनन्दनों ने उस बेड़े में कुछ अर्थान् लग कर यमुना पार क। जब बेटा नीचोदीच धार में पहुँचा, तब सीता जी ने यमुना जी को प्रणाम किया ॥ १९ ॥

१ कठिनकाज—कठिनक कन्दमूलखननसाधनं अथवाप्रदाह ।  
आज—अजकर्मपिनद्ध पिटकं । ( गो० )

स्वस्ति देवि तगमि त्वां श्पारयेत् मे पतिव्रतम् २ ।

यत्त्वे त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च ॥ २० ॥

हे देवि ! हम लोग आपका पार जा रहे हैं । यदि मेरे पति का व्रत अधाँरा ( वननाम का सङ्कल्प ) निर्वन्नापूर हो गया, तो आपकी प्रसन्नता के लिए मैं एक हजार गौएँ दान कर तथा सौ घड़े सुरा के नैवेद्य से आपका पूजन करूँगी । [ टिप्पणी—यह पूजन श्रद्धालुओं के लिये ही है । ॥ २० ॥

स्वस्ति प्रत्यागते रामे पुरीमिच्छाकुपालिताम् ।

कालिन्दीमथ सीता तु याचमाना कृताञ्जलिः ॥२१॥

सीता जो यमुना से हाथ बाँध कर यह वर मांगी हुई कि, श्रीरामचन्द्रजी सकुशल शिवकुपालित अयोध्या में लौट आवें ॥ २१ ॥

तीरमेवाभि सम्प्राप्ता दक्षिणं वरवर्णिनी ।

ततः स्रवेनांशुमती शीघ्रगामूर्मिमालिनीम् ॥

शीघ्रगामना और तरङ्गवती सूर्यपुत्रा यमुना को पार कर, उसके दक्षिण तट पर सीता जो पङ्कजी ॥ २२ ॥

तीरजैर्धृमिवृक्षैः सन्तेरुर्यमुनां नदीम् ।

ते तीर्णाः स्रमुन्सज्य प्रस्थाय यमुनावनात् ॥२३॥

वे यमुना को पार कर और उस घड़े को घड़ी छोड़ कर, यमुना के तीरवर्ती अनेक वृक्षों से युक्त वन में हो कर चले ॥ २३ ॥

श्यामं न्यग्रोधमासेदुः शीतलं हरितच्छदम् ।

न्यग्रोधं तमुपागम्य वैदेही वाक्यमब्रवीत् ॥ २४ ॥

१ पारयेत्—समापयेत् । ( गी० ) २ मे पतिः व्रतं—वनवाससङ्कल्प ।

( गी० ) २ यमुनावनात् 'यमुनातीरवनात् । ( गी० )



वे श्यामवर्ण और हस्तपत्तों से युक्त, शीतल छाया वाले चरगद वृक्ष के नीचे पहुँचे। वटवृक्ष के पान पहुँच, जानकी जी कहने लगी ॥ २४ ॥

नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पारयेन्मे पतिव्रतम् ।

कौसल्यां चैव परयेयं सुमित्रां च यशस्विनीम् ॥२५॥

हे महावृक्ष ! मैं आपसे प्रणाम करती हूँ। आप मेरे पति का व्रत पूरा कीजिए, जिनसे मैं अपनी यशस्विनी (माम) कौसल्या और सुमित्रा के फिर दर्शन कर सकूँ ॥ २५ ॥

इति सीताञ्जलिं कृत्वा पर्यगच्छत्<sup>१</sup> वनस्पतिम् ।

अवलोक्य ततः सीतामायाचन्तीमनिन्दिताम् ॥२६॥

दयितां च विधेयां च रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।

सीतामादाय गच्छ त्वमग्रतो भरताग्रज<sup>२</sup> ॥ २७ ॥

यह प्रार्थना कर और हाथ जोड़े हुए सीता जी ने वट वृक्ष की परिक्रमा की। तब अनिन्दिता, प्राणप्यारी एवं अनुकूल-वर्तिनी जानकी को इस प्रकार वर माँगते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा, हे भरत के छोटे भाई ! तुम सीता को अपने साथ ले आगे चलो ॥ २६ ॥ २७ ॥

पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि सायुधो द्विपदांबर ।

यद्यत्फलं प्रार्थयते पुष्पं वा जनकात्मजा ॥ २८ ॥

हे नरोत्तम ! मैं शत्रु लिए प.छे पोछे आता हूँ। सीता जी जिन फल और जिस फूल को पंसद करें या चाहें ॥ २८ ॥

१ पर्यगच्छत्—प्रदक्षिण चकार। (गो०) २ भरताग्रजेतिवद्-  
मीहिः। (गो०)

तत्तत्प्रदद्या वैदेक्षा यत्रास्या रमते मनः ।

गच्छतोऽतु तयोर्मध्ये० वभौ च जनकात्मजा ॥२६॥

वह फूल और फल जानकी को दे दिआ करना, जिससे इनका मन नहला रहे । जानकी जी उन दोनों के बीच में वैसे ही चलने लगी ॥ २६ ॥

मातङ्गयोर्मध्यगता शुभा नागप्रधूरि ।

एकैकं पादपं गुल्मं लतां वा पुष्पशालिनीम् ॥ ३० ॥

अदृष्टपूर्वा पश्यन्ती रामं पप्रच्छ साञ्जला ।

रमणीयान् बहुविधान् पादपान् वृक्षान् सुमोत्कटान् ॥ ३१ ॥

सीताप्रचनसन्वध आनयामास लक्ष्मणः ।

त्रिचित्रवालुकजलां हससारसनादिताम् ।

रेमे जनकराजस्य सुता प्रेक्ष्य तदा नदीम् ॥ ३२ ॥

जैस हाथियों के बीच हथिनी चले । सीता प्रत्येक वृक्ष, गुल्म और पुष्पित लता के बारे में जिसे सीता जी ने कभी देखा नहीं था, श्रीरामचन्द्र जी से पूछती जाती थीं । वहाँ पर तरह तरह के रमणीय वृक्ष और फूल लगे थे, जिनमें से जिसे सीता जी पसंद करतीं, लक्ष्मण जी उसे ही ला दिआ करते थे । उस नदी को, जिसका बालुफामय तट और निमल जली था तथा जिसके तट पर हंस, सारस मधुर बोलियाँ बोल रहे थे, देख कर, सीता जी प्रसन्न होती जाती थीं ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

१ मेघान्—शुभीन् मद्ययानिति यावत् । ( गो० ) २ चेरत् । भवि-  
त्यन्ती । परगतिमवपयो । ( गो० ) • पाठान्तरे—“बभूव ।”

क्रोशमाणं ततो गत्वा आतरो रामलक्ष्मणौ ।

यहून् मेघ्यान्<sup>१</sup> मृगान् हत्वा चेतुः<sup>२</sup> यमुनावने ॥३३॥

दोना म २ या न एक वीम च न कर तथा यमुना तारवती वन  
मे अनेक पवित्र मृगों को मारकर, व्याथा ॥ ३३ ॥

बिहृत्य ते बर्हिणपृगनाशदिते

शुभे वने वानरवारणायुते ।

रसमं<sup>३</sup> नदीवप्रमुपेत्य सम्मतं<sup>४</sup>

निवासमाजगमुरदीनदर्शनाः ॥३४॥

इति पञ्चःश्रवाः सर्गः ॥

इस प्रकार दोनों वीर भाइयों ने मीनामहित उस मनोहर  
वन में, जहाँ मोरों के मुँड के मुँड बोल रहे थे तथा हाथी और  
बंदर घूम रहे थे; बिहार कर, नदी तट पर एक सुन्दर समयर  
स्थान पर, जिसे सत्ता जी ने भी पसंद किया, निर्भय हो, वास  
किया ॥ ३४ ॥

अयोध्याकाण्ड का पचपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

## षट्पञ्चाशः सर्गः

अथ राज्यां व्यतीतायामवसुप्तं<sup>१</sup> मनन्तरम्<sup>६</sup> ।

प्रबोधयामास शनैर्लक्ष्मणं रघुनन्दनः ॥ १ ॥

१ पूगः—समूहः ( गो० ) २ रसमं—अनिम्नोन्नतं । ( गो० ) ३  
नदीवप्रं—नदीतीर । ( गो० ) ४ सम्मतं—निवास सीताभिमतंवासस्थानं ।  
( गो० ) ५ अवसुप्तं—ईषत् सुप्तं । ( गो० ) ६ अनन्तरम्—स्वप्रबोधा-  
नन्तरम् । ( गो० )

जब रात बीत गई तब श्रीरामचन्द्र जी ने स्वयं जाग कर, ध्यान में हुए लक्ष्मण को धीरे-धीरे घेतन्व क्रिया ॥ १ ॥

सौमित्रे शृणु वन्यानां<sup>१</sup> वल्गु<sup>२</sup> व्याहरतां स्वनम् ।

सम्प्रतिष्ठामहे कालः प्रस्थानस्य परन्तप ॥ २ ॥

( श्रीरामचन्द्र जी ने कहा ) हे लक्ष्मण ! देता तो ये वन के तोते, कायल, मैना आदि पक्षी कैसे मधुर स्वर से चहक रहे हैं। हे परन्तप ! मार्ग चलने के लिए यही समय (अच्छा) है। अतः अब हमने यहाँ से चल देना चाहिए ॥ २ ॥

स सुप्तः समये भ्रात्रा लक्ष्मणः प्रतिबोधितः ।

जहौ निद्रां च तन्द्रां च प्रसक्तं च पथि श्रमम् ॥३॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने जागने के समय लक्ष्मण को जगाया, तब वे, निद्राजनित आलस्य को त्याग और रास्ता चलने की थकावट को दूर कर, उठ खड़े हुए ॥ ३ ॥

तत उत्थाय ते सर्वे स्पृष्ट्वा<sup>३</sup> नद्याः<sup>४</sup> शिवं जलम् ।

पन्थान<sup>५</sup> मृषिणाऽऽदिष्टं चित्रकूटस्य तं ययुः ॥४॥

तदनन्तर सब जनों ने उठकर पवित्र यमुना जल में स्नानादि क्रिया पूरी की। फिर उन सब ने महर्षि भरद्वाज के बतलाए हुए पलाशवन में हो कर, चित्रकूट का रास्ता पकड़ा ॥ ४ ॥

[ टिप्पणी—किंवदन्ता है कि लक्ष्मण चौदह वर्षों तक सोए ही नहीं थे, तभी वे इन्द्रजीन मेघनाद को मारने में समर्थ हुए थे।

१ वन्याना—शुकपिकशादिकादीना । ( गो० ) २ वल्गु—मुन्दरं ।

( गो० ) ३ स्पृष्ट्वा—स्पृष्टेसुपलक्षणं प्रातःकालिकस्नानादिकृत्यानां ।

( गो० ) ४ नद्याः—कालिन्द्याः । ( गो० ) ५ पन्थानम्—पलाश-

वनरूपं । ( गो० )

इस श्लोक में लक्ष्मण के लिए 'अवहृत्' का प्रयोग देय, किय-  
दन्ती का दण्डन हो जात है ।

ततः सम्प्रस्थितः काले रामः मौमित्रिणा सह ।

सीतां कमलपत्राक्षीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

लक्ष्मण जी के माथ जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी कमल के  
समान नेत्र वाला सीता जी से यह वचन बोले ॥ ५ ॥

आदीप्तानिव वैदेहि सर्वतः पुष्पितान्नगः ॥

स्वः पुष्पैः किंशुकान् पश्य मालिनः १ शिशिरात्यये ॥६॥

हे वैदेही ! वसन्त के आगमन से देवो पत्तान केना फूला  
है । पत्तास के लाल फूलों को देख ऐसा जान पड़ा है, मानों  
पत्ताश के दूतों में आग लग गई है । फूलों से मन दूरों की ऐसी  
शोभा हो रही है, मानों सब वृक्ष पुष्पों की मालाएँ धारण किए  
हुए हों ॥ ६ ॥

पश्य भ्रूतकान् फुल्लान्नरेरनुपसेवितान् ।

फलपत्रैस्वनतान्नुनं शक्यामि जीवितुम् ॥ ७ ॥

देवो, भित्ति के इत कैसे पत हैं । अगम्य होने के कारण  
मनुष्य की उनमें गुजर नहीं । मैं तो फल और पत्तों का कर  
गुजारा भी कर सकता हूँ अथवा जीवित रह सकता हूँ ॥ ७ ॥

पश्य द्रोणप्रमाणानि लभ्यमानानि लक्ष्मण ।

मधूनि ३ मधुकारीभिः सम्भृतानि नगे नगे ॥८॥

१ मालिनः—मालावत इवस्थितान् (गो०) । २ द्रोण—आढकद्वयं ।  
( गो० ) ३ मधूनि कुर्वन्तीति मधुकार्यः कर्मण्यण् ङीप् । ( गो० ) ४  
संभृतानि—निर्मितानि । (गो०) ५ नगे नगे—वृक्षे वृक्षे । (गो०)

हे लक्ष्मण ! देखो हरेक वृक्ष में शहद की ममियों के लगाए शहद से भरे छत्ते लटक रहे हैं । इनमें ३२ सेर से कम शहद न निकलेगा ॥ ८ ॥

एष क्रोशति नत्पूहस्तः<sup>१</sup> शिखी प्रतिकृजति ।

रमणीये वनोदेशे<sup>२</sup> पुष्पसंस्तः<sup>३</sup> रसकूटे ॥ ९ ॥

देखो यह जलकौरा केमा बोल रहा है । इसका बोलना मुन मोर भी शोर करता है । इस रमणीय वनप्रदेश की भूमि फूला से ढक गई है ॥ ९ ॥

मातङ्ग<sup>४</sup> यूथानुसृतं पश्चिमहानुनादितम् ।

चित्रकूटमिम परय प्रवृद्धशिखरं<sup>५</sup> गिरिम् ॥ १० ॥

देखो यह चित्रकूट पर्वत का उच्चशिखर देख पड़ता है, जहाँ पर हाथियों के मुँड घूम रहे हैं और पत्तियों के मुँड धोच रहे हैं ॥ १० ॥

समभूमितले रम्ये द्रुमैर्बहुमिरावृते ।

पुण्ये रस्यामहे तात चित्रकूटस्य कानने ॥ ११ ॥

हम लोग इस चित्रकूट के वन में ( कहीं ) समतल भूमि, सुन्दर वृक्षों का झुरमुट तथा माफ़ सुथरा रमणीक स्थल देख रहेगे ॥ ११ ॥

ततस्तौ पादचारेण गच्छन्ती सह सीतया ।

रम्यमासेदतुः शैल चित्रकूट मनोरमम् ॥ १२ ॥

१ नत्पूह — दात्पूह । ( गो० ) २ वनादेशे — वनप्रदेश । ( गो० )

३ पुष्पसंस्तरकूटे — पुष्पम्यास्तरयेननिविष्टे । ( गो० ) ४ मातङ्ग

यूथानुसृत — गजकुलै व्याप्त । ( गो० ) ५ प्रवृद्धशिखरं — उन्नत

शिखर । ( गो० ) ( ) ( )

इस प्रकार नीला को साथ लिए हुए दोनों भाई बातचीत करते पैदल चल कर, मनोरम और रम्य चित्रदृष्ट पर्वत पर पहुँचे ॥ १२ ॥

तं तु पर्वतमासाद्य नानापदिगरायुतम् ।

बहुमूलफलं रम्यं सम्पन्नं सरसोदकम् १ ॥ १३ ॥

उस पर्वत पर अनेक प्रकार के पत्तों रहते थे, बहुत से फल व मूल थे तथा अनेक स्वादिष्ट जल के कुण्ड थे ॥ १३ ॥

मनोज्ञोऽयं गिरिः सौम्य नानाद्रुमलतायुतः ।

बहुमूलफलो रम्यः स्वाजीवः२ प्रतिभाति मे ॥ १४ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा—हे सौम्य ! यह पर्वत कैसा मनोहर है । यह अनेक प्रकार के वृक्ष, लता और बहुत से फलों तथा मूलों से परिपूर्ण होने के कारण कैसा रमणीय देखा पड़ता है । यहाँ बड़ी सरलता से हम लोगों का निर्वाह हो जायगा ॥ १४ ॥

मुनयश्च महात्मानो वसन्त्यस्मिञ्शिलोच्चये३ ।

अयं वासो भवेत्तावदत्र सौम्य रमेमहि ॥ १५ ॥

इस पर्वत पर महात्मा और मुनि लोग भी निवास करते हैं । अतएव यही हमारे रहने योग्य है और हम यही रहेंगे ॥ १५ ॥

इति४ सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः ।

अभिगम्याथमं५ सर्वे वाल्मीकिमभिवाद्यन् ॥ १६ ॥

१ सरसोदक—स्वादूदकम् । ( गी० ) २ स्वाजीवः—शोभना जी विक्र

यस्मिन् । ( गी० ) ३ शिलोच्चये—पर्वते । ( गी० ) ४ इति—इतिनिश्चितम् ।

( गी० ) ५ आभम—वाल्मीकिय । ( गी० )

इस प्रकार निश्चय कर, श्रीगणेश, लक्ष्मण और सीता (तीनों जन) वात्मीके जी के आश्रम में गए और हाथ जोड़ कर, उनसे प्रणाम किया ॥ १६ ॥

तान्महर्षिः प्रमुदितः पूजयामास धर्मसित् ।

आस्पतामिति चोराच स्वागतं तु निवेद्य च ॥ १७ ॥

तब वहाँ मा महर्षि वात्मीके ने इनको देखा और प्रसन्न हो, इनका सत्कार किया और बैठने को आसन दे और यह कह कर कि, पधारिये आगत किया ॥ १७ ॥

ततोऽब्रवीन्महाब्राह्मणं लक्ष्मणग्रजः ।

सन्निवेद्य शयथान्यापमात्मानमृपयेः प्रभुः ॥ १८ ॥

तदनन्तर धरामचन्द्र जी, महर्षि वात्मीके जी अपना, लक्ष्मण का तथा सीता का पारचय दे और वनयासादि का कारण बतला लक्ष्मण से बोले ॥ १८ ॥

लक्ष्मणानय दारुणि दृष्टानि च वराणि च ।

ब्रुह्मपात्रमथं सौम्य वासे मेऽभिरतं मनः ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! अच्छी और मजबूत लकाड़ियाँ एत्र कर कुटी बनाओ । क्योंकि हे सौम्य ! यही दसने ही मेरी इच्छा है ॥ १९ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सौमिर्गिरिविधान् द्रुमान् ।

आजहार ततश्चक्रे पर्यशालामरिन्दमः ॥ २० ॥

यह सुन, लक्ष्मण ने अनेक प्रकार के वृक्षों की छोटी छोटी डालें काट कर लाए और उनसे पर्यशाली बना दी ॥ २० ॥

१ शयथान्याप—शयानमम् । (गो०) २ आमान श्रुपये सन्निवेद्य—  
पुत्रोह शय मद्भ्राता इत्यादि । (गो०)



तां निष्ठितां<sup>१</sup> वद्धकटां<sup>२</sup> दृष्ट्वा रामः सुदर्शनाम् ।

शुश्रूषमाणमेकाग्रमिदं<sup>३</sup> वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

उम अचल और दृष्टा से बंद होने वाली तथा देग्ने ने भी सु-र कुटी को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने सेवाकार में निरत रक्षमाण जी से यह ॥ २१ ॥

ऐशेयं मांसमाहृत्य शालां<sup>४</sup> यक्ष्यामहे वयम् ।

कर्तव्यं वास्तुशान्तं सौमित्रे चिरवासिभिः<sup>५</sup> ॥ २२ ॥

हे नन्दन ! द्विरन वा मास ले आत्रां, जल्दसे हम दोनों पर शालाविहात्री देवता की पूजा करें । क्योंकि यदि बहुत दिनों ( कि सी नवीन बने हुए घर में ) रहना चाहे, तो उसे वास्तु-शान्ति ( गृहप्रवेश कर्म ) करनी चर्हि ॥ २२ ॥

[ ब्रह्माण्डपुराण में वास्तुशान्ति की पलस्तुति के सम्बन्ध में यह एक श्लोक दिआ है :—

“नचव्याधिभयं तस्य न च बन्धुजनक्षयः

जीवेद्वर्षशत स्वर्गकल्पमेव वत्सेन्नरः ॥”

अर्थात् जो नवीन गृह में वास्तुशान्ति करके रहता है, उसको न तो किसी प्रकार की व्याधि का भय होता है और न उसके बन्धुबान्धवों का बशलोप होता है । उस घर का मालिक बहुत दिनों तक इस लोक में जीवित रह कर मरने पर एक कल्प भर स्वर्ग में रहता है । ]

मृगं हत्वाऽऽनय क्षिप्रं लक्ष्मणो ह शुभेक्षण ।

कर्तव्यः शास्त्रदृष्टो हि विधिर्धर्म<sup>६</sup> मनुस्मर<sup>६</sup> ॥ २३ ॥

१ निष्ठिता—निश्चला । ( गो० ) २ वद्धकटा—बद्धबाह्यावरणा वा । ( गो० ) ३ एकाग्रमिदं—एकामलक्षणा । ( रा० ) ४ शाला—शालाविहात्रीः तत्तद्दिग्वासिनी, देवताः । ( गो० ) ५ धर्म—तदनुकूलधर्मशास्त्र । ( गो० ) ६ अनुस्मर—अवधेहि । ( गो० ) ७ पाटान्तरे—‘चिरजीविभिः’ ।

हे लक्ष्मण ! तुम शीघ्र एक पात्ता हिरन मारकर ले आओ ।  
क्योंकि भली भाँति सावधानतापूर्वक इस विषय की घमशास्त्र  
द्वारा निर्गमन विधि को, यथाशीघ्र करना - वित है ॥ २३ ॥

भ्रातुर्नचनमाज्ञाय लक्ष्मणः परीरहा ।

चकार स यथोक्तं च त रामः पुनरग्रगीत् ॥ २४ ॥

महाबलवान् लक्ष्मण जी भाई की आज्ञा क अनुसार एक  
काला मृग मारकर ले आए । फिर श्रीरामचन्द्र जी के कथनानु-  
सारे कार्य कर चुकने पर श्रीरामचन्द्र जी ने पुन उनसे कहा ॥ २४ ॥

ऐशेय १ श्रपयस्वैतच्छालां यक्ष्यामहे वयम् ।

त्वर सौम्य मुहूर्तोऽय ध्रुवश्च २ दिग्मोऽप्ययम् ॥ २५ ॥

अच्छा अब इस मास को राँना, जिससे हम हवन करें । हे  
सौम्य ! शापना करो । क्योंकि यह मुहूर्त भी स्थिर है और  
दिन भी अच्छा है ॥ २५ ॥

स लक्ष्मणः कृष्णमृगं हत्वा मेघ्यं प्रतापवान् ।

अथ विशेपश्च सौमित्रिः सभिद्धे ४ जातवेदसि ५ ॥ २६ ॥

तत्र प्रतापी लक्ष्मण न नारे हुए यज्ञाय जाने मृग को अच्छा  
तरह जलती हुई प्राग मे डाल कर भूना ॥ २६ ॥

तं तु पक्वं समाज्राय निष्टप्तं छिन्नशोणितम् ।

लक्ष्मणः पुरुषव्याघ्रमथ राघवमब्रवीत् ॥ २७ ॥

और जब वह भुन गया और उसका रुधिर जल गया, तब  
लक्ष्मण जी ने पुन्यामह श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ २७ ॥

१ अथैव—यच । ( गो० ) २ ध्रुव—स्थिररश्मयं । ( गो० ) ३  
चिक्षेप—पपाच । ( गो० ) ४ सभिद्ध—सम्यग्दीप्ते । ( गो० ) ५  
जातवेदसि—धग्नी । ( गो० )

अयं कृष्णः समाप्ताङ्गः मृतः कृष्णमृगो यथा ।

देवतां देवसङ्काशं यजस्व कुशलो? ह्यसि ॥ २८ ॥

हे देवतुल्य ! मैं इन सम्पूर्ण अंगों का कृष्ण मृग को राँव कर तैयार कर आया । आप इस बर्भ को करने के आविष्कारी हैं, अतः वा हृदेवता की प्रमदना के लिए यज्ञ भीजिए ॥ २८ ॥

रामः स्नात्वा तु नियतो गुणवाञ्छप्यकोविदः ।

संग्रहेणा० करोत्मवान् मन्त्रान् सत्रावसानिकान्? ॥ २९ ॥

तब आश्रित तेजधारी, गुणवान् एवं जप करने में चतुर श्री-रामचन्द्र जी ने विधिपूर्वक स्नान किए और सत्सेप से धारतुयज्ञ समाप्त करने के लिए, समाप्ति के समस्त मंत्रों को पढ़ा ॥ २९ ॥

इष्ट्वा देवगणान् सर्वांन्विवेशश्च सदनं शुचि ।

बभूव च मनोहादो रामस्यामिततेजसः ॥ ३० ॥

वास्तु देवताओं का पूजन कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उम पाँवत्र घर में प्रवेश किया । इस समय अर्पारमित तेजसम्पन्न श्रीराम जी वड़े प्रमद हुए ॥ ३० ॥

वैश्वदेववलिं कृत्वा रौद्रं वैष्णवमेव च ।

श्वास्तुसंशमनीयानि मङ्गलानि प्रवर्तयन् ॥ ३१ ॥

१ कुशलोक्ति--समर्थोऽसि । ( गो० ) २ संग्रहेण--सत्सेपेण । ३ सत्रावसानिकान् सत्र वास्तुयागः यैर्गैत्रैर्यज्ञायतेपरिसमाप्यतेतेसत्रावसानाः सत्रावसाना एव सत्रावसानिकाः । ( गो० ) ४ देवगणान्--वास्तुदेवताः । ( गो० ) ५ वास्तुसंशमनीयानि--शुद्धारिष्टरामकानि । ( गो० ) ६ मङ्गलानि--मंगलकराणि-पुण्याहवाचन शनिजपादीनि । ( गो० )  
 \* पाठान्तरे--"सर्वांन्विवेशावस्यशुचि । "

अनन्तर उन्होंने वैश्रदेव के लिए रुद्र और विष्णु के निमित्त बलिदान किया। फिर उन्होंने गृह के अरिष्टादि दूर करने के लिए, पृण्याहवाचन, शान्ति, मंत्र जापादि किए ॥ ३१ ॥

जपं च न्यायतः कृत्वा स्नात्वा नद्यां यथाविधि ।

पापसंशमनं रामश्चकार बलिमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

फिर विहित सब्यक मंत्र जप कर तथा यथाविधि फिर नदी में स्नान कर, पाप भी शान्ति के लिए उत्तम बलिदान किया ॥ ३२ ॥

वेदिस्थलविधानानि चैत्यान्यायं तनानि च ।

आश्रमस्यानुरूपाणि स्थापयामास राधवः ॥ ३३ ॥

फिर आठों दिशाओं में बलिहरणार्थ, वेदियों और गन्धर्वों के वासस्थानों को तथा विष्णु आदि देवताओं के वासस्थानों को आश्रम के अनुरूप स्थापना किया ॥ ३३ ॥

वन्यैर्माल्यैः फलैर्मूलैः पक्वैर्मांसैर्यथाविधि ।

अद्भिर्जपैश्च वेदोक्तैर्दर्मैश्च सममित्कुशैः ॥ ३४ ॥

तौ तर्पयित्वा भूतानि राधवो सह सीतया ।

तदा निमिशतुः शालां सुशुभां शुभलक्षणी ॥ ३५ ॥

फिर यथाविधि फूलमालाओं, फूलों, मूत्रों और रवे हुए माँस से तथा कुश की पत्रिपत्रिकाँ धारण कर, कुश मिले हुए जल से, वैदिक मंत्रों द्वारा श्रीरामचन्द्र जी ने भूतों को तृप्त कर, सीता सहित उस मनोहर और शुभलक्षण वाली (अर्थात् हया

१ चैत्यानि—गर्वाश्रवास्थानानि । ( गो० ) २ आयतनानि—  
विष्वावावात स्थलानि । ( गो० )

रोशनी जाने आने के लिए पर्याप्त साधनों से युक्त) शाला में प्रवेश करने की इच्छा की ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

तां वृक्षपर्यच्छदनां मनोज्ञां

यथाप्रदेशं सुकृतां निगताम् ।

घासाय सर्वे त्रिविशुः समेताः

सभां यथा देवगणाः सुधामाम् ॥ ३६ ॥

जिस प्रकार देवतागण सुधर्मा नामी सभा में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार ( श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण और सीता ) तीनों जनों ने एक साथ, वृक्षों के पत्तों से छाई हुई, उचित स्थान में प्रतिष्ठित मनोहर एवं वायुरहित पर्यशांला में रहने के लिए, उसमें प्रवेश किया ॥ ३६ ॥

अनेकनानामृगपक्षिसङ्कुले

त्रिचित्रपत्रस्तवकैर्द्रुमैर्युते ।

वनोत्तमे व्यालश्च मृगानुनादिते

तदा विजहूः सुसुरसं जितेन्द्रियाः ॥ ३७ ॥

अनेक पशु पक्षियों से पूर्ण, तरह तरह के पत्तों युक्त से शोभित वृक्षों से युक्त, उस उत्तम वन में, जिसमें हाथी और अन्य जङ्गली जानवर दौड़ करते थे, जितेन्द्रिय श्रीरामचन्द्र जी सुरसपूर्वक विहार करने लगे ॥ ३७ ॥

सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटं

नदीं च तां माल्यवतीं सुतीर्थाम् ३ ।

३ माल्या—सर्पाः गङ्गा वा । (गो०) ३ ता—प्रसिद्धा । (गो०)

० सुतीर्थाम्—शोभनबलावतरणप्रदेशा । (गो०)

ननन्द रामोऽमृगपक्षिजुष्टां

जहौ च दुःख पुरविप्रवासात् ॥३८॥

इति पट्टपञ्चाशः सर्गः ।

इस प्रकार सुन्दर और रमणीय तथा मृग पक्षियों से युक्त चित्रकूट पर्वत पर, स्वच्छ मीठे जल वाली सुन्दर घाटों से युक्त एवं प्रसिद्ध मातृवती नदी को पाकर, श्रीगाम चन्द्र जी ऐसे प्रसन्न हुए कि अयोध्या त्यागने का दुःख भूल गए ॥ ३८ ॥

[ नोट—इस सर्ग तक महर्षि ने श्रीरामचन्द्र जी की अयोध्या से चित्रकूट तक की यात्रा का वर्णन किया । अब आगे फिर श्रीरामचन्द्रजी की अनुपस्थिति में अयोध्या में हुई घटनाओं का वर्णन आरम्भ होता है । स्मरण रखना चाहिए कि, श्रीरामचन्द्र जी अयोध्या से चित्रकूट पाँच दिनों में आए थे । रास्ते में तीन दिन तो केवल चल ही रह गए थे, चौथे दिन मॉस खाया था और पाँचरे दिन चित्रकूट में नियमित रूप से भोजन करना आरम्भ किया था । श्रीरामचन्द्र जी क्षत्रियकुलोत्पन्न थे । अतः उनका मांस खाना पद पाठक चौकें नहीं । ]

अयोध्याकाण्ड का छप्पनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०—

सप्तपञ्चाशः सर्गः

कथयित्वा सुदुःखार्तः सुमन्त्रेण चिरं सह ।

रामे दक्षिणकूलस्थे जगाम स्वगृहं गुहः ॥ १ ॥

गुह अत्यन्त दुःखी हो, सुमन्त्र के साथ बहुत देर तक बातचीत करता रहा और जब श्रीगामचन्द्र जी गङ्गा के दक्षिणतट पर पहुँच गए तब गुह अपने घर को चला गया ॥ १ ॥

\* पाठान्तरे—“दृष्टो ।”

वा० रा०—३८

भरद्वाजाभिगमनं प्रयागे च सहासनम् ।

१ आगिरेर्गमन तेषां तत्रस्थं अभिलक्षितम् ॥ २ ॥

सुमत्र, शृङ्गवेरपुर के चरों द्वारा श्रीरामचन्द्र जी का प्रयाग में भरद्वाज जी के आश्रम में जाना, उनसे यहाँ ठहरना तथा वहाँ से चित्रकूट पर्वत पर जाने आदि का पत्र लेते रहे ॥३॥

अनुज्ञातः सुमन्त्रोऽथ योजयित्वा ह्योत्तमान् ।

अयोध्यामेव नगरं प्रययौ गाढदुर्मनाः ॥ ३ ॥

तदनन्तर गुह से विदा हो, सुमत्र रथ में उत्तम घोड़े जोत अत्यन्त उदास हो अयोध्या की ओर चल दिए ॥ ३ ॥

स वनानि सुगन्धीनि सरितश्च सरांसि च ।

१श्यन्नतिययौ शीघ्रं ग्रामाणि नगराणि च ॥ ४ ॥

सुमत्र जी सुगन्धित पुष्पों में पूर्ण वनों, नदियों, सरोवरों, ग्रामों और नगरों को देखते हुए रथी तेजी से चले जाते थे ॥४॥

ततः सायाह्नममये तृतीयेऽहनि सारथिः ।

अयोध्यां समनुप्राप्य निरानन्दां ददर्श ह ॥ ५ ॥

शृङ्गवेरपुर से रवाना होने के तीसरे दिन सायंकाल को सुमत्र अयोध्या में पहुँचे और दृष्टा कि अयोध्या में उदासीनता छाई हुई है ॥ ५ ॥

स शून्यामिव निःशब्दां दृष्ट्वा परमदुर्मनाः ।

सुमन्त्रश्चिन्तयामास शोकवेगसमाहतः ॥ ६ ॥

जनशून्य जमी अयोध्या नगरी में सन्नाटा छाया हुआ देख, सुमत्र बहुत उदास हुए और शोककुल हो सोचने लगे ॥ ६ ॥

१ आ-गिरे :—गिरिपर्यन्तम् ।

कच्चिन्न सगजा साशवा सजना सजनाधिपा ।  
रामसन्तापदुःखेन दग्धा शोकाग्निा पुगी ॥ ७ ॥

कि कहीं यह नगरी हाथियों, घोड़ों, नगरनिवासियों और महाराज सहित ; श्रीरामचन्द्र के वियोगजन्य मन्ताप एवं दुःख से उत्पन्न, शोकरूपो आग से भभ्रम तो नहीं हो गई ॥ ७ ॥

इति चिन्तापरः सुतो वाजिभिः शीघ्रयायिभिः ।  
नगरद्वारमासाद्य त्वरितः प्रविवेश ह ॥ ८ ॥

इस प्रकार सोचते हुए सुमंत्र ने शीघ्रगामी घोड़ों के रथ पर मथार नगरद्वार पर पहुँच, तुरन्त नगर में प्रवेश किया ॥८॥

सुमन्त्रमभियान्तं तं शतशोऽथ सदस्रशः ।  
क्य राम इति पृच्छन्तः सुतमभ्यद्रवन्नरा ॥ ९ ॥

सुमंत्र को नगर में आया हुआ देख, सैकड़ों हजारों पुरु-  
वासी जनों ने दौड़ कर, उन्हें घेर लिया और यह पूछने लगे  
कि श्रीरामचन्द्र जी कहाँ हैं ? ॥ ९ ॥

तेषां शशंस गङ्गायामहमापृच्छथ राघवम् ।  
अनुज्ञातो निवृत्तोऽस्मि धार्मिकेण महात्मना ॥१०॥

उन सब को सुमंत्र ने यही उत्तर दिया कि, गङ्गा जी के तट  
पर पहुँच, धार्मिक महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने जब मुझे लौटने  
की आज्ञा दी, तब मैं लौट कर यहाँ आया हूँ ॥ १० ॥

ते तीर्था इति विज्ञाय चाप्पपूर्णपुरा अनाः ।  
अहो धिगिति निःश्वस्य हा रामेति च चुक्रुशुः ॥११॥



तत्र वे पुरवामी श्रीरामचन्द्र जी को गद्दा के पार उवरा जान, रोने लगे और बिस्तराते हुए और दीर्घ श्वास ले हा राम-द्वाराम ॥ कहकर चिल्लाने लगे ॥ ११ ॥

शुश्राव च वचस्नेपां घृन्दंघृन्दं च तिष्ठताम् ।

हताः स्म खलु ये नेह पश्याम इति राघवम् ॥ १२ ॥

उन समय उस जनसमुदाय से बहो मुन पढता था कि, हा ! हम लोग मारे गये जो हम राम को नहीं देख पाते ॥ १२ ॥

दानयज्ञविवाहेषु समाजेषु महत्सु च ।

न द्रक्ष्यामः पुनर्जातु<sup>१</sup> धार्मिकं राममन्तरा<sup>२</sup> ॥ १३ ॥

हाय ! दान, यज्ञ, विवाह और बडे-बडे नमाजों में लोगों के बीच, माला के सुमेठ की तरह बैठे हुए श्रीराम को हम अब कभी न देख सकेंगे ॥ १३ ॥

किं समर्थं जनस्यास्य किं प्रियं किं सुखावहम् ।

इति रामेण नगरं पितृवत्परिपालितम् ॥ १४ ॥

हा ! वे श्रीरामचन्द्र जी को अमुक्तजन के लिए क्या ठोक है, क्या अच्छा है और क्या सुखदायी है, इन सब बातों का विचार कर, पिता की तरह नगरवासियों का पालन करते थे ॥ १४ ॥

वातायनगतानां च स्त्रीणामन्वन्तरापणम् ।

रामशोकाभितप्तानां शुश्राव परिदेवनम् ॥ १५ ॥

सुमंत्र, सङ्क के दोनों तरफ मरोग्यों में बैठी हुई श्रीराम के वियोग से तन्तपन पुरनारियों के विलाप सुनते हुए जा रहे थे ॥ १५ ॥

१ पुन.जातु—कदाचिदपि । (प०) २ अन्तरा—मध्येनायकमणि-वद्वर्तमान (गो०) ।

स राजमार्गमध्येन सुमन्त्रः पिहिताननः ।

यत्र राजा दशरथस्तदेवोपयया गृहम् ॥ १६ ॥

राजमार्ग में इस प्रकार का विलाप सुन, सुमन्त्र ने अपना मुख ढक लिया और बड़ी शांति से वे महाराज के देवोपम गृह का शोर गए ॥ १६ ॥

सौप्तरीयं रथाच्छीघ्रं राजवेश्म प्रविश्य च ।

कक्ष्याः सप्ताभिचक्राम महाजनसमाकुलाः ॥ १७ ॥

सुमन्त्र ने रथ से उतर बड़ी शीघ्रता से लोग की भीड़ से परिपूर्ण सात फाटकों को पार कर राजभवन में प्रवेश किया ॥ १७ ॥

हर्म्यैरिमानैः प्रासादेरवेक्ष्याथ समागतम् ।

हाहाकारकृता नायां रामादर्शनकशिताः ॥ १८ ॥

छज्जों, सतराने मकानों की अटारियों और भवनों में बैठी तथा श्रीराम के वियोग से कर्णित स्त्रियों (अकेले) सुमन्त्र को आया देख, हाहाकार करने लगीं ॥ १८ ॥

आपतैरिमलैर्नैत्रैश्चैवैरश्रुवेगपरिप्लुतैः ।

अन्योन्यमभिवीचन्तैःप्यक्तमार्ततराः स्त्रियः ॥ १९ ॥

वे बड़े-बड़े विमल नेत्रों से आँसू टलनाती हुई परस्पर देखती थीं और अत्यन्त दुःखी हो ऐसे विलाप भरे वचन कहती थीं, जो अस्पष्ट थे ॥ १९ ॥

ततो दशरथस्त्रीणां प्रासादेभ्यस्ततस्ततः ।

रामशोकाभितप्तानां मन्दं शुश्राव जल्पितम् ॥ २० ॥

राजभवन के भीतर भी सर्वत्र मशाराज दशरथ की रानियों का जो श्रीरामचन्द्र व शोक से मन्तव्य थी, धीमे स्वर में विलाप सुन पड़ता था ॥ २० ॥

सह रामेण निर्यातो विना राममिहागतः ।

सूतः किं नाम कौमल्यां शोचन्तीं प्रतिवक्ष्यति ॥२१॥

वे कहती थी कि, यह सुमत्र श्रीरामचन्द्र को ले कर गया था, किन्तु उनको छोड़ कर अकला लौट कर आया है। अब देखें रोता हुई कौसल्या को जिस प्रकार यह धीरज बँधाता है ॥२१॥

यथा च मन्ये दुर्जोविमेवं न सुकरं ध्रुवम् ।

आच्छिद्य\* पुत्रे निर्याते कौसल्या यत्र जीवति ॥२२॥

हम तो यही चहेंगे कि, जीव को दुःख भोगने के लिए जीना वैसे पसन्द है वैसे मुरख के लिए नहीं। देखो इसीसे तो अपने पुत्र (श्रीरामचन्द्र) क राज्य छोड़ कर वन चले जाने पर भा, कौसल्या अब तक जा रही है ॥ २२ ॥

सत्यरूपं तु तद्वाक्यं राज्ञः स्त्रीणां निशामयन् ।

प्रदीप्तमिव शोकेन विवेश सहसा गृहम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार उन रानियों के ये सत्यवचन सुनते हुए सुमत्र, शोक से दग्ध हों, अचानक महाराज के घर में जा पहुँचे ॥२३॥

स प्रविश्याष्टमी कक्ष्यां राजानं दीनमातुस्म् ।

पुत्रशोकपरिधून‡ मपश्यत्पाण्डुरे गृहे ॥ २४ ॥

\* आच्छिद्य—राज्यत्याग। ( शि० ) २ परिधून—हीण। (गो०)

‡ पाठान्तरे—“प्रदीप्तइव ।”

आठवीं ड्योढ़ी लॉथ उसने महाराज क सफेदी से पुते कमे में जा कर देखा कि, महाराज दीन, आतुर और पुत्रशाप से क्षीण हो रहे हैं ॥ २४ ॥

अभिगम्य तमासीनं नरेन्द्रमभिप्रायं च ।

सुमन्त्रो रामचन यथोक्तं प्रत्यवेदयत् ॥ २५ ॥

सुमत्र ने जा कर बैठ हुए महाराज का प्रणाम किया और जो बातें श्रीरामचन्द्र जी ने महाराज से कहने के लिए उमसे कही थीं—वे बात उ्यों की ल्यों उसने महाराज से कही ॥ २५ ॥

स तूष्णीमेव तच्छ्रुत्वा राजा विश्रान्तचेतनः ।

मूर्छितो न्यपतद्भ्रूमौ रामशीलाभिपीडितः ॥ २६ ॥

उन बातों को चुपचाप सुन, महाराज की बुद्ध ठीक ठिकाने न रही । वे श्रीराम के वियोगजनित शोक से अत्यन्त विकल होने के कारण, अचेत हो पृथ्वी पर गिर पड़े ॥ २६ ॥

ततोऽन्तःपुरमारिद्धं<sup>१</sup> मूर्छिते पृथिवीपतौ ।

उद्धृत्य बाहू बुक्रोश नृपतौ पतिते वितौ ॥ २७ ॥

उस समय महाराज को मूर्छित हो, पृथ्वी पर पड़ा देग, रनयाम की सत्र रानियाँ अत्यन्त दुःखा हुई और बाहें उठा उठा कर रोने लगे ॥ २७ ॥

सुमित्रया तु सहिता कौसल्या पतितं पतिम् ।

उत्थापयामास तदा वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २८ ॥

१ आविद्धं—शोकैनामिद्धत । ( गो० )

तत्र मुमिता और कौमत्या ने जमीन गग पडे हुए महाराज को उठाया और कहने लगी ॥ २२ ॥

इमं तस्य महाभाग दूत दुष्कारिणः ।

वनसामादनुप्राप्तं कस्मान्न प्रतिभापसे ॥ २६ ॥

हे महाभाग । महाजठिः गध करने वाले श्रीरामचन्द्र के, ये दूत वन कर वन से आए हुए हैं । इनसे तुम दावचीन क्यों नहीं करते ॥ २६ ॥

अद्येममनयं कृत्वा व्यपगपसि राघव ।

उत्तिष्ठ मुकृतं तेऽस्तु शोके न स्यात्सहायता ॥३०॥

हे राघव । श्रीरामचन्द्र जी को देशनिकासा दे कर, अब तुम क्यों लज्जित हो रहे हो । उठी उठी । अब इस शोक के लिए कोई चारा नहीं—अतः अब तुम शोक मत करो । अर्थात् अब इस शोक को निवृत्त करने के लिए कोई उपाय शेष नहीं रहा । ऐसी दशा में तुम्हारे लिए शय शी, करना शोभा नहीं देता ॥ ३० ॥

देव यस्या भयाद्रामं नानुपृच्छसि सारथिम् ।

नेह तिष्ठति कैरेयी विस्रब्धः प्रतिभाप्यताम् ॥३१॥

हे देव । जिसके भय से तुम मुझ से बातचीत नहीं करते वह कैरेयी यहा नहीं है । तुम निर्गो हो बातचीत करो ॥ ३१ ॥

सा तथोक्त्या महागजं कौसल्या शोकलालसा ।

धरण्यां निपपाताशु वाप्यनिप्लुतभाषिणी ॥३२॥

१ इममनय—पुत्रविवासन । ( गी० ) २ मुकृत—शोभन । ( गी० )

३ विस्रब्ध—नि शब्दम् । ( गी० )

महाराज से ये वचन कहते-महते वीसल्या शोक से कातर हो गईं उनका कण्ठ गद्गद हो गया । वे भूमि पर गिर पड़ीं ॥३२॥

एवं त्रिलपतीं दृष्ट्वा कौसल्यां पतितां भुवि ।

पतिं चावक्ष्य ताः सर्वाः सुस्वर रुरुदुः स्त्रियः ॥३३॥

इस प्रकार विलास करती हुई और भूमि पर मूर्च्छितावस्था में को प्राप्त वीसल्या को तथा महाराज को दग्ध, बहों जो अन्य रानिया तथा अन्त पुर का आखवा थी—व सब उच्चस्वर से रुदन करने लगीं ॥ ३३ ॥

तवस्तमन्तःपुरनादमुत्थितं

समाक्ष्य<sup>१</sup> वृद्धास्वरुषारच मानसाः ।

स्त्रियश्च सर्वा रुरुदुः समन्ततः

पुर तदासीऽऽत्पुनरेव<sup>२</sup> संकुलम् ॥३४॥

इति सप्तपञ्चाश सर्ग ॥

रनवास में रोने का शब्द सुन, अयोध्यापुरी में उस समय जितने बृद्ध और जवान पुरुष थे तथा वहाँ जितनी स्त्रियाँ थी, वे सब वी सब चारा ओर रान लगीं और समूची अयोध्यापुरी में फिर एक चार बैसा ही दशांगार हुआ, जैसा श्रीरामचन्द्र के वन जाते समय हुआ था ॥ ३४ ॥

अयोध्याशण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

१ समाक्ष्य—भ्रूत्या । ( १०० ) २ पुनरेवसङ्कुलम् । रामगमनकाल-इवत्याकुलमासीत् । ( १०० )

## अष्टपञ्चाशः सर्गः

—: ० :—

प्रत्याश्वस्तो<sup>१</sup> यदा राजा मोहात्प्रत्यागतः<sup>२</sup> पुनः ।

अथाजुहाव तं मृतं रामवृत्तान्तकारणात् ॥ १ ॥

कुञ्ज दर बाद जब महाराज उपचारद्वारा मचेत हुए, तब श्रीरामचन्द्र का वृत्तान्त सुनने के लिए सूत को पुनः पुनः और उनकी ओर अपना मुग्न फेरा ॥ १ ॥

अथ सूतो महाराजं कृताञ्जलिरुपस्थितः ।

राममेवानुशोचन्तं दुःखशोकसमन्वितम् ॥ २ ॥

सुनकर, महाराज के सामने हाव जोड़े गये थे । उस समय महाराज दशरथ, श्रीरामचन्द्र के वियोग से चिन्तित और शोक से विकल थे ॥ २ ॥

वृद्धं परमसन्तप्तं नवग्रहमिव द्विपम् ।

विनिःश्वसन्तं ध्यायन्तम्<sup>४</sup> अस्वस्थमिव कुञ्जरम् ॥३॥

वृद्धे महाराज दशरथ, हाल के पकड़े हुए हाथी की तरह परम सन्तप्त थे और उसी तरह उसांसे ले रहे थे, जिस प्रकार एक व्याधिग्रस्त हाथी उसांसे लेता है ॥ ३ ॥

राजा तु रजसा स्रतं<sup>३</sup> घ्वस्ताङ्गं समुपस्थितम् ।

अश्रुपूर्णमुखं दीनमुवाच परमार्तवत् ॥ ४ ॥

१ प्रत्याश्वस्तः—उन्चारैरुद्धोषितः । ( गो० ) २ प्रत्यागतः—  
सतस्याभिमुख गतः । ( गो० ) ३ नवग्रह—रुद्योग्यर्हत । ( गो० )  
४ अस्वस्थ—व्याधिग्रस्त । ( गो० ) \* पाठास्तरे—“धृत ।”

मुमत्र के सारे शरीर में धूल लगी थी, आँसुओं से आँसू बह रहे थे, देखने से वे अत्यन्त विकल जान पड़ते थे। ऐसी दशा को प्राप्त मुमत्र से, महाराज दशरथ अत्यन्त कातर मनुष्य की तरह बोले ॥ ४ ॥

कनु वत्स्यति धर्मात्मा वृक्षमूलमुपाश्रितः ।

साऽऽयन्तसुखितः स्रुत किमिशिष्यति राघवः ॥५॥

हे मुमत्र ! वह धर्मात्मा वहाँ—पृष्ठ के नीचे वाम करता होगा और जो हर प्रकार से मुग्धपूर्ण रहने योग्य है—वह राम वन में क्या खाता होगा ?

दुःसस्यानुचितो दुःखं सुमन्त्र शयनोचितः ।

भूमिपालात्मजो भूमौ शेते कथमनादवत् ॥ ६ ॥

हे मुमत्र ! हमारा राम दुःख भोगने योग्य नहीं—वह तो सेज पर सोने योग्य है। भला एक राजकुमार एक अनाथ की तरह कैसे भूमि पर सो सकता है ? ॥ ६ ॥

यं यान्तमनुयान्ति स्म पदातिरथबुद्धराः ।

स वत्स्यति कथं रामो विजनं वनमाश्रितः ॥ ७ ॥

जिस राजकुमार की मवारी के पीछे अनेक पैदल मिपाही, रथ और घोड़ चला करते थे, वह राम निर्जन वन में कैसे रह सकेगा ? ॥ ७ ॥

व्यालैर्मृगैराचरितं कृष्यसर्पनिपेणितम् ।

कथं कुमारी वैदह्या सार्धं वनमुपस्थितौ ॥ ८ ॥



जिम वन में अनेक ऋजगर और दुष्ट वनजन्तु विचर  
करते हैं और जिनके काले हुए रक्त बरते हैं, उन वन में सीता  
सहित दोनों राजकुमार कैम करते होंगे । ॥ ८ ॥

सुकुमार्या तपस्विन्या सुमन्त्रा सह सीतया ।

राजपुत्रो कथं पादैरवस्त्य रथाद्गतौ ॥ ९ ॥

हे सुमन्त्र ! उन सुकुमारी और दुःखिचारी सीता को साथ  
ले—ये दोनों राजकुमार किस तरह रथ से उतर कर पैदल चले  
होंगे । ॥ ९ ॥

सिद्धार्थः खलु सूत त्वं येन दृष्टौ ममात्मजौ ।

वनान्तं प्रविशन्तौ तत्रशिवनामिव मन्दरम् ॥ १० ॥

हे सुमन्त्र ! तू बड़ा भाग्यवान् है, जिनके मेरे दोनों राज-  
कुमारों को वन में उसी प्रकार जाते देखा, जिस प्रकार अश्विनी-  
कुमार मन्दराचल पर जाते हैं ॥ १० ॥

किमुवाच बचो रामः किमुवाच च लक्ष्मणः ।

सुमन्त्र वनमासाद्य किमुवाच च मैथिली ॥ ११ ॥

हे सुमन्त्र ! वन में पहुँच, राम ने क्या कहा, लक्ष्मण ने क्या  
कहा और सीता ने क्या कहा ? ॥ ११ ॥

आसितं शयितं भुक्तं सूतं रामस्य कीर्तय ।

जीविष्याम्यहमेतेन ययातिरिव साधुषु ॥ १२ ॥

हे सूत ! तुम राम के उपवेशन, शयन तथा भोजन का  
वृत्तान्त कहो, जिसके सुनने से मैं कुछ देर और उसी प्रकार  
जीवित रह सकूँ, जिस प्रकार साधु के बचनों को सुन, राजा  
ययाति जीवित रहे थे ॥ १२ ॥

टिप्पणी— [लिप्ता है, राजा ययाति जब स्वर्ग में पहुँचे और अपने मुकुटों का वर्णन करने लगे, तब इन्द्र ने उनसे क्या कि, त्रिहा पर अग्निदेव का वाम है। तुमने अपने मुकुटा का अपने आप वर्णन का, अपने मुकुटा को दाया कर डला, अतः अब तुम स्वर्ग में नहीं रह सकते। मृत्युलोक को चले जाओ। तब ययाति ने यह प्रार्थना का कि, यदि आप मुझे मृत्यु लोक में भेजने हैं, तो वह ऐसी जगह भेजिए जहाँ साधुओं का साथ मिले। ययाति क यह प्रार्थना स्वकृत हुई और इसका फल यह हुआ कि, ययाति को स्वर्ग से गिरने का जो दुःख हुआ था, वह शिव मागम से दूर हो गया था। ]

इति सूतो नरेन्द्रेण चोदितः सञ्जमानया १ ।

उनाच याचा राजानं मवाप्प २ परिरब्धया ॥ १३ ॥

जब महाराज ने इस प्रकार आज्ञा दी, तब सुमत्र गद्गद् कण्ठ ही, लडग्यङ्गानों वाणी से कहने लगे ॥ १३ ॥

अत्रवीन् मां महाराज धर्मभैसानुपालयन् ।

थञ्जलिं राघवः कृत्वा शिरसाभिप्रणम्य च ॥ १४ ॥

सूत मद्रचना ३ तस्य ततस्य विदितात्मनः ४ ।

शिरसा वन्दनीयस्य वन्द्यौ ५ पादौऽपुनः पुनः ॥ १५ ॥

हे महाराज ! धर्म के पालन करने वाले धीरामचन्द्र ने हाथ जोड़ और मन्त्र भुजा कर यह कहा कि, मेरी ओर से नसार मे धर्मांगमा फट कर प्रसिद्ध एवं वन्दनीय महाराज पिता के चरणों को दाया दाया प्रणाम कर ॥ १४ ॥

१ सञ्जमानया—स्वचरणा । (गो०) २ मवाप्पपरिरब्धया—स्पर्श-गतवाप्य रुद्धतरपः । (ग०) ३ मद्रचनान्—ममय तेनेधित्वेन । (ग०) ४ विदितात्मनः ॥ कथं विदित्वेन विदितस्य । (ग०) ५ वन्द्यौ—वन्दनीया । (ग०)

\* टा नरे—'महात्मनः ।'

सर्वमन्तःपुरं वाच्यं सूत मद्रचनात्त्वया ।

आरोग्यमविशेषेण यथाहं चाभिवादनम् ॥ १६ ॥

अन्तःपुरवासी ममस्त स्त्रियो और पुरुषों को भी मेरी ओर से मेरा कुशल समाचार कहना और यथायोग्य प्रणुनादि कहना ॥ १६ ॥

माता च मम कीमल्या कुशलं चाभिवादनम् ।

अप्रमादं च वक्तव्या ब्रूयाश्चैनमि<sup>१</sup> वचः ॥ १७ ॥

मेरी माता कीमल्या से भी मेरा कुशल समाचार कह कर, मेरी ओर से प्रणाम कहना और वह भी कह देना कि, अपने वक्तव्य के पालन में प्रमाद न करें अर्थात् तत्पर रहें ॥ १७ ॥

धर्मनित्या यथाकालमग्न्यागारपरा<sup>१</sup> भव ।

देवि देवस्य पादौ च देववत्परिपालय<sup>२</sup> ॥ १८ ॥

और यथासमय नित्य धर्मानुष्ठानादि करती रहें और ब्रह्म-शाला की चौकसी रखें । फिर यह कहा है कि, हे देवि ! महाराज को देवतावत् मान उनकी चरणसेवा करो ॥ १८ ॥

अभिमानं च मानं च त्यक्त्वा वर्तस्य मातृपु ।

अनु राजानमार्थां च कैकेयीमम्ब कारय<sup>३</sup> ॥ १९ ॥

और कुलाभिमान एवं बढप्पन का विचार त्याग कर, मेरी अन्य माताओं के साथ व्यवहार करना । महाराज की विशेष

१ अग्न्यागारपरा—भागशाला-क्षिप्राम्ब । (शि०) । २ परि-पालय—निषेवस्व । (शि०) ३ कारय—राजान कैकेयीतुल्यअनुवर्तस्व ।

कृपापात्र माना कैरेयी है । अत उनके प्रति भी वैसा ही व्यवहार करना जैसा महाराज के साथ ॥ १६ ॥

कुमारे भरते वृत्तिर्नर्तितव्या च राजवत् ।

अर्थज्येष्ठा हि राजानो राजधर्ममनुस्मर ॥ २० ॥

और कुमार भरत से राजा जैसा नर्तान करना—यद्यपि भरत वय मे नहीं, तथापि धन से ज्येष्ठ होने के कारण, राजधर्मानुसार उनके प्रति राजा जैसा व्यवहार करना ॥ २० ॥

भरतः कुशल चाच्यो चाच्यो मद्बचनेन च ।

सर्वास्वेव यथान्याय वृत्तिं वर्तस्व मातृपु ॥ २१ ॥

( हे महाराज ! श्रीरामचन्द्र जा न भरत जो फ निण यह कहत है कि ) भरत जी से मेरा कुशलवृत्त कहना और यह बात कहना कि, वे सब मानाश्रो के साथ न्यायपूर्वक व्यवहार करें ॥२१॥

वक्तव्यश्च महानाहुरिच्छाकुटुलनन्दनः ।

पितरं यौराज्यस्यो राज्यस्थमनुपालय ॥ २२ ॥

इच्छाकुटुलनन्दन भरत से यह भी कहना कि, युवराज हो कर वे पिता की आज्ञा अनुसार चलें ॥ २२ ॥

अतिद्वान्तमया राजा मा स्मैव च्यवरोरुधः १ ।

कुमारराज्ये जीव त्व तस्यैमात्राप्रवर्तनात् ॥ २३ ॥

महाराज अत बहुत बूढ़ हैं, थापय जानो राज्यभ्रष्ट न करना अर्थान् राजगसन का अभिजाप ना करना और युवराज पद पा कर ही सन्तोष कर, महाराज जो कहें, मनी करना ॥२३॥

१ च्यवरोरुध—च्यवराज्य राजशात् अशयेतर्थ । ( २० )

अत्रवीचापि मां भूयो भृशमश्रूणि वर्तयन् ।

मातेव मम माता ते द्रष्टव्या पुत्रगर्धिनी ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त दुःखित्वा कर मुझसे यह भी कहा है कि, भरत जीसे यह बात कह देना कि, मेरी पुत्ररत्नला माना को अपनी माता की तरह नमस्कें ॥ २४ ॥

इत्येवं मां महाराज ब्रुवन्नेव महायशाः ।

रामो राजीवताम्राक्षो भृशमश्रूण्यवर्तयत् ॥ २५ ॥

महाबाहु, महायशस्वी, पद्मपलाशलोचन श्रीरामचन्द्र ने मुझसे ये मन्देशे कहे और बहुत रोए ॥ २५ ॥

सुखमणस्तु सुसंक्रद्धो निःश्वसन्वाक्यमब्रवीत् ।

केनायमपराधेन राजपुत्रो विवासितः ॥ २६ ॥

तब लमहण जी ने अत्यन्त दुःखित हो और ऊँची मांस ले यह कहा । इन राजकुमार ने बौनसा ऐसा अपराध किया था जिससे इन्हें देशनिवाला किया गया है ॥ २६ ॥

राज्ञा तु खलु कैकेय्या लघु त्वाश्रित्य शासनम् ।

कृतं कार्यमकार्यं वा वयं येनाभिपीडिताः ॥ २७ ॥

महाराज ने कैकेयी की तुच्छ घात मान और प्रतिज्ञा कर कार्य अकार्य का कुछ भी विचार न किया । ( इसका फल यह हुआ कि ) दुःख हम लोगों को भोगना पड़ता है ॥ २७ ॥

यदि प्रत्राजितो रामो लोभकारणकारितम् ।

वरदाननिमित्तं वा सर्वथा दुष्कृतं कृतम् ॥ २८ ॥

यदि श्रीगणेशचन्द्र जी, कैकेयी के ( अनुचित ) लालच प्रश  
अथवा वरदान पूरा करने के लिए वन भेजे गए हैं, तो यह कार्य  
सर्वथा युग है ॥ २८ ॥

इदं तावद्यथाकाममीश्वरस्य कृते कृतम् ।

रामस्य तु परित्यागे न हेतुमुपलक्ष्ये ॥ २९ ॥

यदि ईश्वर के करने से उन्होंने ऐसा किया है, तो भी श्रीराम-  
चन्द्र के निर्वासन में ईश्वर की कृति का कोई हेतु या कारण देख  
नहीं पड़ता ॥ २९ ॥

अममीक्ष्य समारब्धं विरुद्धं बुद्धिलाषवात् ।

जनयिष्यति संक्रोशं' राघवस्य त्रिवासनम् ॥ ३० ॥

महाराज ने इसका परिणाम न सोचा, जब बुद्धि की कोताई  
ही से यह काम किया, अतः श्रीरामचन्द्र जी का यह वनवास  
महाराज से दुःख देगा ॥ ३० ॥

अहं तावन् महाराजे पितृत्वं नोपलक्ष्ये ।

आता भर्ता च दन्धुरच पिता च मम राघवः ॥ ३१ ॥

मुझे तो महाराज में पितृव्य का पालन कुछ भी नहीं  
देख पड़ता । अतः अथ तो मेरे भाई, स्वामी, दन्धु और पिता  
सब कुछ श्रीरामचन्द्र ही हैं ॥ ३१ ॥

सर्वलोकप्रियं त्यक्त्वा सर्वलोकहिते रतम् ।

सर्वलोकोऽनुगम्येत कथं त्वाऽऽनेन कर्मणा ॥ ३२ ॥

१ सकोश—दु.ख । गरीनुतापदतिमाः । (गो०)

सब लोगों के प्रिय और सब लोगों की भलाई करने में निरत श्रीरामचन्द्र जी को जब तुमने वनवाम दिया—तब (तुम्हारे इस कर्म से तुम्हारे ऊपर) प्रजाजन कैसा पसन्न हुए होंगे ? ॥ ३२ ॥

सर्वप्रजाभिरामं हि रामं प्रवाज्य धामिन्म् ।

सर्वलोकं विरुद्धमेकं कथं राजा भविष्यमि ॥ ३३ ॥

ऐसे धार्मिक और प्रजाप्रिय श्रीरामचन्द्र को वन में निकालने के कारण सब प्रजाजनों के विरोधा वन, तुम किस प्रकार राजा कहला सकोगे ? ॥ ३३ ॥

जानकी तु महाराज निःश्वमन्ती मनस्विनी ।

भूतोपहतचित्तेन पिष्टिता निस्मिता स्थिता ॥ ३४ ॥

हे महाराज ! जानकी जो बड़े गम्भीर मन की है—भूत लगे हुए जन के चित्त की तरह आश्चर्यचकित हो, टफ्टफी चाँधे सड़ी की सड़ी ही रह गई ॥ ३४ ॥

अदृष्टपूर्वव्यमना राजपुत्री यशस्विनी ।

तेन दुःखेन रुदती नैव मां किञ्चिद्ब्रवीत् ॥ ३५ ॥

क्योंकि उस यशस्विनी राजदुलारी पर इसके पूर्व कभी दुःख नहीं पड़ा था । अतः इस दुःख में, गुँह से कुछ भी न कह, केवल वह विलस रही थी ॥ ३५ ॥

उद्वीचमाणा भर्तारं मुखेन परिशुष्यता ।

मुमोच सहसा वाप्यं मां प्रयान्तमुदीक्ष्य सा ॥ ३६ ॥

और पति के अश्रुपूर्ण मुख को देख, उसका मुख सूख गया था और वह मेरी ओर देख सहसा आँसू गिराने लगी थी ॥३६॥

तथैव रामोऽश्रुमुखः कृताञ्जलिः

स्थितोऽभवन्नलक्ष्मणवाहुपालितः ।

तथैव सीता रुदती तपस्विनी

निरीक्षते राजरथं तथैव माम् ॥ ३७ ॥

इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ।

उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी, जिनकी बाँह पकड़ लक्ष्मण रखे थे, अश्रुमुख हो और हाथ जोड़े खड़े खड़े, मेरी ओर देख रहे थे। तपस्विनी सीता भी उसी तरह रोती हुई राजरथ को और मुझको देख रही थी ॥ ३७ ॥

अयोध्याकाण्ड का अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:❀:—

## एकोनपष्टितमः सर्गः

—:००:—

मम त्वरवा निवृत्तस्य न प्रावर्तन्त वत्सनि ।

उष्यमश्रु प्रमुञ्चन्तो रामे सम्प्रस्थिते वनम् ॥ १ ॥

( मुमत्र, महाराज दशरथ से कहने लगे ) श्रीरामचन्द्र जी के वन चलने जाने पर जय में लौटने लगा, तब मेरे थके घोड़े रास्ते में अड़ गए और नेत्रों से गरम गरम आँसू गिराने लगे ॥ १ ॥



उभाम्यां राजपुत्राम्यामथ कृत्वाहमञ्जलिम् ।  
प्रस्थितौ रथमास्याय तदुःखमपि धारयन् ॥ २ ॥

मैंने दोनों राजकुमारों को प्रणाम कर रथ में बैठ वहाँ ने प्रणाम किया और उस दुःख को भी किन्हीं प्रकार नष्ट लिखा ॥ २ ॥

गुहेन सार्धं तत्रैव स्थितोऽस्मि दिवसान्वहन् ।  
आशंया यदि मां रामः पुनः शब्दापयेदिति ॥ ३ ॥

कदाचित् श्रीरामचन्द्र जी मुझे बुला कर, (अपने साथ ले चलें) इस आशा में मैं गुह के साथ वहाँ कटे दिनों तक टहरा रहा ॥३॥

विषये ते महाराज रामव्यसनकर्षिताः ।  
अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः ॥ ४ ॥

मैंने लौटते समय देखा कि, आपके राज्य के वृक्ष तक दुःखी हैं । क्योंकि उनके फूल अंकुर और कलें दुम्हला गयी हैं ॥ ४ ॥

उपतप्तोदका नद्यः पल्वलानि सरांसि च ।  
परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च ॥ ५ ॥

नदियों, तलैयाँ और तालाबों का जल सूख रहा है । ( और नदियों तलैयाँ और तालाबों में जल कम हो जाने के कारण) वनों और उपवनों के वृक्षों के पत्तें नुरमाए हुए हैं ॥ ५ ॥

न च सर्पन्तिः सत्त्वानि२ व्यालाः३ न प्रचरन्ति च  
रामशोकाभिभूतं तन्निष्कृजमक्षवद्वनम् ॥ ६ ॥

१ न सर्पन्ति—न गच्छन्ति । (गो०) २ सत्त्वानि—बन्तवः । (गो०)

३ व्यालाः—हिंस्रपशुवः सर्वदासक्षारस्वभावा गज,वा । (गो०)

जीव जन्तुओं ने चलना बन्द कर दिया है और हिंस्रपशु अथवा सदैव घूमनेवाले हाथी भी अब बनों में घूमते हुए नहीं देख पड़ते । राम के वियागजनित शोक से बनों में सन्नाटा छाया हुआ है ॥६॥

लीनपुष्करपत्राश्च<sup>१</sup> नरेन्द्र कलुषोदकाः ।

मन्तपद्माः पद्मिन्यो लीनमीन- मिहङ्गमाः ॥ ७ ॥

ह महाराज ! तालाबों का जल गदला हो गया है और कमलों के पत्ते राम-वियाग-जन्य अतिशय भ्रान्ति उत्पन्न होने के कारण जल के भीतर डूब गए हैं । कमल के तालाबों में कमल सूख रहे हैं । मद्गलियों और ( जल ) पक्षियों ने पानी में घूमना फिरना छोड़ दिया है ॥ ७ ॥

जलजानि च पुष्पाणि माल्यानि<sup>३</sup> स्थलजानि च ।

नाद्य भान्त्यल्पगन्धीनि फलानि च यथापुम् ॥८॥

जल में उत्पन्न होने वाले पुष्प और पृथिवी पर उत्पन्न होने वाले पुष्पों में न तो पहले जैसा गन्ध ही रह गई है और न फलों में पहले जैसा स्वाद हा रह गया है ॥ ८ ॥

अत्रोद्यानानि शून्यानि प्रलीनमिहगानि च ।

न चाभिरामानारामान् पश्यामि मनुजर्षम ॥ ९ ॥

हे मनुजर्षभः यहाँ क उपवनो में भी पक्षियों के चुपचाप घासलो में बैठे रहने से सन्नाटा छाया हुआ है । यहाँ का वाटिकाएँ भी मुझे शोभाहीन देख पड़ता हैं ॥ ९ ॥

प्रतिशन्तमयोध्यां मां न करिचदमिनन्दति ।

नरा राममपश्यन्तो निःश्रमन्ति मुद्गुर्मुद्गुः ॥ १० ॥ -

<sup>१</sup>लीनपुष्करपत्रा — ग्लान्यतिशयेन जलान्तर्बिलीनपद्मपत्राः । (गो०)

<sup>२</sup>लीना — सञ्चाररहिता । (गो०) <sup>३</sup>माल्यानि—पुष्पाणि । (गो०)

मैं जब अयोध्या में आया, तब मैंने किसी को भी प्रसन्न न पाया प्रत्युत लोग (मेरे रथ में) श्रीरामचन्द्र को न देख, बार बार लम्बी साँसें लेने लगे ॥ १० ॥

देव राजरथं दृष्ट्वा विना राममिहागतम् ।

दुःखादश्रुमुखः सर्वो राजमार्गगतो जनः ॥ ११ ॥

हे देव ! राजरथ में बैठ कर श्रीरामचन्द्र जी को आते न देख रास्ते में जितने लाग धे, वे सब दुःखी हो रोने लगे ॥ ११ ॥

हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्य रथमागतम् ।

हाहाकारकृता नार्यो रामदर्शनकशिताः ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को देखने के लिए उत्कटित एवं विकल और हड़बड़ी, सदरसने मदानों को छत्ती और भवनों के मठों में बैठे हुई स्त्रियों ने सुने रथ को आते देख, बड़ा हाहाकार किया ॥१२॥

आयतैर्विमलैर्नेत्रैश्चुवेगपरिप्लुतैः ।

अन्योन्यमभिधीक्षन्ते व्यक्त' मार्ततराः स्त्रियः ॥१३॥

वे (स्त्रियों) घड़े घड़े विमल नेत्रों में घाँव भर और बहुत कानर हो, एक दूसरे को अच्छी तरह नहीं देख सकवो थीं ॥१३॥

[टिप्पणी—नेत्रों के विमल कहने का भाव यह है कि, नेत्रों में अञ्जन या काजल जो स्त्रियों के शृङ्गार वा एक अङ्ग है, वह नहीं लगा था । ]

नामित्राणां न मित्राणामुदामीनजनस्य च ।

अहमार्ततया किञ्चिद्विशेषमुपलक्षये ॥ १४ ॥

मुझे तो आन वया मित्र, क्या शत्रु और क्या चदासीन—  
किन्ती भी जन में, सिवाय कातरता क और किसी प्रकार का भी  
अन्य भाव नहा दंग पडा ॥ १४ ॥

अप्रहृष्टमनुष्या च दीननागतुरङ्गमा ।

आर्तस्वरपरिम्लाना त्रिनिःश्रमितनिःस्वना ॥ १५ ॥

जितने मनुष्य हैं व ता सब क मय दु खी हैं ही, किन्तु  
जितने हाथी घाड हैं व भी उदास हैं । सब ही आर्तनाद करते  
हुए लम्बी लम्बा उसाँस ल रहे हैं ॥ १५ ॥

निरानन्दा महाराज रामप्रताजनातुरा ।

कोसल्या पुत्रहीनेन अयोध्या प्रतिभाति मे ॥ १६ ॥

हे महाराज ! श्रीरामचन्द्र जी व चले जाने से सभ लोग  
दु खी हैं । अयोध्यापुरी तो मुझे पुत्र से विडुडी हुई कोसल्या की  
तरह ( दीन ) दिखनाई पड रही है ॥ १६ ॥

सूतस्य वचन श्रुत्या राजा परमदीनया ।

वाष्पोपहतया वाचा त सूतमिदमब्रवीत् ॥ १७ ॥

सुमत्र क वचन सुन महाराज दशरथ अत्यन्त दु खी हो  
गद्गद् बरुण से सुमत्र से यह बाल ॥ १७ ॥

कैरेय्या हि नियुक्तेन पापाभिजनभाषया ।

न मया मन्त्रबुर्लट्टैः सह समर्थितम् ॥ १८ ॥

१ पापाभिजनभावया = कूरुर्भविष्यकसमातिगनजनितपापविशि त्ते  
अभिजना आभत समीप विद्यमाना जना मधरादया तैस्सहायो  
संस्थितियस्या ( शि० ) २ नसमर्थिता—नविचारिता । ( गा० )

हे सुमंत्र ! दुष्ट बुद्धिवाली मन्यरादि का सहवास करने वाली कैकेयी को जब मैं वर देने लगा, तब ( शोक है कि ) न तो परामर्श देने में नष्ट-गृह्ण जनों से मैंने विचार किया ॥ १८ ॥

न सुहृद्भिर्न चामात्यैर्मन्त्रयित्वा च नैर्गमैः ।

मयाऽयमर्थः सम्मोहात्स्त्रीहेतोः सहसा कृतः ॥ १९ ॥

और न अपने सुहृदों और न अपने मंत्रियों और न ( राजधानी के ) महाजन साहूकारों से सलाह ली । मैंने यह अनर्थ केवल कैकेयी के लिए माहदश सहसा कर डाला ॥ १९ ॥

भवितव्यतया नूनमिदं वा व्यसनं महत् ।

कुलस्यास्य विनाशाय प्राप्तं सूत यदृच्छयाः ॥ २० ॥

हे सुमंत्र ! निश्चय ही यह दाहण कष्ट होनी के वश, इच्छाकुल का सर्वनाश करने को अपने आप अथवा देवइच्छा से उपस्थित हुआ है ॥ २० ॥

सूत यद्यस्ति ते किञ्चिन् मया तु सुकृतं कृतम् ।

त्वं प्रापयास्य मां रामं प्राणाः सन्त्वरयन्ति माम् ॥ २१ ॥

हे सुमंत्र ! यदि मैंने तेरा कुछ भी उपकार किया हो, तो तू मुझे शोध राम के पास पहुँचा । ( क्योंकि ) मेरे प्राण ( शरीर से निकलने के लिए ) जल्दी कर रहे हैं ॥ २१ ॥

यद्यद्यापि ममैवाद्या निवर्तयतु राघवम् ।

न शक्यामि विना रामं मुहूर्तमपि जीवितुम् ॥ २२ ॥

अथवा यदि अब भी श्रीराम मेरी आज्ञा मान, वन से लौट सकें, तो तू हा जाकर वनका लौटा ला । क्योंकि मैं राम बिना एक मुहूर्त्त भी नहीं जो सकता ॥ २२ ॥

अथवाऽपि महाबाहुर्गतो दूरं भविष्यति ।

‘मामैव रथमारोप्य शीघ्रं रामाय दर्शय ॥ २३ ॥

अथवा यदि महाबाहु राम बहुत दूर निकल गए हों, तो मुझे रथ में बिठा शीघ्र ले चल कर, मुझे राम को दिखावा दे ॥ २३ ॥

वृत्तदंष्ट्रोः महेष्वासः क्वासौ लक्ष्मणपूर्वजः ।

यदि जीयामि साध्वेन परियेयं सोतया सह ॥ २४ ॥

कुन्दपुष्पसम दाँतेों वाले, महाघनुघरं और लक्ष्मण के बड़े भाई राम कहाँ है ? यदि मैं जीता रहा तो सीतासहित इस साधु का अग्रय देखूँगा ॥ २४ ॥

लोहितान्नं महाबाहुमामुक्तमणिकुण्डलम् ।

रामं यदि न परियेयं गमिष्यामि यमत्रयम् ॥ २५ ॥

यदि मैं लाज नेत्र वाले, महाबाहु और रत्नकुण्डलधारी राम को न देखूँगा; ता मैं यमालय का चला जाऊँगा अर्थात् मर जाऊँगा ॥ २५ ॥

श्रुतो नु किं दुःखतरं योऽहमिच्छाकुनन्दनम् ।

इमामवस्थामापन्नो नेह परयामि राघवम् ॥ २६ ॥

हा ! इससे अधिक दुःख की बात क्या होगी, जो मैं इन्द्राकु-  
कुल-नन्दन राम को मरते समय भी नहीं देख सकता ॥ २६ ॥

हा राम रामानुज हा हा वैदेहि तपस्विनि ।

न मां जानीत दुःखेन त्रियमाणमनाथवत् ॥ २७ ॥

हा राम ! हा लक्ष्मण ! हा तपस्विनी वैदेही ! मैं अनाथ की  
तरह कष्ट के साथ मर रहा हूँ, यह तू नहीं जानती ॥ २७ ॥

स तेन राजा दुःखेन भृशमर्षितः चेतनः ।

अभगाढः सुदुष्पारं शोकसागरमव्रवीत् ॥ २८ ॥

यह कहते कहते महाराज दशरथ का मन बहुत दुःखी हो  
गया । वे अपार शोकसागर में डूब कर कहने लगे ॥ २८ ॥

[ शोकसागर का रूपक बाँधा है । ]

रामशोकमहावेगः सीताविरहपारगः ।

श्वसितोर्मिमहावर्ता वाप्पफेनजलाविलः ॥ २९ ॥

बाहुभिक्षेपमीनौघो विक्रन्दितमहास्वनः ।

प्रकीर्णकेशशैरालः कैःकैर्यिवडवामुखः ॥ ३० ॥

ममाश्रुवेगप्रभरः कुब्जाराक्यमहाग्रहः ।

वरवेला नृशंभाया रामप्रव्राजनायतः ॥ ३१ ॥

राम का विरहजन्य शोक उस सागर की गहराई या चौड़ाई है,  
जिसके किनारे हैं सीताजी का विछोह । श्वास का निकलना उसके  
मथर हैं, नेत्रजल से मानों वह गँदला हो रहा है । हाथों को पट

१ अर्षित चेतन — व्यातचित्त । (गो०) २ अभगाढः — प्रविष्ट ।

(गो०)

कना मानों मछलियाँ हैं और आर्त्तनाद उस महासागर का मानो गजन वर्जन है। धिरारे हुए घाल मानो सिवार हैं और कैकेयी मानो बडवानल (वह आग जो समुद्र में नीचे रहती है) है, नेत्रो का जल गम्भीरता उत्पन्न करने वाला है, मन्थरा के वाक्य मानों चडे घड़े घडियाल हैं, कैकेयो के वर, जिससे श्रीरामधन्व जी बन गए मानो लमे-लमे तट हैं ॥ २६ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

यस्मिन्नत निमग्नोऽहं कौमन्ये राघवं विना ।

दुस्तरो जीवता देवि ममास्यं शोकमागरः ॥ ३२ ॥

हे कौसल्या ! मैं बिना राम के इस प्रकार के अथाह शोक-सागर में डूब रहा हूँ, सो जीते जा ता मैं इसे पार न कर सकूँगा ॥ ३२ ॥

अशोभनं<sup>१</sup> योऽहमिहाद्य राघवं

दिदृक्षमाणो न लमे सलदमणम् ।

इतीर राजा विलपन् महायशाः

पपात तूणै शयने स मूर्छितः ॥ ३३ ॥

मैं आज लक्ष्मण सहित राम को देखना चाहता हूँ, किन्तु नहीं देख सकता, यह मेर किसी महापातक का फल है। इस प्रकार महायशस्वी महाराज दशरथ अनेक प्रकार से बचाव करते हुए तत्काल ही अचेत हो पलग पर गिर पड़े ॥ ३३ ॥

इति विलपति पार्थिवे प्रनष्टे<sup>२</sup>

करुणतरं द्विगुण्य च रामहेतोः ।

१ अशोभनं—मन महत्वाय । (१०) २ प्रनष्टे—नृच्छिने । (१०)



वचनमुनिशम्य तस्य देवी

भयमगमत्पुनरेव राममाता ॥ ३४ ॥

इति एकोनपष्टितमः सर्गः ॥

महाराज जब श्रीरामचन्द्र के लिए प्यत्यन्त करुणपूर्ण विलाप करते करते मूर्छित हो गए तब राममाता महारानी कौसल्या देवी को उनके ऐसे वचन सुन, दूना भय हुआ। (अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी के लिए महाराज को करुणपूर्ण विलाप कर के मूर्छित हुआ देख, कौसल्या बहुत डरी कि, कहीं महाराज प्राण न त्याग दें) ॥ ३४ ॥

अयोध्याकाण्ड का उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

पष्टितमः सर्गः

—:—

ततो भूतोपसृष्टेव वेपमाना पुनः पुनः ।

धरण्यां गतसत्त्वेन<sup>१</sup> कौसल्या स्रुतमब्रवीत् ॥ १ ॥

कौसल्या, जो भूवाविष्ट की तरह भूमि पर निर्जीव सी पड़ी काप रही थीं, सुमत्र से बोलीं ॥ १ ॥

नय मां यत्र काकुत्स्थः सीता यत्र च लक्ष्मणः ।

तान् विना क्षणमप्यत्र जीवितुं नोत्सहे क्षहम् ॥ २ ॥

हे सुत ! जहाँ राम, लक्ष्मण जानकी हों, वहीं मुझे ले चलो, क्योंकि बिना उनके आज मैं एक क्षण भी नहीं जी सकती ॥२॥

१ गतसत्त्वेन—गतप्राणैव । (नो०)

निवर्तय रथं शीघ्रं दण्डकान्नय मामपि ।

अथ तन्नानुगच्छामि गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ ३ ॥

अतः अति शीघ्र रथ फिर लौटाओ और मुझे भी दण्डकवन में पहुँचा दो, यदि मैं उनके पास न पहुँची तो मैं यमपुरा को चल दूँगी ॥ ३ ॥

वाप्यवेगोपहतया स वाचा सङ्गमानया<sup>१</sup> !

इदमारण्यसयन् देवीं स्रुतः प्राञ्जलिरश्रवीत् ॥ ४ ॥

यह सुन मुमंत्र आंसू बहा, विकल हो और हाथ जोड़ कर, महारानी को धीरेज बँधाते हुए धाले ॥ ४ ॥

त्यज शोकं च मोहं च संस्रम<sup>२</sup> दुःखजं तथा ।

व्यग्रधूय च सन्तर्प्य वने वत्स्यति राघवः ॥ ५ ॥

हे देवि ! तुम शोक, माह और दुःख के कारण उत्पन्न विकलता को त्याग दो । क्योंकि श्रीरामचंद्र सुर से वन में घास करेंगे १, ५॥

लक्ष्मणरचापि रामस्य पादौ परिचरन् वने ।

आराधयति धर्मज्ञः परलोकं<sup>३</sup> जितेन्द्रियः ॥ ६ ॥

लक्ष्मण भी श्रीरामचन्द्र की चरणमेजा कर, धर्मपूर्वक एवं जितेन्द्रिय हो, अपना परलोक सुधार रहे हैं ॥ ६ ॥

विजनेऽपि वने मीता शसं प्राप्य गृहेऽपि ।

विस्त्रम्भं<sup>४</sup> लभतेऽमीता रामे विन्यस्तमानया ॥ ७ ॥

१ सङ्गमानया—विकलवया। (गो०) २ संस्रम—व्याकुलत्व (गो०) ३ पर-  
लोकमाराधयति—परलोक साधयति । (गो०) ४ विस्त्रम्भ—प्रखया। (गो०)

विजयन वन में भी सीता राम में अपना मन लगा, घर ही के समान, प्रातिपूर्वक एव अभय रहती हैं ॥ ७ ॥

नास्या दैन्यं कृतं किञ्चित्सुखमपि लभ्यते ।

उचितेव प्रयासानां वैदेही प्रतिभाति मा ॥ ८ ॥

सीता जी में मुझे खग सी भ दीनता नहीं देख पडी । अतः मुझे तो वह प्रयास में रहने के योग्य हो मालूम पड़ती है ॥ ८ ॥

नगरोपवनं गत्वा यथा स्म रमते पुरा ।

तथैव रमते सीता निर्जनेषु वनेष्वपि ॥ ९ ॥

जिस प्रकार सीता नगर के बाग बगीचों में जाकर पहले यहाँ विहार किआ करती थीं, उसी प्रकार वह वहाँ निर्जन वन में भी विहार करती हैं ॥ ९ ॥

बालेव रमते सीताऽबालचन्द्रनिभानना ।

रामा रामे ह्यधीनात्मा विजनेऽपि वने सती ॥ १० ॥

पृष्णिमा के चन्द्रमा की तरह मुखवाली सीता निर्जन वन में भी प्रसन्नचित्त हो कर राम में मन लगा और उनके अधीन हो, कोड़ा किआ करती है ॥ १० ॥

तद्गतं हृदयं ह्यस्यास्तदधीनं च जीवितम् ।

अयोध्यापि भवेत्तस्या रामहीना तथा वनम् ॥ ११ ॥

क्योंकि केवल उसका मन ही सम्पूर्णतया श्रीराम के अधीन नहीं है, प्रत्युत उसका जीवन भी उन्हीं के उपर निर्भर है । अतः

धिना श्रीराम के उसके लिए यह अयोध्या भी वन के समान ही है ॥ ११ ॥

पथि पृच्छति वैदेही ग्रामांश्च नगराणि च ।

गतिं दृष्ट्वा नदीनां च पादपान् पिबिथानपि ॥ १२ ॥

मार्ग में जो गाँव, नगर, नदी और अनेक प्रकार के शृत्तों को सीता देखती, उनके निषय में वह ॥ १२ ॥

रामं वा लक्ष्मणं वापि पृष्ट्वा जानाति जानकी ।

अयोध्याक्रोशमात्रे तु निहारमित्र संश्रिता ॥ १३ ॥

राम से और लक्ष्मण से पूँछ, उनका वृत्तान्त अथवा परिचय जान लेती है। वह वन ता उसके लिए माना अयोध्या से एक फोस के अन्तर पर अवस्थित एक निहारस्थल जैसा हा रहा है ॥ १३ ॥

इदमेव स्मराम्यस्याः सहसैरोपजन्वितम् ।

कैकेयीसंश्रित वाक्य नेदानीं प्रतिभाति मा ॥ १४ ॥

सीता जी के निषय में तो मुझे इन्हीं बातों की याद है, उसने कैकेयी के धारे में जा कहा था—वह मुझे इस समय याद नहीं है ॥ १४ ॥

ध्वसयित्वा तु तद्वान्य प्रमादात्पर्युपस्थितम् ।

छादन वचन श्रुतो देव्या मधुरमन्नरीत् ॥ १५ ॥

सुमन्त्र ने भन से कैकेयी की चर्चा छेड़ दी थी—सा वस चर्चा को वहीं छोड़, फिर सुमन्त्र काँसल्या को प्रसन्न करने वाले यचन कहने लगे ॥ १५ ॥

अध्वना धातवेगेन सम्भ्रमेणात्पेन<sup>१</sup> च ।

न विगच्छति<sup>२</sup> वैदेह्यान्द्रांशुसदृशी प्रभा ॥ १६ ॥

हे महारानी ! जानकी के मुख की चन्द्रमा जैसी प्रभा, मर्ग की थकावट से, हवा के मोकों से, व्याघ्रादि भयङ्कर वन के खीब जन्तुओं के डर से, अथवा तेज घूप से फीकी नहीं पड़ती है ॥ १६ ॥

सदृशं शतपत्रस्य<sup>३</sup> पूर्णचन्द्रोपमप्रभम् ।

वदनं तद्वदान्याया वैदेह्या न विकम्पते ॥ १७ ॥

अन्तरसरक्ताभावलत्तरसव्रजितौ ।

अद्यापि चरणौ तस्याः पद्मकोशसमप्रभौ ॥ १८ ॥

और न कमल एवं पूर्णचंद्र के तुल्य सीता जी का मुख मलिन होता है। यद्यपि उसके चरणों में महावर नहीं लगाई गई; तथापि अब तक उसके दोनों चरण, कमल की तरह लाल-लाल देख पड़ते हैं ॥ १७ ॥ १८ ॥

नूपुरोद्घुष्टहेलेव खेलं<sup>४</sup> गच्छति भामिनी ।

इदानीमपि वैदेही तद्रागन्यस्तभूषणा ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के प्रति अनुरागवती होने के कारण सीता ने अब तक आभूषण नहीं उतारे हैं, वह पेरों की पायजनों की झनकार से हंस आदि के गमन को लजाती हुई बड़े आनन्द से चलती है ॥ १९ ॥

१ सम्भ्रमेण--न्याघ्रादिदर्शनजन्यव्याकुलत्वेन । (गो०) २ नविगच्छति—नविकरोति । (गो०) ३ शतपत्रस्य—पत्रस्य । (गो०) ४ खेल—खलील । (गो०)

गजं वा वीक्ष्य सिंहं वा व्याघ्रं वा वनमाश्रिता ।

नाहारयति संत्रासं बाहू रामस्य संश्रिता ॥ २० ॥

वन में हाथी, सिंह और व्याघ्र को देख—उह डरती नदी,  
क्योंकि श्री रामचन्द्र जो के भुजबल पर उसे विश्वास होने से,  
वह निर्भय रहती है ॥ २० ॥

न शोच्यास्ते न चात्मानः१ शोच्यो नापि जनाधिपः ।

इदं२ हि चरितं लोके प्रतिष्ठास्यति शाश्वतम् ॥२१॥

अतः हे देवि ! तुम उन तीनों के लिए, अपने लिए और  
महाराज के लिए जरा भी चिन्ता न करो । पिता की आशा मान  
कर वन जाने का श्रीराम जी का चरित आचन्द्राकं इम ससार  
में प्रसिद्ध हो, प्रतिष्ठा प्राप्ति करेगा ॥ २१ ॥

पिधूय शोकं परिहृष्टमानसा

महर्षियाते३ पथि सुव्यवस्थिताः ।

वने रता वन्यरुलाशनाः पितुः

शुभां प्रतिज्ञां परिपालयन्ति ते ॥ २२ ॥

( श्रीरामचन्द्र ) शोक को दूर कर, प्रमत्त मन से महर्षियों  
के चले हुए मार्ग का भली भाँति अनुसरण कर, अर्थान्तरपन्थियों  
के नियमों को पालन करते हुए, वन में रह और कन्दमूल फल  
खा, पिता की परम पवित्र आज्ञा का पालन कर रहे हैं ॥ २२ ॥

१ आत्मनः—वय । ( गो० ) २ इदंचरितं—गुरुवचनपरिपालनव्य-  
चरित । ( गो० ) ३ महर्षिगते—महर्षिभिः प्राप्ते । ( गो० )

तथापि सूतेन सुयुक्तवादिना  
 निरार्यमाणा सुतशोककशिता ।  
 न चैव देवी विरराम कूजितात्  
 प्रियेति पुत्रेति च राघवेति च ॥२३॥

इति पण्डितमः सर्गः ॥

यद्यपि सूत ने कौमल्या को अनेक युक्तियों से बहुत कुछ समझाया, तथापि कौमल्या पुत्रावियोगजन्य शोक से पीड़ित हो, रोने चिल्लाने से न रुकी और “अरे मेरे लाड़ले,” “अरे मेरे बेटे” “अरे राम !” बरामर कह कर रोतो ही रहीं। २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का माठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—: ० :—

एकपण्डितमः सर्गः

—: ० :—

वनं गते धर्मपरे रामे रमयुतां वरे ।  
 कौसल्या रुदतीऽऽसार्ता भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

गुणाभिराम, धर्मा ना श्रीरामचन्द्र जी के वन चले जाने पर, कौमल्या निकल हो, रुदन करती हुई, अपने पति से यह बोली ॥ १ ॥

यद्यपि त्रिषु लोकेषु प्रथितं ते महद्यशः ।  
 सानुक्रीशो वदान्यश्च प्रिययादी च राघवः ॥ २ ॥

\*पाठान्तरे—“स्वाती ।”

हे महाराज ! यद्यपि तीनों लोगों में तुम्हारी यह कीर्ति फ़ैली हुई है कि, महाराज बड़े दयालु, उदार और प्रियवादी हैं ॥ २ ॥

कथं नरवरश्रेष्ठ पुत्रौ तौ सह सीतया ।

'दुषितौ सुखमंवृद्धौ वने दुःखं सहिष्यतः ॥ ३ ॥

तथापि हे पुरुषोत्तम ! (यह तो जतलाओ कि) मीना सहित तुम्हारे वे दोनों पुत्र, जो सुग्न में पाले पोसे गए हैं, दुग्नी हो, किस तरह वन में दुःख सह सकेंगे ? ॥ ३ ॥

सा नूनं तरुणी' श्यामा<sup>२</sup> सुकुमारी सुखोचिता ।

कथमुष्णं च शीतं च मैथिली प्रमहिष्यते ॥ ४ ॥

निश्चय ही युगावस्था को प्राप्त वह युवती एव सुकुमारी मीना जो सुग्न से रहने योग्य है, किम प्रकार गर्मासदा सह सकेंगी ? ॥४॥

भुक्त्वाऽशनं विशालाक्षी सूपदंशान्वितं<sup>३</sup> शुभम् ।

वन्यं नैमारमाहारं कथं सीतोपभोक्ष्यते ॥ ५ ॥

जो बड़े बड़े नेत्रा वाली मीना, ( रमोइयों के वनाए हुए ) सुन्दर व्यञ्जन खाती थी, वही सीता क्योंकर, वन के चावलों को खा सकेंगी ? ॥ ५ ॥

गीतगादित्रनिर्घोषं श्रुत्वा शुभमनिन्दिता ।

कथं क्रव्यादमिहानां शब्दं श्रोष्यत्यशोभनम् ॥ ६ ॥

१ तरुणी - आरब्धयौवना । ( गो० ) २ श्यामा - यौवनमध्यस्था ( गो० ) श्यामातरुणा - यौवनमध्यस्था । ( गो० ) ३ सूपदंशान्वित - शोभनव्यञ्जन सहित । ( गो० )



जो अनिन्दिता सीता गाने और बजाने की (मधुर) ध्वनि (सदा) सुना करती थी, इस समय वह क्यों कर, माँसाहारी सिंहों का भयङ्कर शब्द सुन सकेगी ? ॥ ६ ॥

१महेन्द्रध्वजसङ्काशः क्व नु शीते महाभुजः ।

भुजं परिषत्सङ्काशमुपधाय सहाभुजः ॥ ७ ॥

जो इन्द्रधनुष के समान बड़ी भुजाओं वाले और महाबली हैं, वे अपनी विशाल भुजा तकिए की जगह सिर के नीचे रख कहाँ शयन करते होंगे ? ॥ ७ ॥

पद्मवर्णं सुकेशान्तं पद्मनिःश्वासमुत्तमम् ।

कदा द्रक्ष्यामि रामस्य वदनं पुष्करेक्षणम् ॥ ८ ॥

फमल के समान और सुन्दर केशों से युक्त, कमल जैसी सुगन्ध और कमलनयन श्रीरामचन्द्र जी के मुखारविन्द को, अब मैं कब देख सकूँगी ॥ ८ ॥

वज्रसारमयं नूनं हृदये मे न संशयः ।

अपरयन्त्या न तं यद्वै फलवीदं सहस्रवा । ९ ॥

निश्चय ही मेरा हृदय वज्र का बना हुआ है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो राम को न देखने से इसके महसों टुकड़े हो गए होते ॥ ९ ॥

यस्त्वयाऽकरुणं कर्म व्यपीड्य मम बान्धवाः ।

निरस्ताः परिधावन्ति सुखार्हाः कृपणा वने ॥ १० ॥

महाराज ! तुमने मेरे प्रियजना को राज्य से निशाल कर बड़ा निर्दयतापूर्ण कर्म किया है। जो सुख से रहने योग्य है, हाथ बे दीन हो, उन में मारे मारे फिर रहें हैं ॥ १० ॥

यदि पञ्चदशे वर्षे राघवः पुनरेष्यति ।

जह्याद्राज्यं च कोश च भरतो नोपभुङ्ग्यते ॥ ११ ॥

यदि चौदह वर्षों बाद श्रीरामचन्द्र लौट भी आवें (तो भी मुझे भरोसा नहीं कि) भरत उनको राज्य और कोश दे देंगे ॥ ११ ॥

भोजयन्ति किल श्राद्धे केचित्समानेन चान्वयान् ।

ततः पश्चात्समीचन्ते कृतकार्या द्विजर्षभान् ॥ १२ ॥

कोई कोई श्राद्ध करने वाले विद्वान होकर भा ब्रह्मण को निमंत्रण देते हैं किन्तु पहले गुणहीन अपात्र भाईयन्दों को श्राद्ध में भोजन करवाते हैं और पीछे से उन निमंत्रित ब्राह्मणों को बुलाते हैं ॥ १२ ॥

तत्र ये गुणवन्तश्च विद्वांसश्च द्विजातयः ।

न पश्चात्तेऽनुमन्यन्ते सुधामणि सुरोपमाः ॥ १३ ॥

तत्र उन ब्राह्मणों में जो गुणवान् एवं विद्वान् होते हैं, वे श्राद्ध के अमृत तुल्य भोज्य पदार्थों को मदिरा के समान (त्याज्य) क्या नहीं समझते ? ॥ १३ ॥

ब्राह्मणेष्वपि वृत्तेषु पश्चाद्भोक्तुं द्विजर्षभाः ।

नाभ्युपैतुमलं प्राज्ञाः भृङ्गच्छेदमिर्वर्षभाः ॥ १४ ॥

(यही नहीं बेलिक) अथ ब्राह्मणों का भोजन से बंध हुए अन्न को, विद्वान् ब्राह्मण अज्ञानार करने में वैसा ही अपना अनादर समझते हैं, जैसा बदन का अनादर उमफे सींगों के फाटने से होता है ॥ १४ ॥

एवं कनीयसा भ्रात्रा भुक्तं राज्यं विशांपते ।

भ्राता ज्येष्ठो वरिष्ठश्च किमर्थं नावमंस्यते ॥ १५ ॥

हे प्रजानाय ! इसी तरह छोटे भाई के भोगे हुए राज्य का ज्येष्ठ और श्रेष्ठ भाई क्यों न अन्याय करेगा, अर्थात् अवश्य अन्याय करेगा ॥ १५ ॥

न परेणाहृतं भक्ष्यं व्याघ्रः खादितुमिच्छति ।

एवमेव नरव्याघ्रः परलीढं न मंस्यते ॥ १६ ॥

जिस प्रकार व्याघ्र दूसरे के भोगे हुए शिकार को खाना पसंद नहीं करता, वैसे ही पुरुष में ही श्रीराम भी दूसरे की चक्रीय हुई वस्तु कदापि छद्मीयार न करेंगे ॥ १६ ॥

हविराज्यं पुगेडाशः कुशा यूपाश्च खादिराः ।

नैतानि यातयामानि कुर्वन्ति पुनरध्वरे ॥ १७ ॥

जिस प्रकार एक यज्ञ में व्यवहृत हाँव, घी, पुरोडाश, कुशा और रौर के समूह दूसरे यज्ञ के काम के नहीं रहते ॥ १७ ॥

[ टिप्पणी—प्रायः देवने में आता है एक मँडवा ( यज्ञ-स्तम्भ ) अनेक बार काम में लाया जाता है, पर इस ध्वजन से ऐसा होना ठीक नहीं । प्रत्येक विवाह कार्य में नया मँडवा बनवाना रचित है । )

तथा ह्यात्तर्शमिदं राज्यं हृतसागं सुरामिव ।

नाभिमन्तुर्मलं रामो नष्टोममिवाध्वरम् ॥ १८ ॥

उसी प्रकार मेरा राम इस उपभुक्त राज्य को मार निकली हुई मरा और मोमरहित यज्ञ की तरह, कभी लेने की इच्छा न करेगा ॥ १८ ॥

१ विशांपते—हे प्रजानाय । (गो०) २ परलीढं—परेणास्वादितं (गो०)

३ आत्त—उत्सुकपूर्व । (गो०) ४ अभिमन्तुं—अभिलषितुं । (गो०)

नैवप्रियममत्कारं राघवो मर्षयिष्यति ।

बलवानिष शादूलो जलवेभिमर्शनम् ॥ १६ ॥

जिम प्रकार बलवान् मिह अपनी पूँछ का मरुडवाना नहीं सह सकता, उमी प्रकार मेरा राम भा इस तरह के अस्कार को न सह सकेगा ॥ १६ ॥

नैतस्य सहिता लोका भयं कुर्युर्महामृधेः ।

अधर्मं त्विह धर्मात्मा लोकां धर्मेण योजयेत् ॥ २० ॥

क्या मत्र लोग यहाँ सधाम म राम से नहीं डरते ? (अर्थात् मत्र डरते हैं । अत वह बड़ा बलवान् है, वह चाहता तो यह राज्य अपने बाहुबल से ले सकता था, किन्तु) वह (नेवल स्वयं ही) धर्मात्मा (नहीं) है प्रत्युत अधर्मियों को भी धर्म पथ पर चलने की शिक्षा देनेवाला है । अत वह क्योंकर, अधर्म करे अर्थात् धनपूर्वक राज्य ले ) ॥ २० ॥

नन्वसौ काञ्चनैराणैर्महारीषो महाभुजः ।

युगान्त इष भूतानि सागरानपि निर्देहेत् ॥ २१ ॥

बड़ी भुजाओं वाजा और महापराक्रमी राम जो अपने मुन-हले राग के बाणों से प्रलयकाल के समय जैसा, (केवल) मत्र प्राणियों ही को (नहीं), समुद्र (तक) ना भग्न कर सकता है ॥२१॥

स तादृशः मिहबलो वृषभाक्षो नरर्षमः ।

स्वयमेव हतः पित्रा जलजेनात्मजो यया ॥ २२ ॥

वह सिंह के समान बलशाली पुम्पश्रेष्ठ राम उमी प्रकार अपने पिता द्वारा मारा पडा, जिस प्रकार मछली के बच्चे (अपने पिता) मत्स्य द्वारा नष्ट कर दिए जाते हैं ( मत्स्य अपने सतान को खा डालते हैं ) ॥ २० ॥

द्विजातिचरितो धर्मः शास्त्रदृष्टः सनातनः ।

यदि ते धर्मनिरते त्वया पुत्रे पिवासिते ॥ २३ ॥

यदि तुम द्विजा द्वारा आचरित, शास्त्रोंच सनातन धर्ममानते होते, तो ऐसे धर्मनिरत पुत्र को देश निजाला कभी न देते ॥ २३ ॥

गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मजः ।

तृतीया ज्ञातयो राजश्वतुर्यो नेह विद्यते ॥ २४ ॥

हे महाराज ! स्त्री के लिए पहला सहारा पति का, दूसरा पुत्र का और तीसरा भाईवंशों का है । स्त्री के लिए चौथा सहारा तो कोई है ही नहीं ॥ २४ ॥

यत्र त्वं चैव मे नास्ति रामस्य वनमाश्रितः ।

न वनं गन्तुमिच्छामि सर्वथा निहता त्वया ॥ २५ ॥

इनमें से तुम तो मेरे ही नहीं ( और मेरे दूसरे सहारे राम को, तुमन वन भेज ही दिया है । तुमको छोड़ मैं वन भी नहीं जा सकती । तुमने तो मुझे बारहवाट कर दिया ( अर्थात् मुझे कहीं वा नहीं रखा, सर तरह से बरबाद कर दिया ) ॥२५॥

हत्तं त्वया राज्यमिदं सराष्ट्रं

हतस्तथाऽऽत्मा सह मन्त्रिभिश्च

हता सपुत्राऽस्मि हताश्च पौराः ।

सुतश्च भार्या च तत्र प्रहृष्टौ ॥ २६ ॥

हे महाराज ! ( तुमने श्रीराम को वन में भेज कर ) अनेक छोटे राज्यों सहित इस विशाल राज्य को, गंनि गें सहित अपने आपको, पुत्र सहित मुझको और समस्त अयोध्यावासियों को वरवाद कर डाला । ( तुम्हारे इस कार्य से प्रसन्न केवल दो ही हैं ) तुम्हारे भार्या कीकेया और उसका पुत्र भरत ॥ २६ ॥

इमां गिरं दारुणशब्दसंश्रितां

निशम्य राजाऽपि मुमोह दुःखितः ।

ततः स शार्कं प्रनिवेश पार्थिवः

स्वदुष्कृतं चापि पुनस्तदाऽस्मरन् ॥ २७ ॥

॥ इति इकपष्टितमः सर्गः ॥

कौसल्या के इस प्रकार के फटोर वचन सुन, महाराज दशरथ अत्यन्त दुःखी हो मूर्छित हो गए और शोकसागर में निमग्न हो, वे इस दुःख का आदिकारण विचारने लगे ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का इस्सठवों सर्ग समाप्त हुआ ।



द्विपष्टितमः सर्गः

— १० —

एवं तु क्रुद्धया राजा राममात्रा सशोकया ।

श्रावितः परुषं वाक्यं चिन्तयामास दुःखितः ॥ १ ॥

१ स्वदुष्कृतं स्मरन्—पताटशकुः नस्यनिदानमूलं किङ्कर्म पूर्व कृतं इति स्मरन् । ( गो० )

महाराज दशरथ शोक के कारण क्रुद्ध राममाता कौसल्या के ऐसे कठोर वचन सुन, दुखी हो सोचने लगे कि, अब क्या करें ! ॥ १ ॥

चिन्तयित्वा स च नृपो मुमोह व्याकुलेन्द्रियः ।

अथ दीर्घेण कालेन संज्ञामाप परन्तपः ॥ २ ॥

यही सोचते सोचते महाराज विकल हो मूर्च्छित हो गए और बहुत देर बाद वे सचेत हुए ॥ २ ॥

स संज्ञामुपलभ्यैव दीर्घमुष्णं च निःश्वसत् ।

कौसल्या पार्श्वतो दृष्ट्वा पुनश्चिन्तामुपागमत् ॥ ३ ॥

वे सचेत होने पर बड़ी गहरी साँसे लेने लगे । कौसल्या को पास बैठी देख, वे फिर सोच में पड़ गए ॥ ३ ॥

तस्य चिन्तयमानस्य प्रत्यभात्कर्म दुष्कृतम् ।

यदनेन कृतं पूर्वमज्ञानाच्छब्दवेधिना ॥ ४ ॥

सोचते-सोचते उनको अपना ( पूर्वकृत ) एक पाप कर्म याद पड़ा । ( वह था ) पहले किसो समय अनजाने एक तपस्वी का शब्दवेधी वाण से बध ॥ ४ ॥

विमनास्तेन शोकेन रामशोकेन च प्रसुः ।

द्वाभ्यामपि महाराजः शोकाभ्यामन्वतप्यत ॥ ५ ॥

महाराज एक तो श्रीरामचन्द्र के वियोग से दुःखी थे ही, अब उस पापकर्म का स्मरण भी, उन्हें दुःखी करने लगा । इन दोनों के शोक से महाराज सन्तप्त हो विकल हो गए ॥ ५ ॥

दक्षमानः स शोकाभ्यां कौसल्यामाह भूपतिः ।

वेपमानोऽञ्जलिं कृत्वा प्रसादार्थमवाङ्मुखः ॥ ६ ॥

इन दोनों शोकों से दग्ध और दुःखित महाराज दशरथ ने, चाँप कर और नीचा मिर कर, कौमल्या को प्रसन्न करने के उद्देश्य से हाथ जोड़कर, कहा ॥ ६ ॥

प्रसादये त्वां कौसल्ये रचितोऽयं मयाऽञ्जलिः ।

वत्सला चानृशंसा च त्वं हि नित्यं परेष्वपि ॥ ७ ॥

हे कौमल्ये ! मैं धनती करता हूँ और हाथ जोड़ता हूँ । तू तो अपने शत्रुओं पर भी सदा दया दिग्गती, और उनके प्रति भी अन्धकार व्यवहार करती है ॥ ७ ॥

भर्ता तु खलु नारीणां गुणवान्निर्गुणोऽपि वा ।

धर्मं विमृशमानानां प्रत्यक्षां देवि तैरवम् ॥ ८ ॥

हे दाव ! ( यह भी तू जानती ही है कि ) धर्म की दृष्टि से, धर्माचरण करने वाली स्त्रियों के लिए उसका पति ही चाहे गुणी हो अथवा निर्गुणी, प्रत्यक्ष देवता है ॥ ८ ॥

सा त्वं धर्मपरा नित्यं दृष्टलोकपरारताः ।

नार्हसे विप्रियं वक्तुं दुःखितापि मुदुःखितम् ॥ ९ ॥

मैं तू नित्य धर्माचरण में तत्पर और संसार का ऊँच नीच समझने वाली हो कर भी, तुझे मुझमें ऐसे अप्रिय वचन कहना

---

१ दृष्टिलोकपरवय—दृष्टीलाकेजनेपरवयरी—उत्कर्षार्थकरीं यथा-  
 षातयोक्ता । ( गो० )



उचित नहीं । ( मैं यह जानता हूँ कि, तू दुःखी होने के कारण ऐसा कह रही है, तो भी ) मुझ जैसे अत्यन्त दुःखी से तुझे ऐसा कहना तेरे लिए शोभाप्रद नहीं है ॥ ६ ॥

तद्वाक्य करुणं राज्ञः श्रुत्वा दीनस्य मापितम् ।

कौसल्या व्यसृजद्वाप्यं प्रणालीन नवोदकम् ॥१०॥

महाराज के ऐसे करुणापूर्ण वचन सुन, कौसल्या के नेत्रों से आँसुओं की धार उसी भाँति बही, जिस भाँति नालियों में वप । का जल बहता है ॥ १० ॥

सा मूर्ध्नि बद्ध्वा रुदती राज्ञः पद्ममिवाञ्जलिम् ।

सम्भ्रमादग्रवीत्प्रस्ता त्वरमाणाचरं वचः ॥ ११ ॥

कौसल्या ने महाराज के दोनों जुड़े हुए कमल सदृश हाथों को अपने सिर पर रख लिया और रोती हुई तथा घबड़ाती सी वह बोली ॥ ११ ॥

प्रसीद शिरसा याचे भूमौ २ निपतिताऽस्मि ते ।

याचितास्मि हता देव हन्तव्याहं न हि त्वया ॥१२॥

हे देव ! तुम दुःखी न हो, प्रमत्त हो । मैं अपना सिर तुम्हारे चरणों में रख तुमको प्रणाम करती हूँ । तुम्हारा मेरी निनती करना, मेरे लिए मरने के समान कष्टदायी है । अतः आप मुझसे क्षमा न माँग कर, मेरे अनुचित कथन के लिए मुझे दंड दें ॥ १२ ॥

नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमत्ता ।

उभयोर्लोकयोर्वीर पत्या या सम्प्रसाद्यते ॥ १३ ॥

१ नवोदक—वर्षाजल । ( गो० ) २ भूमौनिपतिताऽस्मि—प्रब-  
-तास्मीत्यर्थः । ( गो० )

वह स्त्री कुर्चीन नहीं कहला सकती, जिमको दोनों लोकों की एक मात्र गति ( अर्थात् उसका पति ) उसकी बिनती कर उसे प्रसन्न करे ॥ १३ ॥

जानामि धर्मं धर्मज्ञ त्वां जाने सत्यवादिनम् ।

पुत्रशोकार्त्तया तच्च मया किमपि मापितम् ॥ १४ ॥

हे धर्मज्ञ ! मैं स्त्रीकर्त्तव्य को जानती हूँ और तुमको सत्यवादी मानती हूँ । उस समय मेरे मुख से जो थोड़ा बहुत अनुचित निकल गया, उसका कारण पुत्रशोक है ॥ १४ ॥

शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम् ।

शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकममो रिपुः ॥ १५ ॥

क्योंकि शोक ( मनुष्य का केवल ) धैर्य और शास्त्रज्ञान ही नष्ट नहीं करता, प्रत्युत सर्वनाश कर देता है । अतः शोक से बढ़कर ( मनुष्य का ) शत्रु दूसरा कोई नहीं है ॥ १५ ॥

शक्यमापतितः सोढुं प्रहारो रिपुहस्ततः ।

सोढुमापतितः शोकः सुमुद्गमोऽपि न शक्यते ॥ १६ ॥

अतएव अन्य वैरी के हाथ का प्रहार तो सह भी लिश्रा जा सकता है, किन्तु हठात्प्राप्त बहुत थोड़ासा भी शोक, नहीं सहा जा सकता ॥ १६ ॥

वनगामाय रामस्य पञ्चरात्रोऽद्य गणयते ।

यः शोकहतहर्षायाः पञ्चरात्रोपमो मम ॥ १७ ॥

१ धुनन्—शास्त्रभक्षणानितनिरवतधर्मे । ( गि० ) २ आनतितः— ..  
हठात्प्राप्तः । ( गो० )

राम को वनवास गए आज पांचवीं रात है किन्तु, मेरे लिए तो ये पांच वर्षों के ममान हैं। क्योंकि राम-वियोग-जनित शोक के कारण हर्ष तो पदम मुमसे बिदा हो गया है ॥ १७ ॥

तं हि चिन्तयमानायाः शोकोऽयं हृदि वर्धते ।

नदीनामिव वेगेन समुद्रसलिलं महत् ॥ १८ ॥

राम की चिन्ता करने से मेरे हृदय में इसी प्रकार शोक बढ़ता है, जिस प्रकार नदी के जल के वेग से समुद्र का जल बढ़ता है ॥ १८ ॥

एवं हि कथयन्त्यास्तु कौसल्यायाः शुभं वचः ।

मन्दरश्मिरभूत्सूर्यो रजनी चाम्यर्तत ॥ १९ ॥

कौसल्या जी के इस प्रकार विनम्रतापूर्ण वचन कहते रहते, सूर्य अस्त हो गए और रात हो गई ॥ १९ ॥

अथ प्रहादितो वाक्यैर्देव्या कौसल्यया नृपः ।

शोकेन च समाक्रान्तो निद्राया वशमेयिवान् ॥२०॥

इति द्विपष्टितमः सर्गः ॥

महाराज दशरथ, कौसल्या की यह बातचीत सुन, हर्षित हुए और शोक से उत्पीड़ित होने के कारण उनको नींद आ गई ॥२०॥

अयोध्याकांड का चान्ठवां सर्ग समाप्त हुआ ।



## त्रिपटितमः सर्गः

—: ० :—

प्रतिबुद्धो मुहूर्तेन शोकोपहतचेतनः ।

अथ राजा दशरथश्चिन्तामभ्यसपद्यत ॥ १ ॥

एक मुहूर्त सोन क पाड़े मःशरथ को अँल सुनी । अँलें सुजते ही शाक ने उनको फिर आ घेरा और वे चिन्ता करने लगे ॥ १ ॥

रामलक्ष्मणयोश्चैव त्रिवासादामगोपमम् ।

आनिवेशोपसर्गः १ तं तमः २ सूर्यमित्रासुरम् ३ ॥ २ ॥

श्रीराम और लक्ष्मण के वनवास के उपद्रव से बड़े हुए शोक ने इन्द्र के समान महाराज दशरथ को उमी प्रकार आच्छादित कर लिया, जिम प्रकार राहु मूर्य को आच्छादित कर लेता है ॥ २ ॥

समायें निर्गते रामे कौमल्यां कौमलैश्वरः ।

निवन्तु रसितापाङ्गां स्मृत्या दुष्कृतमात्मनः ॥ ३ ॥

सखीक श्रीराम जी के वनवासी होने पर, महाराज ने अपने वस दुष्कृतकर्म की मुधि कर, उसे महारानी कौमल्या से कहने की इच्छा की ॥ ३ ॥

स राजा रजनीं पृष्ठीं रामे प्रव्राजिते वनम् ।

अर्घरात्रे दशरथः संस्मरन् दुष्कृतं कृतम् ॥ ४ ॥

१ उपसर्गः—महोपद्रव पुत्रशोकः । ( गो० ) २ तमः—राहुः ।  
३ आसुर—असुर सबन्धि । ( गो० ) ४ निवन्तुः वस्तुनिष्ठुः । ( शि० )

धीराम के वनवास के दिन से छठवीं रात को आधी रात के समय महाराज ने अपने उस पापकृन्ध को स्मरण किया ॥ ४ ॥

स राजा पुत्रशोकार्तः स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः ।

कौसल्यां पुत्रशोकार्तामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

पुत्र के वियोग के शोक से विकल महाराजने अपने पापकर्म को स्मरण कर, पुत्रवियोग से विकल महारानी कौसल्या से कहा ॥ ५ ॥

यदाचरति कल्याणि शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।

तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मजमात्मनः ॥ ६ ॥

हे कल्याणि ! भुज्य भला या बुरा—जैसा कर्म करता है, उस भले या बुरे कर्म का फल, कर्ता को अवश्य मिलता है ॥६॥

गुत्लाघवमर्थानां मारुमे कर्मणां फलम् ।

दोषं वा यो न जानाति स बालः इति होच्यते ॥७॥

अतएव कर्म करने के पूर्व जो भुज्य कर्मके फल का गुरुत्व लघुत्व ( भलाई बुराई ) अथवा उसके दोष ( गुण ) को नहीं जानता, वह अज्ञानी कहलाता है ॥ ७ ॥

कथिदात्रवयं द्वित्रा पलाशांश्च निषिञ्चति ।

पुष्पं दृष्ट्वा फले गृध्नुः स शोचति फलागमे ॥ ८ ॥

जो आइसी पलाश के लाल लाल फूलों को देख, फल पाने की अभिलाषा से, आम के पेड़ को काट कर, पलाश वृक्ष को

सौचता है, फल लगाने का समय आने पर उसे अवश्य ही पड़-  
ताना पड़ता है ॥ ८ ॥

अत्रिज्ञाय फलं यो हि कर्मत्वेऽनघावति ।

स शीघ्रेत्कलवेलायां यथा किंशुकसेचकः ॥ ९ ॥

अतः जो मनुष्य कर्म का परिणाम विचारे बिना ही कर्म  
करने लगता है, उसे भी फल प्राप्ति के समय, पलाश वृक्ष भीचने  
वाले (अज्ञानी) मनुष्य की तरह पड़ताना पड़ता है ॥ ९ ॥

मोऽहमाप्रवर्णं छिच्छा पलाशांश्च न्यसेचयम् ।

रामं फलागमे त्यक्त्वा पश्चाच्छोचामि दुर्मतिः ॥१०॥

हे देवि ! मैंने भी ग्राम के वृक्ष को काट कर पलाश के वृक्ष  
को सौंचा है। सो फल लगाने के समय श्रीराम को त्याग कर  
मुझ दुष्टमति को भी पड़ताना पड़ रहा है ॥ १० ॥

लब्धशब्देनः कौसल्ये कुमारस्य धनुष्मता ।

कुमारः शब्दवेधीति मया पापमिदं कृतम् ॥ ११ ॥

हे कौमल्ये ! मैंने अपनी कुमारावस्था में, अपने को शब्द  
वेधी कहला कर ममिद होने की कामना से धनुष धारण कर,  
यह पाप किया था ॥ ११ ॥

तदिदं मेऽनुमग्राप्तं देवि दुःखं स्वयं कृतम् ।

सम्मोहादिह लब्धान्येन यथा स्याद्वचितं विषम् ॥१२॥

१ लब्धशब्देन—प्राप्तलक्षणात्मिका यदालम्ब्यवस्तुस्यशुनितुष  
शब्देन । ( गो० ) छ पाठान्तरे “—शलेन तदा ।”

सो हे देवि ! मैं इम दुःख का कारण स्वयं ही हूँ । जिस प्रकार अज्ञानवश विष खा ले, वैसे ही मैंने भी अनजान में पाप कर अपना सबनाश अपने हाथों ही किया है ॥१२॥

यथाऽन्यः पुरुषः कश्चित्पलाशैर्पोहितो भवेत् ।

एवं मयाप्यविज्ञातं शब्दवेध्यमिदं फलम् ॥ १३ ॥

जैसे कोई आदमी पलाशपुष्प को दूध, उससे उत्तम फल पाने की आशा से उसकी सेवा करे, पर उसमें उसे उत्तम फल की प्राप्ति नहीं होती—वैसे ही मैंने शब्दवेधी शिकार को उत्तम समझ बिना जान बूके ऐसा किया था, उसका मुझे (आज) यह फल प्राप्त हुआ है ॥ १३ ॥

देव्यनूढा? त्वमभवो युवराजो? भवाम्यहम् ।

ततः ३प्रावृटनुप्राप्ता ममद कामविवर्धनी ॥ १४ ॥

हे देवि ! यह हाल उस समय का है, जिस समय तुम्हारे साथ मेरा विवाह नहीं हुआ था और मैं युवराज था । उन्हीं दिनों एक बार काम के वेग को उत्तेजित करने वाली बर्षा ऋतु आई ॥ १४ ॥

४उपास्य हि रसान् ५ भौमांस्तप्त्वा च ६जगदंशुभिः ।

७परेताचरितां भीमां ८ रविराविशते ९ दिशम् ॥ १५ ॥

१ अनूढा—अकृत विवाहा । (गो०) २ भवामि—अभव । (गो०)  
 ३ प्रावृट्—वर्षाकालः । (गो०) ४ उपास्य—पूजित्वा । (गो०) ५ रसान्—चलानि । (गो०) ६ जगत्—भूमि । (गो०) ७ परेताचरिता—प्रेताचरिता । (गो०) ८ भीमांशुभिः—दक्षिणामित्यर्थः । (गो०)  
 ९ आविशते—आविशतेस्म । (गो०) \

सूर्यदेव पृथिवी के जल को सोस और अपनी किरणों से भूमि को तप्त कर, प्रेतगण सेवित भयङ्कर दक्षिण दिशा को चले गए (अर्थात् दक्षिणायन होगए) ॥ १५ ॥

उष्णमन्तर्दधे सद्यः स्निग्धाः ददृशिरे घनाः ।  
ततो जहृपिरे सर्वे मेकसारंगवह्निः ॥ १६ ॥

गरमा एकदम दूर हो गई। शीतल वादन दिखलाई देने लगे। उनको देस भेड़क, चानक और मयूर हर्षित हो गए ॥१६॥

किन्न्नपक्षोचराः स्नाताः कृच्छ्रादिव पतत्रिणः ।  
घृष्टिवातावधृताग्रान् पादपानभिपेदिरे ॥ १७ ॥

घरमाती हवा से झिलते हुए पेड़ों पर, उन पक्षियों ने जिनके पर जल से भीगे जाने के कारण, स्नान किए हुए जैसे जान पड़ते थे, बड़े कष्ट से बसेरा लिखा ॥ १७ ॥

पतितेनाम्भसाद्भ्रमः पतमानेन चासकृत् ।  
आवमी रमत्तमारङ्गस्तोयराशिरिवाचलः ॥ १८ ॥

घरसे हुए और घरमते हुए जल से भीगे हुए मत्त हाथी, उस समय वसी प्रकार जान पड़ते थे, जिम प्रकार स्थिर महामागर में पर्वत खड़ा हो ॥१८॥

पाण्डुरारुणवर्णानि स्रोतांसि विमलान्यपि ।  
सुस्रुयुर्गिरिधातुम्यः समस्मानि भुजङ्गवत् ॥ १९ ॥

१ स्निग्धाः—शीतलाः । ( गो० ) २ मत्तमारङ्गः—मत्तगत्रः ।  
( गो० )



पर्वणों की धातुओं से मिश्रित होने के कारण विभल जल के सोते भी पीले लाल अथवा रास मिलने से काले रंग के जल से युक्त हो, सौँव की तरह देड़ी में तो चाल से बह निकलें ॥ १६ ॥

तस्मिन्नतिमुखे काले धनुष्मान् कवची रथी ।

१ व्यायामकृतसङ्कल्पः सरयूमन्वगां नदीम् ॥ २० ॥

उस सुरदासी समय में मैं शिकार खेलने के लिए धनुष बाण ले और रथ में बैठ सरयू नदी के तट पर पहुँचा ॥ २० ॥

निपाने महिषं रात्रौ गजं वाजभ्यागतं नदीम् ।

अन्यं वा श्वापदं कश्चिज्जियांसुरजितेन्द्रियः ॥२१॥

मैं वहाँ गया, जहाँ रात के समय वनभँसा, हाथी तथा अन्य व्याघ्रादि दुष्ट जन्तु, जल पीने आधा करते थे । ( मैं इम उद्देश्य से वहाँ गया कि, कोई जानवर आवे और उसे मैं मारूँ ) क्योंकि उस समय मेरी प्रवृत्ति शिकार खेलने की ओर विशेष थी (अथवा मुझे शिकार से निवृत्ति नहीं हुई थी ॥ २१ ॥

अधान्धकारे त्वश्रौषं जले कुम्भस्य पर्यतः ।

अचक्षुर्निपये घोषं वारणस्येव नर्दतः ॥ २२ ॥

इसी घीच में अँधेरे में जल भरते हुए घड़े का शब्द सुन, मैंने समझा कि कोई हाथी बिघार रहा है । मुझे कुछ दिखलाई न पड़ा, मैंने केवल वह शब्द ही सुना ॥ २२ ॥

१ व्यायामकृतसङ्कल्पः—भृगुपाविहारेकृतसङ्कल्पः । ( गौ० ) २ श्वापदं—व्याघ्रादिदुष्टमृगं । ( गौ० ) • पाठान्तरे—“धनुष्मान्निपुनान्-रथो ।”

ततोऽहं शरमुद्धृत्य दीप्तमारीत्रिपोपमम् ।

शब्दं प्रति गजप्रेप्सुरभिलक्ष्य त्वपातयम् ॥ २३ ॥

(मैंने तरकस से सप के त्रिप से चुम्मा अर्थाँ पैना और चमचमाता बाण निकाल, उस दायी को वेधने की इच्छा से, शब्द लक्ष्य कर छोड़ा ॥ २३ ॥

अमुञ्चं निशितं बाणमहमारीत्रिपोपमम् ।

तत्र बाणुपनि व्यक्ता प्रादुरासीद्वनौकसः? ॥ २४ ॥

मैंने ज्योंही वह त्रिप का चुम्मा पैना बाण छोड़ा, त्योंही किसी वनवासी का शब्द मुझे स्पष्ट सुनाई पड़ा ॥ २४ ॥

हाहेति पततस्तोये बाणाभिहतमर्मणः ।

तस्मिन्निपतिते बाणे बाणभूत्तत्र मानुषी ॥ २५ ॥

वह (तपस्वी जिसके बाण लगा था) हाय हाय कह जल में गिर पड़ा—क्योंकि उस बाण से उस तपस्वी के मर्मस्थल विँध गए थे। वह बाण के लगने पर जब पानी में गिर पड़ा, तब मनुष्य जैसी बोली (इस प्रकार) सुन पड़ी ॥ २५ ॥

कथमस्मद्विधे? शस्त्रं निपतेत्तु तपस्विनि ।

प्रविविक्तां३ नदीं४ रात्रा बुदाहारोऽहमागतः ॥ २६ ॥

(वह बोला) मेरे जैसे अज्ञातरात्रु तपस्वी के क्यों इस प्रकार बाण लगा। मैं तो रात्रि के समय, निराळे में जन भरने आया था ॥ २६ ॥

१ वनौकसः—तपस्विनः । (गो०) २ अस्मद्विधे—अज्ञातरात्रौ ।

(गो०) ३ प्रविविक्ता—प्रकपेय निबन्ना । (गो०) ४ रात्रौ—अररात्रौ ।

(गो०) ।

इपुणाऽभिहतः केन कस्य वा किं कृतं मया ।

ऋषेहि न्यस्तदण्डस्य१ वने वन्येन जीवतः ॥ २७ ॥

किसने मुझे बाण से मारा, मैंने किसीका क्या बिगाड़ा था ? उस ऋषि को जो बाणों और शरार से किसी जीव को नहीं सताता और वन में रह कर जो वन में उत्पन्न कन्दमूल फल खा कर जीवन बिताता है ॥ २७ ॥

कथं नु शस्त्रेण वधो मद्विधस्य विधीयते ।

जटाभारधरस्यैव धल्कलाजिनवाससः ॥ २८ ॥

मुझ जैसे (एक ऋषि) का बाण मार कर, वध क्यों किया जाता है । अरे मैं जटाभार धारण कर, धल्कल और मृगचर्म पहिनाता और ओढ़ता हूँ ॥ २८ ॥

को वधेन ममार्थी स्यात्किं वास्यापकृतं मया ।

एवं निष्फलमारब्धं केवलानर्थसंहितम् ॥ २९ ॥

इस दशा में रहने पर भी, मुझे मारने से किसी का क्या अर्थ साधन हो सकता है, अथवा मैंने किसी का क्या कुछ बिगाड़ा था ( जो उमने मुझे बाण मारा) । ऐसा निष्फल कर्म तो केवल अनर्थ ही की मूल है ॥ २९ ॥

न कश्चित्साधु मन्येत यथैव गुरुतल्पगम् ।

नाहं तथानुशोचामि जीवितक्षयमात्मनः ॥ ३० ॥

जैसे गुरु का शय्या पर बैठने वाला साधु नहीं समझा जाता (वैसे ही उमको भी कोई भला न कहेगा जिसने अकारण

१ न्यस्तदण्डस्य—उपरतवाङ्मनःकायसम्बन्धिपरहिंसस्य । (गो०)

मेरा वध करना चाहा है ।) मुझे अपने प्राण जाने की चिन्ता अथवा शोक नहीं है ॥ ३० ॥

मातरं पितरं चोभावनुशाचामि मद्दधे ।

तदेतन्मिथुनं वृद्धं चिरकालभृतं मया ॥ ३१ ॥

जितनी चिन्ता मुझे अपने मारे जाने पर माता पिता की है । उन दोनों वृद्धों का अन्न तक तो मैं पालन पोषण किया ॥ ३१ ॥

मयि पञ्चत्वमापन्नं कां वृत्तिं वर्तयिष्यति ।

वृद्धौ च मातापितरावहं चैकेषुणा हतः ॥ ३२ ॥

किन्तु मेरे मर जाने पर, उनकी क्या दशा होगी, मेरी माता और मेरे पिता तो वृद्ध हैं और मैं इस प्रकार बाण से मारा गया ॥ ३२ ॥

केन स्म निहताः सर्वे सुपालेनाकृतात्मना ? ।

तां गिरं करुणां श्रुत्वा मम धर्मानुकाङ्क्षिणः ॥ ३३ ॥

जिमी दुर्वृद्धि मरण ने ( एक ही बाण से ) हम मथ को मार डाला । ( हे कीमत्या ! ) इस प्रकार की करुणा भरी वाणी सुन, मुझ जैसे पुण्योपाजन की इच्छा रखने वाले अथवा धर्म-भीरु ॥ ३३ ॥

कराभ्यां सशरं चापं व्यथितस्यापतद्भुवि ।

तस्याहं करुणं श्रुत्वा निशि लालपतो बहु ॥ ३४ ॥

सम्भ्रान्तः शोकवैगेन भृशमासं विचेतनः ।

तं देशमहमागम्य दीनसत्त्वः सुदुर्मनाः ॥-३५ ॥

१ अकृतात्मना—अनिश्चितबुद्धिना । (गि०) २ धर्मानु-  
काङ्क्षिणः—धर्मप्रतीवाणीलस्य । (धि०)

ऐसा -यथित हुआ कि मेरे हाथ से घनुष बाण भूमि पर गिर पड़े। उस रात में, मैं उस तपस्वी का विलाप सुन उद्विग्न हो और अत्यन्त शोभाकुल हो अचेत हो गया। तदनन्तर मैं दुःखी और उन्मत्त हो उम जगह गया ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

अपर्यमिपुणा तीरे सरय्यास्तापसं हतम् ।

अप्रकीर्णजटाभारं प्रविद्धः कलशोदकम् ॥ ३६ ॥

जिस जगह सरयू के तट पर, एक तपस्वी बाण से घायल पड़ा था। उसके सिर की जटा तिरपरी हुई थी। बलसे का जल फैला हुआ अथवा पानी का कलसा अलग पड़ा था ॥ ३६ ॥

पांसुशोणितदिग्धाङ्गं शयानं शरपीडितम् ।

स मामुद्धीक्ष्य नेत्राभ्यां त्रस्तमस्वस्थचेतसम् ॥ ३७ ॥

इत्युवाच वचः क्रूरं दिधक्षत्रिव तेजसा ।

किं तवापकृतं राजन् वने निवसता मया ॥ ३८ ॥

सारे शरीर में रून और धूल लगी हुई थी, वह बाण की व्यथा से जमीन पर पड़ा-तड़फड़ा रहा था। उसने मुझे भयभीत और विकल लान अपने दोनों नेत्रों से मेरी ओर देखा, मानों अपने नेत्राग्नि से मुझे यह सम्म कर डालेगा। तदनन्तर वह ये कठोर वचन बोला। हे राजन्! मैं एक तो जनपासी हूँ। किने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था? ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

जिहीर्षुर्मो गुर्वर्थेऽग्दह ताडितस्त्वया ।

एकेन खलु बाणेन मर्मण्यभिहते मयि ॥ ३९ ॥

१ प्रवृद्ध—ध्वस्त । (रा०) गुर्वर्थे—मातापितृनिमत्तम् । (पो०)  
 २ पाठान्तरे—“शल्पपीडितम्” “शल्पवेधितम्” † पाठान्तरे—  
 “तत ।”

जो माता पिता के ( पीने के ) लिये जल भरने को प्राण हुए मुझको तुमने मारा । एक ही वाण से तुमने मेरा मर्मस्थल धायल कर दिया ॥ ३६ ॥

द्वावन्धौ निहता वृद्धौ माता जनयिता च मे ।

तौ कथं दुर्बलावन्धौ मत्प्रतीक्षौ पिपासितौ ॥ ४० ॥

और मेरे माता पिता दो भी, जो दुर्बल तथा श्रन्धे हैं एवं मेरे आने की प्रतीक्षा करते हुए प्यासे बैठे होंगे, मार डाला ॥ ४० ॥

चिरमाशाकृतां तृष्णां कुरुधं सन्धारयिष्यतः ।

न नूनं तपसो वाऽस्ति फलयोगः श्रुतस्य वा ॥४१॥

वे मेरे आने की वाट देखते हुए प्यास क कट को कैसे सह सकेंगे ! हा ! इससे तो तप का व इतिहास पुराणादि के श्रमण का फल भी कुछ न ठहरा ॥ ४१ ॥

पिता यन्मां न जानाति शयानं पतितं भुवि ।

जानन्नपि च किं कुर्यादशक्तिरपरिक्रमः ॥ ४२ ॥

जो पिता जी यह नहीं जानते कि मैं इस दशा में यहाँ जमीन पर पड़ा हूँ और यदि जान भी जाँय तो वे श्रम कर ही क्या संकते हैं ? क्योंकि उनमें ( श्रमे होने के कारण ) चलने की शक्ति नहीं है अर्थात् वे पङ्गु हैं ॥ ४२ ॥

भिद्यमानमिवाशक्त्या तु मन्यो नगो नगम् । .

पितुस्त्वमेव मे गत्वा शीघ्रमाचक्ष राघव ॥ ४३ ॥

१ श्रुतस्य—मन्त्रवर्णत्रिषष्टीभूतेतिहासपुराणादेवीफलयोगः । (शि०)

० पाठान्तरे—“कटा ।”

जैसे बटते हुए वृक्ष की रक्षा दूसरा वृक्ष नहीं कर सकता (क्योंकि उसमें चलने की शक्ति नहीं) उसी प्रकार मेरे माता पिता भी अँधे और पङ्ग होने के कारण मेरी रक्षा करने में असमर्थ हैं—अतः हे राजन् ! मेरे पिता के पास जा कर तुरन्त यह समाचार उनसे करो ॥ ४३ ॥

न त्वामनुदहेत्क्रुद्धो वनं वह्निरिवेधितः ।

इयमेकपदी१ राजन् यतो मे पितुराश्रमः ॥ ४४ ॥

नहीं तो वे क्रोध में भर तुम्हें वैसे ही (शाप द्वारा) भस्म कर डालेंगे, जिस प्रकार आग वन को भस्म कर डालती है। हे राजन् ! यह पगडंडी, जो देव पड़ती है, वही मेरे पिता के आश्रम तक चली गई है ॥ ४४ ॥

तं प्रसादय गत्वा त्वं न त्वां स कुपितः शपेत् ।

विश्ल्य कुरु मां राजन् मर्म मे निशितः शरः ॥४५॥

सो तुम वहाँ जा कर उनको प्रसन्न करो, नहीं तो कुपित हो वे तुमको शाप दे देंगे। हे राजन् ! तुम इस बाण को जो मेरे मर्म-स्थल में घुसा हुआ है, निकाल दो ॥ ४५ ॥

रुणद्धि मृदु सोत्सेधं तीरमम्बुरयो२ यथा ।

सश्ल्यः क्लिशयते प्राणैर्निश्ल्यो विनशिष्यति ॥४६॥

इति मामविशचिन्ता तस्य श्ल्यापकर्षणे ।

दुःखितस्य च दीनस्य मम शोकातुरस्य३ च ॥४७॥

१ एकपदी—एकपदन्यासमात्रयुक्ता । सरणिरित्यर्थः । ( गो० )

२ अम्बुरय — नदीवेगः । ( गो० ) ३ शोकातुरस्य—ब्रह्महत्यामविष्य-टीतिभियाशोकेन पीडितस्य । ( गो० )

क्योंकि यह बाण मेरे कोमल मर्मस्थल को उसी प्रकार काट रहा है, जिस प्रकार ऊंचे और बालुकाभय करारे को नदी की धार का वेग काटता है। हे देवि ! उसी समय मुझे इस बात की चिन्ता उत्पन्न हुई कि, जब तक यह बाण गड़ा है, तब तक उसे पीड़ा तो अवश्य है, किन्तु जीता भो तभी तक है। क्योंकि बाण निकालते ही यह मर जायगा। अतः बाण निशालने में मेरे मन में खटका पैदा हो गया। उसने मुझे दीन दुःखी और शाकातुर देखा ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

लक्षयामास हृदये चिन्तां मुनिसुतस्तदा ।

ताम्यमानः स मां कृच्छ्रादुवाच परमार्तवत् ॥ ४८ ॥

तब उस मुनिपुत्र ने मेरे मन की चिन्ता को लक्ष लिखा और मुझे सन्तप्त देखा, अत्यन्त दुःखी हो बड़े कष्ट से कहा ॥ ४८ ॥

सीदमानो विषृत्ताङ्गोः वेष्टमानो गतः क्षयम् ।

संस्तम्य शोकं धैर्येण स्थिरचित्तो भवाम्यहम् ॥४९॥

यद्यपि मैं इस समय बहुत कष्ट में हूँ, मुझे साफ साफ कुछ दिग्गलाई भी नहीं पड़ रहा, पीड़ा से छटपटा रहा हूँ और मरा ही चाहता हूँ, तथापि धीरज धर के शोक के वेग को रोक, मैं स्थिर चित्त होता हूँ ॥ ४९ ॥

ब्रह्महत्याकृतं पापं हृदयादपनीयताम् ।

न द्विजातिरिहं राजन् मा भूत्ते मनसो व्यथा ॥५०॥

हे राजन् ! आप ब्रह्महत्या के पाप के भय को अपने मन से निकाल अपने मन की व्यथा दूर कीजिए। क्योंकि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ ॥ ५० ॥



शूद्रायामस्मि वेप्येन जातो जनपदाधिप ।  
 छन्दस्येवं ददतः कृच्छ्राद्वाराभिहतमर्मरुः ।  
 विधूरतो विषेष्टस्य वेपमानस्य भूतले ॥ ५१ ॥

हे भूपाल ! मैं शूद्रा माता के रूभ से एक वैश्य द्वारा नृत्य हुआ हूँ । यह करते करते मैंने मे घायल, मर्मत्पल की पीड़ा से उसकी दोनों तरफें चूट गईं, उसकी चेष्य दिगढ गई । और यह जमान पर लडफडाने लगा ॥ ५१ ॥

तस्य स्पातम्यमानस्य तं धारणमहमुद्धरम् ।  
 स मामुद्धीच्य मन्त्रस्तो जहाँ प्राणांस्तपोवनः ॥ ५२ ॥

उसकी यह दशा देकर, मैंने धार स्वीच लडा । धार स्वीचते ही उस सुानपुत्र ने अत्यन्त भयभीत हो, मेरी ओर देखा और प्राण छोड दिए ॥ ५२ ॥

जलाद्रगाश्च तु विलप्य कृच्छ्रान्  
 ममत्रणं नन्ततमुच्छ्वसन्तम् ।  
 ततः सरय्यां तमहं शयान  
 समीच्य भद्रेऽस्मि भृशं निषण्णः ॥ ५३ ॥  
 इति त्रिषष्टितम सर्ग ॥

हे वसुदेव ! उस तपोवन को, ( जो बुद्ध ही सर्गों पूर्व ) मर्मत्पल में धार का धार लगाने से अत्यन्त कष्टित हो विलाप कर रहा था और निःसहा शरीर ( छटफटाने से ) जल से तर हो गया था—स समय सरयू के तट पर प्राणरहित पडा देख, मुझे उडा ही विषाद हुआ ॥ ५३ ॥

अथोष्याखण्डे का तिरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

— ० —

## चतुःषष्टितमः सर्गः

—: ❁ :—

वधमप्रतिरूपं तु महर्षेस्तस्य राघवः ।

विलपन्नेव धर्मात्मा कौसल्यां पुनरब्रवीत् ॥ १ ॥

मुनिपुत्र के अनुचित वध को वर्णन कर और वीच वीच में अपने पुत्र का स्मरण कर के विलाप करते हुए, धर्मात्मा महाराज दशरथ, कौमल्या से फिर बोले ॥ १ ॥

तदज्ञानान्महत्पार्षं कृत्वाहं सङ्कुलेन्द्रियः ।

एकस्त्वचिन्तयं बुद्ध्या कथं नु सुकृतं भवेत् ॥ २ ॥

हे कौसल्या ! उम समय, अनजाने उस महापाप को कर, विकल हो, मैं अकेला सोचने लगा कि, अब मेरा कल्याण किस तरह हो ? ॥ २ ॥

ततस्तं घटमादाय पूर्णं परमशरिणा ।

आश्रमं तमहं प्राप्य यथाख्यातपथं गतः ॥ ३ ॥

अन्त में यह निश्चय कर कि, अब मेरा कल्याण इसीमें है कि, मैं मुनि कुमार के कथनानुसार उसके पिता को जा कर प्रसन्न करूँ । अतः मैं उम मुनिपुत्र के कलमे में जल भर और पमे लेकर, उसके वतलाप रास्ते से मुनि के आश्रम में गया ॥ ३ ॥

तत्राहं दुर्बलाग्रन्धौ वृद्धावपरिणायकी ।

अपश्यं तस्य पितरौ लूनपक्षाग्निव द्विजौ ॥ ४ ॥

वहाँ जा कर देखा कि, पंख रहित पक्षियों की तरह उसके  
माता पिता जो दूध, दुर्बल और दीन थे, बैठे हुए थे ॥ ४ ॥

तन्निमिचाभिरासीनौ कथाभिरपरिक्रमाँ ।

तामाशां मत्कृते हीनावुदासीनावनाथवत् ॥ ५ ॥

वे जल की प्रतीक्षा में बैठे पुत्र ही की चर्चा कर रहे थे ।  
उनकी आशा पर मैंने पानी फेर दिखाया । वे अनाथ की तरह  
निश्चेष्ट बैठे हुए थे ॥ ५ ॥

शोकोपहतचित्तथ भयसन्त्रस्तचेतनः ।

तच्चाश्रमपदं गत्वा भूयः शोकमहं गतः ॥ ६ ॥

उस समय मैं शोक से विकल और भय से प्रस्त तो था ही,  
उस आश्रम में पहुँचने पर, ( उन दोनों की दशा देख कर )  
मुझे और भी अधिक दुःख हुआ ॥ ६ ॥

पदशब्दं तु मे श्रुत्वा मुनिर्वाक्यमभाषत ।

किं चिरायसि मे पुत्र पानीयं विप्रमानय ॥ ७ ॥

मेरे पाँवों की आहट पा, उस मुनि ने कहा—हे वत्स ! क्यों  
देर कर रहे हो, शीघ्र जल लाओ ॥ ७ ॥

किन्निमित्तमिदं तात सलिले क्रीडितं त्वया ।

उत्कण्ठता ते मातेर्यं प्रमिश विप्रमाश्रमम् ॥ ८ ॥

तुम इतनी देर तक क्यों जल में खेलते रहे । आश्रम में  
तुरन्त जाओ, तुम्हारी माता दूध चिन्तित हो रही है ॥ ८ ॥

यद्यलीकं कृतं पुत्र मात्रा ते यदि वा मया ।

न तन्मनसि कर्तव्यं त्वया तात तपस्विना ॥ ९ ॥

बेटा ! यदि मुझमे या तेरी माता से कोई अप्रिय कार्य बन पड़ा हो तो हे वरुवो ! उस पर तू ध्यान मत देना ॥ ९ ॥

ऋगतिस्त्वमगतीनां च चक्षुस्त्वं हीनचक्षुषाम् ।

समासक्तास्त्रयि प्राणाः किं त्वं नो नामिमापसे ॥ १० ॥

तू ही हम दोनों असमर्थों का एकाग्र अवलम्ब है और हम अंगों की तूही आग्नि हैं और तेरे ही अधीन हमारे दोनों के प्राण हैं । तू ज्ञान क्यों नहीं देता ? ॥ १० ॥

मुनिमव्यक्तया वाचा तमहं सज्जमानया १ ।

हीनः पञ्चनया प्रेक्ष्य भीतोमीत २ इमात्रमम् ॥ ११ ॥

मैंने उस मुनि को देखा, अत्यन्त डरे हुए मनुष्य की तरह, लड़खड़ाती जवान से अतः अस्पष्ट अक्षरो में, उससे कहा ॥ ११ ॥

मनसः कर्म चैष्टाभिरभिसंस्तम्य ४ वाग्वलम् ।

आचक्ष्वे त्वहं तस्मै पुत्रव्यसनजं मयम् ॥ १२ ॥

बोलने के समय मैंने मन से और क्रियात्मक प्रयत्नों से जिहा को अपने घश में क्रिया और धीरे से उसके पुत्र का कष्टमय घृत्तान्त उससे कहा ॥ १२ ॥

घत्रियोऽहं दशरथो नाहं पुत्रो महात्मनः ।

सज्जना ५ वमतं दुःखमिदं प्राप्तं स्वकर्मजम् ॥ १३ ॥

१ सज्जमानया—स्वलन्तया । (गो०) २ हीन यञ्चनया—अस्पष्ट-  
 क्षरया । (गो०) ३ भीतोमीत.—अत्यन्तभीतः । (गो०) ४ अभिसंस्तम्य  
 —स्त्रलिता वाचाबलाददोऽदृश्येति । (गो०) ५ सज्जनावमत—सत्पुरुष-  
 गदित । (गो०) ० पाठान्तरे—“त्वमतिस्त्वमगतीनां”

हे महात्मन् ! मैं दशरथ नाम का क्षत्रिय हूँ । आपका पुत्र नहीं हूँ । मुझसे एक निन्द्य कर्म बन पडा है, जिसका मुझे बडा ही दुःख है ॥ १३ ॥

भगवंश्चापहस्तोऽहं सरयूतीरमागतः ।

जिघांसुः श्वापदं कञ्चिन्नपाने चागतं गजम् ॥ १४ ॥

हे भगवन् ! मैं हाथ में धनुष ले सरयू नदी के तट पर इस-लिए आया कि, यदि कोई हाथी या शेर बाघ आदि बनजन्तु पानी पीने आवे तो उसका बध करूँ ॥ १४ ॥

तत्र श्रुतो मया शब्दो जले कुम्भस्य पूर्यतः ।

द्विषोऽयमिति मत्वायं बाणैनाभिहतो मया ॥ १५ ॥

इसी बीच मे मैंने घडे में जल भरने का शब्द सुना और यह समझा कि, हाथी बोल रहा है, अतः मैंने बाण मारा ॥ १५ ॥

गत्वा नद्यास्ततस्तीरमपश्यमिपुरा हृदि ।

विनिर्भिन्नं गतप्राणं शयानं भुवि तापसम् ॥ १६ ॥

किन्तु जब मैं सरयू के तट पर पहुँचा तब मैंने देखा कि, छाती में बाण लगने के कारण एक तपस्वी मृतप्राय अवस्था में भूमि पर पडा है ॥ १६ ॥

भगवञ्शब्दमालक्ष्य मया गजजिघांसुना ।

पिसृष्टोऽम्भसि नाराचस्तेन तेऽभिहतः सुतः ॥ १७ ॥

हे भगवन् ! हाथी के शिकार के धोरे में, शब्दबेधी बाण चला कर, मैंने जल भरने के लिए गए हुए आपके पुत्र को मार डाला है ॥ १७ ॥

ततस्तस्यैव वचनादुपेत्य परितप्यतः ।

स मया सहसा वाण उद्घृतोऽस्मि मर्मणस्तदा ॥ १८ ॥

तदनन्तर मैंने उसीके कहन स, अत्यन्त कष्टदायी वाण सहसा उसकी छाती से रींचा ॥ १८ ॥

स चोद्धृतेन वाणेन तत्रैव स्पर्गमास्थितः ।

ममन्तौ पितरौ शोचन्नन्वागिति त्रिलप्य च ॥ १९ ॥

वाण के ग्रीचते हो वह वहीं स्पर्गमासी हो गया । ( मरने के पूर्व ) उसने आप दोनों अथे माता पिता के लिए विलाप और आप ही के लिए शोक किया था ॥ १९ ॥

अज्ञानान्द्रवतः पुत्रः सहसाऽभिहतो मया ।

शोपमेवं गते यत्स्यात्तत्प्रसीदतु मे मुनिः ॥ २० ॥

अनजान मे अचानक आपके पुत्र को मैंने मारा है । जो होना था वह तो हो ही गया । आप मुनि हैं; अत्र आप जैसा उचित समझें वैसा करें ( अर्थात् शापानुग्रह जो कुछ उचित समझें मो मेरे प्रति करें ) ॥ २० ॥

स तच्छ्रुत्वा वचः क्रूरं मयोक्तमघशंसिना ।

नाशरुत्तीव्रमायासमकर्तुं भगवान्मुनिः ॥ २१ ॥

मेरे किए हुए पापकर्म का दारुण वृत्तान्त मेरे ही मुख से सुन कर, ये महात्मा मुनि ( जो सब प्रकार का शाप दे सकते थे, निन्तु ) मुझे तीव्र शाप न दे सके ॥ २१ ॥

\*वाटान्तरे—'मर्मतस्तदा ।' + पाटान्तरे—'ममनानुधि' ।

प्रसौदतु—शाशोवाऽनुग्रहोवा य रत्तव्यस्तकरोत्पितृभ्यः । ( गो० )

स चाप्पपूर्णनयनोऽनिःश्वसञ्शोककर्णितः ।

मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिद्विषस्थितम् ॥ २२ ॥

किन्तु नेत्रों में आँसू भर और शोक से व्याकुल हो ठंडी ठंडी साँसे लेते हुए उन महातेजस्वी मुनि ने हाथ जोड़े रखे हुए मुझसे कहा ॥ २२ ॥

यद्येतदशुभं कर्म न त्वं मे कथयैः स्वयम् ।

फलेन्मूर्धा स्म ते राजन्सद्यः शतसहस्रधा ॥ २३ ॥

हे राजन् ! अगर तू अपने इस कर्म को स्वयं ही मुझसे न कहता, तो मेरे शाप से तेरे सिर के अभी हजारों टुकड़े हो जाते ॥ २३ ॥

क्षत्रियेण वधो राजन् वानप्रस्थे विशेषतः ।

ज्ञानपूर्वं कृतः स्थानाञ्च्यावयेदपि वज्रिणम् ॥ २४ ॥

हे राजन् ! जो क्षत्रिय जान वृद्ध कर दिसी वानप्रस्थ का वध करे तो वह भले ही इन्द्र ही क्यों न हो, उसे अवश्य स्थान-च्युत होना पड़ता है ॥ २४ ॥

सप्तधा तु फलेन्मूर्धा मुनौ तपसि तिष्ठति ।

ज्ञानाद्विसृजतः शस्त्रं तादृशे ब्रह्मवादिनि ॥ २५ ॥

जो कोई मेरे पुत्र जैसे तपस्वी एवं ब्रह्मवादी मुनि पर जग्न धूँक कर शस्त्र का प्रयोग करता, तो उसके सिर के सात टुकड़े हो जाते ॥ २५ ॥

अज्ञानाद्वि कृतं यस्मादिदं तेनैव जीवसि ।

अपि ह्यद्य कुलं न स्यादित्वाहृणां इतो भवान् ॥ २६ ॥

\* पाटान्वुरे—“चाप्पपूर्णनयनो” । १ फलेत्—विर्थावेत् । (गो०)

तूने अननाने यह निन्द्य कर्म किया है, इसीसे तू अत्र तक जीवित (भो) है। नहीं तो अभा (समस्त) रघुकुच ही का नाश हो जाता, तेरी तो हस्ती ही क्या है ॥ २६ ॥

नय नौ नृप तं देशमिति मां चाभ्यभाषत ।

अथ तं द्रष्टुमिच्छावः पुत्रं पश्चिमदर्शनम् ॥ २७ ॥

हे कौसल्ये ! मुनि ने मुझसे कहा, हे राजन् ! अत्र तू मुझे उस स्थान पर ले चक, जहाँ वह पड़ा है। क्योंकि अपने पुत्र की अन्तिम दशा देखने की मेरी इच्छा है ॥ २७ ॥

रुधिरेणानसिक्ताङ्गं प्रकीर्णाजिनवाससम् ।

शयानं भुवि निःमंत्रं धर्मराजवंश गतम् ॥ २८ ॥

हा ! वह काल के वश श्रीर अचेत हो, भूमि पर पड़ा होगा। उसका सारा शरीर रक्त से सना होगा, मृगचर्म जो वह ओढ़े था वह अलग पड़ा होगा ॥ २८ ॥

अथाहमेकस्त्वं देगं नीत्वा तौ भृशदुःखितौ ।

अस्पर्शयमहं पुत्रं तं मुनिं सह भार्यया ॥ २९ ॥

हे कौसल्ये ! मैं अपेला उन अत्यन्त दुःखिन मुनि और उनकी स्त्री को उम जगह ले गया। (अपे होने के कारण वे देख तो न सके, किन्तु) हाथ से उन्होंने मृतपुत्र का शरीर टटोला ॥ २९ ॥

तौ पुत्रमान्मनः स्पृष्ट्वा तमासाद्य तपस्विनौ ।

निपेततुः शरीरेऽस्य पिता चास्येदमब्रवीत् ॥ ३० ॥



वे दोनों जन पुत्र के पान जा और हाथ से उनका शरीर टटोल, दोनों के दोनों पुत्र के नृतगरोर ने लिपट गए। उनका पिता कहने लगा ॥ ३० ॥

नामिवाद्यसे माज्य न च मामभिमापमे ।

किन्तु श्रेष्ठ्य भूमौ त्वं वत्स किंकुपितो हसि ॥३१॥

हे वत्स ! तूने आज न तो मुझे प्रणाम किया और न मुझसे कुछ शानचीन को। तू उभोन पर क्या पड़ा है ? क्या तू मुझसे रूठ गया है ? ॥ ३१ ॥

न त्वहं ते प्रियः पुत्र मातरं पश्य धार्मिक ।

किन्तु नालिङ्गसे पुत्रमुकुमार बचो वद ॥ ३२ ॥

यदि तू मुझसे रूठा है तो हे वत्स ! तू अपनी धार्मिक माता की ओर तो देख। तू क्यों मुझसे आ कर नहीं लिपटना और क्यों कोपन बचन नहीं बोलता ? ॥ ३२ ॥

कस्य वाऽपररात्रेऽहं श्रोष्यामि हृदयङ्गमम् ? ।

अधीपानस्य मधुरं शास्त्रं वाऽन्यत्रद्विशेषतः ॥ ३३ ॥

अब मैं पिछली रात में धर्मशास्त्र और पुराणादि पढ़ते समय किसका मनोहर एवं मधुर स्वर सुनूँगा ? ॥ ३३ ॥

[ टिप्पणी—इन ब्रह्मचारी का जन्म वैश्य पिता और शूद्र स्त्री से हुआ था, अतः वह वेदाध्ययन का अधिकारी न था। वह वेद के शब्दों पुराणादि पढ़ता था। ]

को मां मन्थ्यामुपान्यैः स्नात्वा द्रुतद्रुताशनः ।

श्लाघयिष्यन्त्युपार्मानः पुत्रशोकमयादितम् ॥ ३४ ॥

\* हृदयङ्गमम्— मनुस्मर । (गो०) = प्रन्थादापुंगव—यं शब्द-  
द्राणादात्तत्वेन सङ्गच्छन् इदमशङ्कानोक्तः । (रा०) ३ श्लाघयिष्यति—  
उपचरिष्यति । (गो०)

हे वेदा ! अब शोक और भय से कातर हुए प्रातःकाल स्नान कर, सन्ध्योपासन एवं होम कर मेरे निकट आ वीन मेरी सेवा करेगा ? ॥ ३४ ॥

[ नोट—मुनिपुत्र तो वर्णसङ्कर या शूद्रः उसे सन्ध्योपासन एवं होम का शास्त्रीयता अधिकार प्राप्त नहीं था, तब सन्ध्योपासन और होम करने की बात यहाँ क्यों लिखी गई, इस शङ्का का समाधान शास्त्रानुसार इस प्रकार किया गया है।

“नमस्कारेणमन्त्रेणपञ्चयज्ञानुसमापयेत्”

इस वचनानुसार पञ्चयज्ञो के ( इस प्रकार ) करने का अधिकार चतुर्थ वर्ण को भी प्राप्त है । ]

१कन्दमूलफलं हृत्ना को मां प्रियमिवातिथिम् ।

भोजयिष्यत्यकर्मण्यमश्नग्रहमनायकम् ॥ ३५ ॥

। मुझ जैसे असमर्थ, असमर्थी ( वन्य चांदन आदि जिसके पास एत्र नहीं ) और अनाथ को, अत्र वीन वन से कन्दमूल फल ला कर, प्यारे अतिथि की तरह, भोजन करावेगा ? ॥३५॥

इमामन्धां च वृद्धां च मातरं ते तपस्विनीम् ।

कथं वत्स भरिष्यामि कृपयां पुत्रगधिनीम् ॥ ३६ ॥

हे यत्न ! इस अधी, तपस्विनी, दुर्गतिनी एवं पुत्रवत्सला तेरी बूढ़ी माता का भरण पोषण अत्र मैं कैसे करूँगा ? ॥३६॥

१ कन्द—बलोद्मगानां वद्मदीना । ( गी० ) २ मूलं—शूलं द्मवानाम् । ( गी० ) ३ अश्नग्रहन्—नीवारादि सप्तहरहितम् । ( गी० ) ४ अनायकम्—अनाथम् । ( गी० )

तिष्ठ मामागमः पुत्र यमस्य सदनं प्रति ।

रग्री मया सह गन्तासि जनन्या च समेधितः ॥३७॥

हे पुत्र ! ठहर जा और आज यमालय को मत जा । बल मेरे और अपनी माता के साथ चलना ॥३७॥

उमात्रपि च शोकार्ताविनाथौ कृपणौ जने ।

क्षिप्रमेव रामिष्यामस्त्वया सह यमक्षयम् ॥ ३८ ॥

तेरे पिता शोक पीड़ित, अनाथ और असहाय हो हम दोनों इस वन में नहीं रह सकेंगे, अतः तेरे साथ ही हम भी शीघ्र यमालय को चलेंगे ॥३८॥

ततो वेवस्वत दृष्ट्वा तं प्रपद्यामि भारतीम् ।

क्षमतां धर्मराजो मे विभृयात्पितराण्यम् ॥ ३९ ॥

और चल कर यमराज से मिलकर उनसे कहेंगे कि, पुत्र-वियोगकारी पूर्वजन्म में किए हुए हमारे अपराध को क्षमा करें, और यह बालक हमारा (दोनों का) पालन करे ॥३९॥

दातुमर्हति धर्मात्मा लोकपालो महायशाः ।

ईदृशस्य ममाक्षय्यामेकामभयदक्षिणाम् ॥ ४० ॥

ऐसी अक्षय्य और अभय-प्रदायिनी दक्षिणा आप हम जैसे को दीजिए । क्योंकि आप धर्मात्मा एवं महायशस्वी लोकपाल हैं ॥४०॥

अपापोऽमि यदा पुत्र निहतःपापकर्मणा ।

तेन सत्येन गन्ध्याशु र्य लोकाः शस्त्रयोधिनाम् ॥४१॥

हे पुत्र ! तू निर्दोष होने पर भी इस पापी द्वारा मारा गया है । अतः तू अपने सत्यबल से, उस लोक में जा, जहाँ योद्धा लोग जाते हैं ॥४१॥

यान्ति शूरा गतिं यां च संग्रामेष्वनिवर्तिनः ।

इवास्त्वभिमुखाः पुत्रगतिं तां परमां व्रज ॥ ४२ ॥

हे वत्स ! युद्ध में पीठ न दिखाने वाले वीर लोग, शत्रु द्वारा मारे जाने पर, जिस गति को प्राप्त होते हैं, तू भी वही परम गति को प्राप्त हो ॥४२॥

यां गतिं सगरः शैब्यो दिलीपो जनमेजयः ।

नहुषो धुन्धुमारश्च प्राप्तास्तां गच्छ पुत्रक ॥ ४३ ॥

हे बेटा ! महाराज सगर, शैब्य, दिलीप, जनमेजय, नहुष और धुन्धुमार जिस गति को प्राप्त हुए हैं, उसी गति को तू भी प्राप्त हो ॥४३॥

या गतिः सर्वसाधूनां स्वाध्यायात्तपमा च या ।

भूमिदस्याहिताग्नेरैरुपत्तीव्रतस्य च ॥ ४४ ॥

जो गति स्वाध्याय और तप में निरत मन महात्मा पुरुषों को प्राप्त होती है, वही गति तुम्हें भी प्राप्त हो । जो गति भूमिदान करने वाले, अग्निहोत्री और एत-वन्नी व्रत-धारी को प्राप्त होती है, वही तुम्हें भी प्राप्त हो ॥४४॥

गोमहस्रप्रदातृणां या या गुरुभृतामपि ? ।

देहन्यामकृतां या च तां गतिं गच्छ पुत्रक ॥ ४५ ॥

हे वत्स ! जा गति मत्स्र गौ दान करने वाले को, गुरु-  
शुश्रूषा करने वाले को तथा महाप्रस्थान का सङ्कल्प कर ( प्रयाग  
में या अग्नि में ) शरीर त्याग करने वाले को प्राप्ति होती है,  
वही तुम्हें भी प्राप्ति हो ॥४५॥

न हि त्वस्मत्कुले जातो गच्छत्यकुशलां गतिम् ।

स तु यास्यति येन त्वं निहतो मम बान्धवः ३ ॥४६॥

क्योंकि हमारे तपस्त्रिकुल में उत्पन्न हो कोई भी नीच गति  
को प्राप्त नहीं हुआ । नीच गति को तो वह प्राप्त होगा, जिसने  
मेरे पुत्र तुम्हें मारा है ॥४६॥

एवं स कृपणं तत्र पर्यदेवयतासकृत् ।

ततोऽस्मै कर्तुमुदकं प्रवृत्तः सह भार्यया ॥ ४७ ॥

इस प्रकार वह तपस्वी धार धार कम्पापूर्ण विलाप कर, स्त्री  
सहित अपने मृतपुत्र को जलाज्वाल देने में प्रवृत्त हुआ ॥४७॥

स तु दिव्येन रूपेण मुनिपुत्रः स्वकर्मभिः ।

स्वगोमध्यारुहत्किंप्रं शक्रेण सह धर्मवित् ॥ ४८ ॥

तब तो वह धर्मात्मा मुनिकुमार अपने पुण्यकर्मों के बल,  
दिव्य रूप धारण कर, इन्द्र के साथ तुरन्त स्वर्ग को चला  
गया ॥४८॥

१ गुरुभृता—गुरुशुश्रूषाकरिणा । (गो०) २ देह यासकृता—महा-  
प्रस्थानादिनापरलोकार्थतनुत्यज । (रा०) परलोकप्राप्तिसङ्कल्पपूर्वक  
गङ्गा यमुना सगमादौत्रलेग्नौ वातनुत्यज्यता मित्यर्थः । (गो०)  
३—ममत्र न्यव.—ममपुत्रः । (गो०)

[ टिप्पणी—“स्वर्ग को, इन्द्र के साथ जाने से”, जान पड़ता है कि, स्वयं इन्द्र उसे स्वर्ग में ले जाने को आए थे । ]

आवभाषे च तौ वृद्धौ शक्रेण सह तापमः ।

आररास्य च मुहूर्तं तु नितरौ वाक्यमब्रवीत् ॥४६॥

मुनिकुमार स्वर्ग जात समय, इन्द्र के माहत्त, उन दोनों वृद्धों को एक मुहूर्त तक समझा बुझा, पिता से बोला ॥४६॥

स्थानमस्मि महत्प्राप्तो भवतोः परिचारात् ।

भवन्तावपि च विप्रं मम मूलमुपैष्यतः ॥ ५० ॥

मैंने आपकी जा सेवा की था, उसी पुत्र के धन से मुझे यह उत्तम स्थान मिला है । आप दोनों भी अति शीघ्र मेरे पास आवेंगे ॥५०॥

एवमुक्त्वा तु दिव्येन विमानेन वपुष्मता ।

आरुरोह दिवं विप्रं मुनिपुत्रो जितेन्द्रियः ॥ ५१ ॥

यह कह, वह जितेन्द्रिय मुनिपुत्र अतः दिव्य विमान में बैठ, तुरन्त स्वर्ग को चला गया ॥५१॥

स कृत्वाथोदकं तूष्णं तापसः सह भार्यया ।

मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥ ५२ ॥

महाराज दशरथ कहन लगे, हे शिव ! उम महातेजस्य तपस्वी ने भार्या सहित भटपट पुत्र को जलाञ्जलि दे, मुनिसै, जो वहाँ हाथ लोडे हुए खड़ा था, रुदा ॥५२॥

अथैव जहि मां राजन्मरणे नास्ति मे व्यथा ।

यच्छरेणैरुपुत्रं मां त्वमरूपीरपुत्रकम् ॥ ५३ ॥

हे राजन् ! तुम अत्र मुझे भी मार डालो । मुझे मरने में कुछ भी कष्ट न होगा । क्योंकि मेरे यही इन्तर्लता पुत्र था सो इसे तुमने एक ही घाण से मार मुझे बिना पुत्र का कर दिया ॥५३॥

त्वया तु तदविद्वानान्निहतो मे सुतः शुचिः ।

तैन त्वामभिशाप्यामि सुदुःखमतिदारुणम् ॥ ५४ ॥

हे राजन् ! तुमने यद्यपि अनजान में मेरे धर्मात्मा पुत्र का वध किया है, तथापि मैं इसके लिए तुम्हें यह अति दुस्सह दारुण शाप देता हूँ ॥५४॥

पुत्रव्यसनजं दुःखं यदेतन् मम साम्प्रतम् ।

एवं त्वं पुत्रशोकैः राजन्कालं ऋगमिष्यसि ॥ ५५ ॥

हे राजन् मुझको इस समय जैसा यह पुत्रशोक हुआ है, ऐसे ही पुत्रशोक से तुम्हारी भी मृत्यु होगी ॥५५॥

अज्ञानात्तु हतो यस्मात्त्रिभ्येण त्वया मुनिः ।

तस्मात्त्वां नाविशत्याशु ब्रह्महत्या नराधिप ॥५६॥

तुम त्रिभ्य हो और अनजान में तुमने मुनि की हत्या कर डाली है । इसीसे हे नरेन्द्र ! तुमको ब्रह्महत्या नहीं लगी ॥५६॥

त्वामप्येतादृशो भावः क्षिप्रमेव गमिष्यति ।

जीवितान्तकरो घोरो दातारमिव दक्षिणा ॥ ५७ ॥

किन्तु जिस प्रकार दाता को दान का फल अवश्य मिलता है, उसी प्रकार तुमको भी घोर दुःख प्राप्त होगा और उसी दुःख से तुम्हें प्राण भी त्यागने पड़ेंगे ॥५७॥

एवं शापं मयि न्यस्य त्रिलोक्यं कुरुष्व वर ।

चितामारोप्य देहं तन्मिथुनं स्वर्गमभ्ययात् ॥ ५८ ॥

( दशरथ जाँ कौसल्या से कहने लगे ) हे देवि ! इन प्रकार मुझे शाप दे और बहुत सा विनाश कर, चिता बना और उस पर बैठ ( भस्म हो ) वे दोनों स्वर्ग को चले गए ॥ ५८ ॥

तदेतच्चिन्तयानेन स्मृतं पापं मया स्वयम् ।

तदा बाल्यात्कृतं देवि शब्दवेध्यनुकृपिणा ॥ ५९ ॥

हे देवि ! इस चिन्ता में पड़ कर, अज मुझे अपना वह पापकर्म स्मरण हो आया, जो मैंने मूर्खतावश, शब्दवेधी बाण चला कर किया था ॥ ५९ ॥

तस्यायं कर्मणो देवि विपाकः समुपस्थितः ।

अपथ्यैः सह सम्भुक्ते व्याधिमन्नरसो यथा ॥ ६० ॥

हे देवि ! जिस प्रकार खाए हुए अपथ्य अन्न क रस से रोग उपन्न होता है, उसी प्रकार उस पापकर्म का फलस्वरूप यह कर्मविपाक आ कर उपस्थित हुआ ॥ ६० ॥

तस्मान्मामागतं भद्रे तस्योदारस्य तद्वचः ।

इत्युक्त्वा स रुदंस्त्रस्तो भार्यामाह च भूमिपः ॥ ६१ ॥

हे भद्रे ! उस उदार तपस्वी के दिए हुए शाप के पूरे होने का समय अब आ गया है । यह कह, रुदन कर और ( मरण ) भय से ग्रस्त हो, महाराज दशरथ कौसल्या से कहने लगे ॥ ६१ ॥

यदहं पुत्रशोकैः सन्त्यदयाम्यद्य जीवितम् ।

चक्षुर्मयां त्वां न पश्यामि कौमल्ये साधुर्मां स्पृश ॥ ६२ ॥



हे कौसल्ये ! पुत्रशोक के कारण मेरे प्राण अब निकलना चाहते हैं, अतः तू अब मुझे नहीं देख पड़ती । अतः तू मेरे शरीर को छू ॥ ६२ ॥

यमक्षयमनुप्राप्तं ऋक्षयन्ति न हि मानवाः ।

यदि मां संस्पृशेद्रामः सकृदथ लमेत वा ॥ ६३ ॥

[ धनं वा यौवराज्यं वा जीवेयमिति मे मतिः ।

न तन्मे सदृशं देवि यन्मया राघवे कृतम् ॥ ६४ ॥

क्योंकि यमधाम को जाने वाले लोगों को आसों से नहीं देख पड़ता । यदि श्रीरामचन्द्र इस घड़ी एक धार भी मुझे छू लें अथवा यौवराजपद तथा धन सम्पत्ति ग्रहण करना स्वीकार कर लें, तो बोध होता है कि, कदाचित् मैं जीता बच जाऊँ । हे कल्याणी ! मैंने श्रीरामचन्द्र के साथ जैसा व्यवहार किया है, वैसा करना मेरे लिए उचित नहीं था ॥ ६३, ६४ ॥

सदृशं वत्तु तस्यैव यदनेन कृतं मयि ।

दुर्वृत्तमपि कः पुत्रं त्यजेद्भुवि विचक्षणः ॥ ६५ ॥

प्रत्युत श्रीरामचन्द्र का मेरे प्रति वह व्यवहार सर्वथा उचित है । इस संसार में कौन ऐसा विचारवान मनुष्य होगा, जो अपने दुष्ट पुत्र को भी त्याग दे ॥ ६५ ॥

कथं प्रवाज्यमानो वा नाश्वयेत्पितरं सुतः ।

चक्षुषा त्वां न पश्यामि स्मृतिर्मम विलुप्यते ॥६६॥ ]

और कौन ऐसा पुत्र होगा जो घर से निकाले जाने पर भी पिता की निन्दा न करे । हे देवि ! आसों से तू अब मुझे नहीं देख पड़ती और मेरी मूर्खता भी नष्ट होती जाती है ॥६६॥

दूता वैवस्वतस्यैते कौसल्ये त्वरयन्ति माम् ।

अतस्तु किं दुःखतरं यदहं जीवितक्षये ॥ ६७ ॥

हे कौसल्ये ! यमराज के दूत, चलने के लिए जल्दी कर रहे हैं । अतः अब इससे बढ़ कर अन्य दुःख कौन सा हो सकता है कि, मैं मरते समय भी ॥ ६७ ॥

न हि पश्यामि धर्मज्ञं रामं सत्यपराक्रमम् ।

तस्यादर्शनजः शोकः सुतस्याप्रतिकर्मणः १ ॥ ६८ ॥

उस सत्यपराक्रमी और धर्मात्मा राम को नहीं देख रहा हूँ । उम पुत्र को, जिसने कभी मेरा किसी बात में सामना नहीं किया न देखने से उन्पन्न शोक ॥ ६८ ॥

उच्छ्रोष्यति मे प्राणान्वारि स्तोकमिवातपः ।

न ते मनुष्या देवास्ते ये चारुशुभङ्कुण्डलम् ॥ ६९ ॥

मेरे प्राणों को उसी प्रकार सोख रहा है, जिस प्रकार उष्णता जल को थोड़ा थोड़ा कर सुखानी है । वे मनुष्य नहीं, किन्तु देवता हैं, जो सुन्दर कुण्डल पहिने हुए ॥ ६९ ॥

मुरां द्रक्ष्यन्ति रामस्य वर्षे पञ्चदशे पुनः ।

पद्मपत्रेक्षणं सुभ्रुं सुदंष्ट्रं चारुनामिकम् ॥ ७० ॥

कमल नेत्र वाले, सुन्दर भ्रुकुटि वाले, सुन्दर दाँतों वाले और सुन्दर नासिका युक्त श्रीराम के मुख को पन्द्रहवें वर्ष पुनः देखेंगे ॥ ७० ॥

धन्या द्रक्ष्यन्ति रामस्य ताराधिपनिभं मुखम् ।

सदृशं शारदस्येन्दोः फुल्लस्य कमलस्य च ॥ ७१ ॥

सुगन्धि मम नाथस्य धन्या द्रक्ष्यन्ति तन्मुखम् ।

निवृत्तवनवासं तमयोध्यां पुनरागतम् ॥ ७२ ॥

वे लोग धन्य हैं, जो श्रीगम के चन्द्रमा तुल्य मुख को देखेंगे । शरद पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान, प्रफुल्लित कमल की सुगन्ध से युक्त, श्रीराम का मुख जो लोग उनके वनवास से लौट कर अयोध्या में आने पर देखेंगे, वे धन्य हैं ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

द्रक्ष्यन्ति सुखिनो रामं शुक्रं मार्गगतं यथा ।

कौसल्ये चित्तमोहेन हृदयं सीदतीव मे ॥ ७३ ॥

अथवा अपने मार्ग को प्राप्त हुए शुक्र की तरह वनवास से अयोध्या में आए हुए श्रीगम को जो लोग देखेंगे, वे यथार्थ में सुखी होंगे । हे कौसल्ये ! मन की घबड़ाहट से मेरा हृदय अब कटा जाता है ॥ ७३ ॥

येन वेद न संयुक्ताञ्छब्दस्पर्शरसानहम् ।

चित्तनाशादिपद्यन्तेऽसर्वाण्येवेन्द्रियाणि मे ॥ ७४ ॥

अतएव इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले शब्द, स्पर्श, रसादि गुण भी मुझे नहीं जान पड़ते । क्योंकि चित्त के नाश होने पर ये सब इन्द्रियाँ भी वैसे ही नष्ट हो जाती हैं । ॥ ७४ ॥

१ हृदयं—मनसाधिष्ठान (गो०) २ सीदताव—विशीर्षतीव । (गो०)

३ विपद्यते—परिणतानिभवन्ति । (शि०) \* पाठान्तरे—'वेददे न च ।'

वीणस्नेहस्य दीपस्य संसक्ताः रश्मयो यथा ।

अथमात्मभवः शोको मामनाथमचेतसम् ॥ ७५ ॥

जैसे तेज के जल जाने पर दीपक का प्रकाश नष्ट हो जाता है। यह मेरे हृदय में उत्पन्न शोक मुझ अचेत और अनाथ को, ॥७५॥

संसादयति वेगेन यथा कूलं नदीरयः ।

हा राघव महाबाहो हा ममायासनाशनः ॥ ७६ ॥

उसी प्रकार गिरा रहा है, जिस प्रकार नदी की धार का वेग नदी के करारे को गिराता है। हा राघव ! हा महाबाहो ! हा मेरे दुःख को दूर करने वाले ! ॥७६॥

हा पितृप्रिय मे नाथ हाऽद्य क्वासि गतः सुत ।

हा कौसल्ये त्रिनश्यामि हा सुमित्रे तपस्विनि ।

हां नृसिंसे ममामित्रे कैकेयि कुलपांसनि ॥ ७७ ॥

हा पिता के लाटले, हे मेरे नाथ ! हे मेरे चेट, तुम कहाँ गए ? हा कौमल्या, हा तपस्विना सुमित्रा ! अन्न मैं मरता हूँ ! हा क्रूर मेरी धैरिनी और कुलनाशिनी कैकेयी ! ॥७७॥

इति रामस्य मातुश्च सुमित्रायाश्चसन्निधौ ।

राजा दशरथः शोचञ्जीवितान्तमुपागमत् । ७८ ॥

इस प्रकार महाराज दशरथ न राममाता और सुमित्रा की सन्निधि में, विलाप करते हुए अपने प्राण त्याग दिष्ट ॥७८॥

१ ससक्त — शीशविनाभूता । (गो०) २ आय सनाशन—दुःख नाशन । (गो०) \* पाठान्तरे—‘अचेतनम्’ । † पाठान्तरे—‘नशिष्यामि’ ।

तदा ॐ तु दीनं कथयन्नराधिपः ।

प्रियस्य पुत्रस्य विवासनातुरः ।

गतेर्धरात्रे भृशदुःखपीडितः

तदा जहौ प्राणमुदारदर्शनः ॥ ७६ ॥

इति चतु.प.ष्टतमः सर्गः ॥

उदार एव दर्शनीय महारज ने दीन वचन कहते हुए, प्रिय पुत्र के वनवास से व्याकुल हो, आधी रात बीतने पर, अत्यन्त दुःखी हो प्राण त्यागे ॥७६॥

अयोध्याकाण्ड का चौसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:—

## पञ्चषष्टितमः सर्गः

—:—

अथ रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरैवापरेऽहनि ।

वन्दिनः पर्युपातिष्ठन्पार्थिवस्य निवेशनम् ॥ २ ॥

रात बीतने पर अगले दिन प्रातःकाल के समय, महाराज के राजद्वार पर वन्द/जन आप ॥१॥

सूताः परमसंस्कारा' मागधाश्चोत्तमश्रुताः २ ।

गायकाः स्तुतिशीलाश्च निगदन्तः पृथक्पृथक् ॥ २ ॥

१ परमसंस्काराः—व्याकरणाद्युत्तमसंस्कारयुक्ताः । ( गी० ) २ उत्तमश्रुताः—वश्यम्भराश्वमेधाते मागधाः । ( रा. ) ० । ढान्तरे—यदाशु' ।

व्याकरणादि शास्त्रों में चतुर सूत और वंशपरम्परा का कीर्तन करने में निपुण मागध, तान, लय एवम् स्वर, के ज्ञाता गवैया, राजभवन के द्वार पर उपस्थित हो, अपनी रीति के अनुसार, पृथक् पृथक् महाराज के गुण कीर्तन करने लगे ॥२॥

राजानं स्तुवतां तेषामुदात्ताभिहिताशिषाम् ।

प्रासादाभोगनिस्वीर्णः स्तुतिशब्ददोष्णं व्यनर्धत ॥३॥

उच्चस्वर से महाराज की स्तुति करने वाले और आशीर्वाद देने वाले उन लोगों के नाद से सम्पूर्ण राजभवन भर गया ॥३॥

ततस्तु स्तुवतां तेषां सूतानां पाणिवादकाः ।

अपदानान्युदाहृत्य पाणिवादानादयन् ॥ ४ ॥

तदनन्तर ताली बजा कर ताल देने में निपुण ( पाणिवादक ) लोग ताली बजा बजा कर महाराज के अद्भुत कर्मों का वर्णन करने लगे ॥४॥

तेन शब्देन विहगाः प्रतिबुद्धा विसस्वनुः ।

शाखास्थाः पञ्जरस्थाश्च ये राजकुलगोचराः ॥ ५ ॥

इससे वे पक्षी जो राजभवन के घुँसों की शाखाओं पर रहते थे और जो पालतू होने के कारण पिंजड़ों में रहते थे, जागे और बोलने लगे ॥५॥

व्याहृताः२ पुण्यशब्दाश्च३ वीणानां चापि निःस्वनाः।

आशीर्गेयं च गाथानां४ पूरयामास वेश्म तत् ॥ ६ ॥

१ अपदानानि—वृत्तान्यद्भुतकर्मणि । (गो०)२ व्याहृता—प्राश-  
शौक्या । (गो०)३ पुण्यशब्दा—पुरुषचेष्टनायंकीर्तनादिरूपा । (गो०)-  
४ गाथानां—दशरथ विषय प्रबन्ध पुण्य विशेषाणा । (गो०) • पाटान्तरे  
—“सर्वत” ।

ब्राह्मणों के आशीर्वादानक वाक्यों से, पालतू पक्षियों की उन दौलियों से, त्री भगवन्नाम अथवा पवित्र तीर्थों के नाम ले कर बल गृहे धे, चोरा की ध्वनि से, आशीर्वाद में तथा महाराज दशरथ मन्त्रन्धी प्रबन्ध विशेषों के बन्धान से राजभवन पूरित हो गया । ६॥

ततः शुचिसमाचाराः पर्युपस्थानकोविदाः? ।

स्त्रीवर्षधरभृयिष्ठा उपतस्थुर्ययापुरम् ॥ ७ ॥

तदन्तर सप्तचर मन्पन्न कालोचित सेवा करने में निपुण और नपुनक ( खोजा लोग ) प्रति दिन प्रधानुमार आ कर उपस्थित हू ॥७॥

हरिचन्दनसम्पृत्तमुदकं काञ्चनैर्वटैः ।

श्यानिन्युः स्नानशिञ्जा यथाकालं यथाविधि ॥ ८ ॥

महाराज जो स्नान करवाने वाले लोग जो स्नान करने की विधि के विशेषज्ञ थे, सुवर्ण के कलमों में हरिचन्दन मिठा हुआ जल भर कर यथामन्य और यथाविधान लाए ॥८॥

मङ्गलालम्भनीयानि प्राशनीयान्युपस्करान् ।

उशानिन्युस्तथाऽप्यन्याः कुमारीः बहुलाः स्त्रियः ॥ ९ ॥

अनेक कुमारीप्राय सुन्दर स्त्रियां ने तेल उबटनादि, दन्त-घावन तथा कुन्नी करने के लिए जलादि तथा शीशा, कया, तोलिया आदि सामग्री ला कर उपस्थित की ॥९॥

१ पर्युपस्थानकोविदाः—कालोचितसर्वविचक्षणः । (गो०) २ स्त्री वर्षधरभृयिष्ठाः—अन्तःपुराभ्यक्षेत्रीभिः वर्षधरैः परवैश्वतमृदा । (गो०) ३ कुमारीबहुलाः—कुमारीप्रायाः । (ग०)

सर्वलक्षणसम्पन्नं सर्वं विधिवदर्चितम् ।

सर्वं सुगुणलक्ष्मीवत्तद्वभूवाभिहारिकम् ॥ १० ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण लक्षण युक्त, विधि पूर्वक मजी हुई, अतः सर्वगुण और शोभायुक्त, महाराज के प्रातःकृत्यकी मव सामग्री ला कर एकत्र की गयी ॥१०॥

तत्तु सूर्योदयं यावत्सर्वं परिसमुत्सुकम् ।

तस्थानुपसम्प्राप्तं किंस्विदित्युपशङ्कितम् ॥ ११ ॥

सूर्योदय पर्यन्त सब लोग महाराज के दर्शनों के लिए उत्कण्ठित रहे और आपस में कहते थे कि, कारण क्या है, जो महाराज आज अब तक मो कर नहीं उठे ॥११॥

अथ याः कोसलेन्द्रस्य शयनं१ प्रत्यनन्तराः ।

ताः स्त्रियस्तु समागम्य भर्तारं प्रत्यबोधयन् ॥ १२ ॥

कौसल्या जी के अतिरिक्त और जो सब स्त्रियाँ वहाँ महाराज की सेज के समीप थीं, मिल कर महाराज को जगाने लगीं ॥१२॥

तथाप्युचितं२ घृत्तास्ता विनयेन३ नयेन४ च ।

न ह्यस्य शयनं स्पृष्ट्वा किञ्चिदप्युपलेभिरे ॥ १३ ॥

उन स्त्रियों ने घड़े प्यार से और युक्ति से, महाराज के शरीर को स्पर्श कर, जब देखा, तब उनमें जांचित पुरुष जैसे कुछ भी

१ शयनप्रत्यन्तरा—शयनसन्निकृष्टादत्यर्थः । (गो०) २ उचित-  
घृत्ताः—स्पर्शनादिव्यापारोचिताः । (गो०) ३ विनयेन—प्रभयेण ।  
(गो०) ४ नयेन—युक्त्या । (गो०)



चेष्टा न पायी ( अर्थात् सौम का आना जाना आदि न बात पदा ) ॥१३॥

ताः स्त्रियः स्वप्नशीलनाश्रुष्टामञ्चलनादिषु ।

तां वेपथुपरीताश्च राज्ञः प्राणेषु शङ्किताः ॥ १४ ॥

तब वे सब स्त्रियाँ, जो महाराज के मोन के समय ही हालत चेष्टा और नाडीसङ्चार को भता भाँत जानती थीं, महाराज की यह दशा दर, थरथरा उठो और महाराज के जीवित रहने में उनको सन्देह उत्पन्न हो गया ॥१४॥

प्रतिस्रोतस्त्रुणाग्राणां सदृशं सञ्चकम्पिरे ॥

अथ सवेपमानानां स्त्रीणां दृष्ट्वा च पार्थिवम् ॥१५॥

महाराज के जीवित रहने में सन्देह उत्पन्न हो जाने के कारण वे सब स्त्रियाँ उसी प्रकार थरथर काँपने लगी जिम प्रकार नदी के सोते में उत्पन्न वेत या मरकुल काँपा करता है ॥१५॥

यत्तदाशङ्कितं पापं तस्य जज्ञे विनिश्चयः ।

कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकपराजिते ॥ १६ ॥

उन लोगों को महाराज के जीवित रहने में जो सन्देह था, वह अब निश्चय में परिणत हो गया—( अर्थात् उनको निश्चय हो गया कि, महाराज ने शरीर त्याग दिया ) । तब कौसल्या और सुमित्रा जा पूर्वों के प्रियोगत य शोक से प्रमत्त हो ॥१६॥

१ स्वप्नशीलता—स्वापस्वभावता । ( गो० ) ० मत्पाप—मरणरूप माघद्वित । ( ग० ) १ पराजिते—आजान्ते । ( गो० ) ० पाठान्तरे—  
‘सचनाश्रिरे’ ।

प्रमुप्ते न प्रमुष्येते यथाकालममन्त्रिते' ।

निष्प्रभा च विवर्णा च सन्ना शोकेन सन्नता ॥ १७ ॥

मृतक की तरह मो रहा थीं न चाग । मारे शोक ने कौमल्या  
निस्नेह और पीली पड़ गई थीं उनका शरीर एकदम कुण्ठ हो  
गया था ॥ १७ ॥

न व्यराजत कौसल्या तारेव तिमिरावृता ।

कौसल्यानन्तरं राज्ञः सुमित्रा तदनन्तरम् ॥ १८ ॥

जिम प्रकार बादल के अंधेरे में छिपे नक्षत्र शोभित नहीं  
होते, वैसे ही महारज के ममीप कौमल्या व सुमित्रा गोमरूपी  
बादल से ढकी होने के कारण शोभा रहित हो रही थी ॥ १८ ॥

न स्म विभ्राजते देवी शोकाश्रुलुलितानना ।

ते च दृष्ट्वा तथा मुप्ते उभे देव्यौ च तं नृपम् ॥ १९ ॥

राजमदन की अन्य स्त्रियों भी शोक से अश्रुपात करती हुई  
शोभित नहीं होती थीं । उन स्त्रियों ने देखा कि, कौमल्या और  
सुमित्रा मो रही हैं और महाराज ॥ १९ ॥

सुप्तमेवोद्गतप्राणमन्तःपुरमदरयत ।

ततः प्रचुक्रुशुर्दीनाः सस्वर ता वराङ्गनाः ॥ २० ॥

के निद्रावस्था ही में प्राण निकले हुए देग, वे अन्तःपुरवा-  
सिनी स्त्रियाँ अति दीन हो उद्यःस्वर से राने लगी ॥ २० ॥

करेणव इमारण्ये स्थानप्रच्युतयुधपाः ।

तासामाक्रन्दशब्देन सहसोद्गतचेतने ॥ २१ ॥

निस प्रकार वन में अपने समूह से विद्युडने पर हथनियाँ चिल्लाती हैं, उसी प्रकार इन सत्र का बड़े जोर से रोने का चीत्कार सुन, एकाएकी जाग कर ॥ २१ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च पार्थिवम् ।

हा नाथेति परिक्रुश्य पेततुर्धरणीवत्ते ॥ २२ ॥

कौसल्या और सुमित्रा महाराज को देख वा उनके शरीर पर हाथ रख ( और शरीर को ठंडा पा और महाराज को मरा हुआ जान, ) "हा नाथ !" कह कर चिल्लाती हुई, पृथिवी पर पड़ाड खा कर, गिर पड़ीं ॥ २२ ॥

सा कोमलेन्द्रदुहिता वेष्टमाना महीतले ।

न वभ्राज रज्जौघ्वस्ता तारेव गगनाच्च्युता ॥ २३ ॥

कौसल्या की जमीन पर लोट रहीं थीं, अतः उनके सारे शरीर में धूल लग गई थी । उस समय धूलधूसरित वे आकाश से गिरे हुए तारा की तरह जान पड़ती थीं ॥ २३ ॥

नृपे शान्तगुरोः जाते कौसल्यां पतितां भुवि ।

अपश्यंस्ताः स्त्रियः सर्वा हता नागवधूमिव ॥ २४ ॥

महाराज के मरने पर, कौसल्या को जमीन पर लोटते हुए उन सत्र स्त्रियां न ऐसे देखा, मानों कोई नागवधू पड़ी हो ॥ २४ ॥

ततः सर्वा नरेन्द्रस्य कैत्रेयीप्रमुखा स्त्रियः ।

रुदन्त्यः शोभन्तस्ता निपेतुर्वरणीतले ॥ २५ ॥

तत्र महाराज का कैत्रेयी आदि स० स्त्रियों को स्नान करती हुई, शोभ से सन्तप्त होन के कारण, मूर्च्छित हा, जमीन पर गिर पड़ी ॥ २५ ॥

ताभिः स बलान्नादः क्रोशन्तीभिरनुद्रुतः १ ।

येन स्थिरीकृत भूयस्तद्गृह समनादयत् ॥ २६ ॥

तदनन्तर (पूव) आदि हुई स्त्रियों के रोने का तुमुल शब्द पीछे आई हुई कैत्रेयी आदि स्त्रिया के रोने के शब्द संमिल, और भी अधिक हा गया और उस आतनाद से सम्पूर्ण राज भवन पूरित हो गया ॥ २६ ॥

तत्समुद्रस्तसम्भ्रान्त पर्युन्मुक्कननाकुलम् ।

सर्वतस्तुमुलाक्रन्द परितापार्थधान्यवम् ॥ २७ ॥

सद्यो निपतितानन्द दीनविक्लमदर्शनम् ।

बभूव नरदवस्य सद्य दिष्टान्तमीषुषः ॥ २८ ॥

उस समय महाराज दशरथ का राजभवन प्रस्त, विकल और व्यग्र जनो से भरा, महा चिन्तार से युक्त और परिताप से सन्तप्त चन्दुबनो से भरा हुआ, आनन्द रहित और दानता से परिपूर्ण हो गया था । यह राजभवन भाग्यहीन सा दृश्य पड़ता था ॥ २७ ॥ २८ ॥

श्रीतीतमाज्ञाय तु पार्थिवर्षभं

यशास्विनं सम्परिचार्य पत्नयः ।

१ अनुद्रुत — अनुसृताभूत् । (गो०) छुपाटावर — 'निपतुगचेतना' "

भृशं रुदन्त्यः करुणं मुदुःखिताः

प्रगृह्य वाहृ व्यलपन्ननाथवत् ॥ २६ ॥

इति पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥

राजाओं में श्रेष्ठ और बशस्वी महाराज दशरथ को मरा देख, उनकी सब रानियाँ महा दुःखी हो अत्यन्त करुणपूर्ण स्वर से रो-रो कर और महाराज दशरथ की वाहें पकड़ अनाथ की तरह विलाप करने लगीं ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:ॐ:—

षट्षष्टितमः सर्गः

—:००:—

तमग्निमिव संशान्तमम्बुहीनमिवार्षवम् ।

हतप्रभमिवादित्यं स्वर्गस्थं प्रेक्ष्य पार्थिवम् ॥ १ ॥

महाराज दशरथ को बुझी हुई आग अथवा जलहीन समुद्र अथवा हतप्रभ सूर्य की तरह स्वर्गवासी हुआ देख, ॥ १ ॥

कौसल्या बाष्पपूर्णाक्षी विविधं शोककरिता ।

उपगृह्य शिरो राज्ञः कैकेयीं प्रत्यभाषत ॥ २ ॥

कौसल्या ने महाराज का सिर अपनी गोद में रख और विविध प्रकार के शोकों से उत्पीड़ित होने के कारण रोते-रोते कैकेयी से कहा ॥ २ ॥

सकामा भव कैकेयि भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम् ।

त्यक्त्वा राजानमेकाग्रा? नृशंसे दुष्टचारिणि ॥ ३ ॥

धरौ दुष्टा कसाइन । अत्र अपनी माय पूरी कर और निष्कण्टक राज्य मुख्य भोग । महाराज को भिदा कर, अब तू अपने पुत्र के राज्यमुख में एकाग्रचित्त हो ॥ ३ ॥

विहाय मां गतो रामो भर्ता च स्वर्गतो मम ।

निपये सार्धहीनवर नाहं जीरितुमुत्तमहे ॥ ४ ॥

श्रीराम तो मुझे छोड़ चला ही गया था, महाराज भी अत्र नहीं रहे । दुर्गम पथ में सहायक साथी छूटे हुए पथिक की तरह, मुझे अत्र जीने की माय नहीं है ॥ ४ ॥

भर्तारं तं परित्यज्य का स्त्री दैरतमात्मनः ।

इच्छेज्जीरितुमन्यत्र कैकेय्यास्त्यक्तधर्मणः ॥ ५ ॥

हाय ! कौन ऐसी स्त्री होगी, जो अपने परम दैरता स्वामी को छोड़ कर, जीरित रहना पसन्द करेगी । एक कैकेयी अत्रय जीवेगी, क्योंकि उसने अरना धर्म त्याग दिया । ( अर्थात् पति-व्रत धर्म ) ॥ ५ ॥

न लुब्धो बुध्यते दीपान्ःकिपाकमिव भक्षयन् ।

कुञ्जानिमित्तं कैकेय्या राघलाणां कुलं हतम् ॥

हा ! जो लालचोद्भूत है वह लालच के दुष्टरिणाम की ओर ध्यान नहीं देता, जैसे भूया मनुष्य विषमिश्रित पदार्थ को छुग

१ एकाम्रा—पुत्रराग्यैकाग्रचित्त । ( ग० ) २ सार्धहीना—सहाय-  
भूत पथिकसद्वरहितेत्यर्थः । ( गो० ) ३ किम्पाक—चूतितवराक ( गो० ) ।

वश खाते समय तबजानित दुष्परिणाम की ओर ध्यान नहीं देता,  
हा ! छुज्जा के बहने से कैकेयी ने महाराज रघु के हृत् का  
नाश कर डाला ॥ ६ ॥

अनियोगे नियुक्तेन राज्ञा रामं विवाहितम् ।

सभार्य जनकः श्रुत्वा परितप्यत्यहं दया ॥ ७ ॥

जब राजा जनक सुनने दि, कैकेयी के द्वारा अनुचित रीति  
से भेरेला किए जाने पर महाराज दशरथ ने रामचन्द्र की स्त्री  
सहित वन भेज दिया, तब उनको मन्ताप होगा । ॥ ७ ॥

स मामनार्यां विधवां नाथ जानाति धार्मिकः ।

रामः कमलपत्राक्षो रत्नविनाशानितो रतः ॥ ८ ॥

इस समय कमलपत्र धर्मात्मा राम यह न जानता होगा  
कि, यहाँ महाराज के मरने से मैं अनाथा और विधवा हो  
गई ॥ ८ ॥

विदेहराजस्य सुता तथा सीता तपस्विनी ।

दुःखस्वानुचिता दुःखं वने पर्युद्विजिप्यते ॥ ९ ॥

राजा जनक की पुत्री दासुरी सीता जो दुःख सहने योग्य नहीं  
है, वन में अनेक प्रकार के दुःख पाकर घबड़ाती होगी ॥ ९ ॥

नदतां भीमघोषाणां निशानु मृगपक्षिराम् ।

निशाम्य नूनं संवस्ता राघवं संश्रयिष्यति ॥ १० ॥

१ अनियोगे—वरप्रदानसमये वरस्य विशेषनिर्देशामात्रे कति (गो०)  
२ वीवनाशगतः—राजाजं वनाशगतः प्राप्तः । (गो०) ३ रतः अत्रदेशे ।  
(गो०) ४ तपस्विनी—योचनार्था । (गो०) ५ राटान्तरे—‘विजिप्यति’ ।

मीना जन कि, रात मे सिंह क्याघ्रादि जन्तुओं का टरायना दहाड़ना और पत्तियों को चीनियाँ सुनतो होगी, तर मारे डर के श्रीराम के गले मे लिपट जाती होगी ॥ १० ॥

वृद्धश्चैवान्पुत्ररच? वैदेहीमनुचिन्तयन् ।

सोऽपि र शोकममापिथे ननु त्यज्याति जीरितम् ॥११॥

वे रा ना जनक भी, जो बूढ़े हैं और जिनके केवल कन्या सन्तति है, सीता जी के कष्टों का स्मरण कर और शोक से विफल हो, शरीर छोड़ देंगे ॥ ११ ॥

साऽहमधैर? दिष्टान्तं गमिष्यामि पतिव्रता ।

इद शरीरमालिङ्ग्य प्रवेद्यामि हुताशनम् ॥ १२ ॥

अतः पतिव्रत धर्म का पालन करती हुई मैं आज ही प्राण त्यागने के लिए, महाराज के शय से चिपट, अग्नि में प्रवेश करूँगी अर्थात् सती हो जाऊँगी ॥ १२ ॥

तां ततः सम्परिप्रेज्य त्रिलपन्तीं तपस्वनीम् ।

ऋष्यपनिन्युःसुदुःखार्ता कौसल्या व्यावहारिकाः ॥१३॥

अन्त पुर के तथा राज्य के रीति व्यवहार (अथात् ज्ञाता) जानने वाले अर्थात् मत्रियों ने महाराज के शय से अत्यन्त दुःखिनी वापूरी कौशल्या को हटा कर अलग किया ॥ १३ ॥

१ अहमधैर — दुहितृमात्रपुत्रः । (गो०) २ सोऽपि — जनकापि । (गो०)

३ दिष्टान्तं — मरणं । (गो०) ४ व्यावहारिका — व्यवहारसह्याम्बन्तरे

सकलसम्बन्धोत्पिपुला समत्याशयार्थं । (गो०) ऋष्यपान्तरे — “स्वपुत्रोप”



तैलद्रोण्यामथामात्पाः संवेश्य जगतीपतिम् ।

राज्ञः सर्वाण्यथादिष्टरचक्रुः कर्माण्यनन्तरम् ॥१४॥

और उन मंत्रियों ने महाराज के शव को तेल भरे बड़ाह में रख दिया जिससे शव बिगड़े नहीं । तदनन्तर वे पूर्व के राजा-ज्ञानुसार सब कृत्य करने लगे ॥ १४ ॥

न तु असस्करणं राज्ञो विना पुत्रेणमन्त्रिणः ।

सर्वज्ञाः कर्तुमीपुस्ते ततो रक्षन्ति भूमिपम् ॥१५॥

समयोचित वक्तव्यों को जानने वाले मंत्रियों ने बिना किसी राजकुमार के आए महाराज के शव के अत्रिसस्कारादि क्रिया कर्म करना उचित न समझा । अतः महाराज के शव (को तेल से भरी बड़ाई में) रखवा दिया ॥ १५ ॥

तैलद्रोण्यां तु सचिवैः शायितं तं नराधिपम् ।

हा मृतोऽयमिति ज्ञात्वा स्त्रियस्ताः पर्यदेवयन् ॥१६॥

जब मन्त्रि लोग महाराज के शव को तेल से भरी बड़ाई में लिटाने लगे, तब वे स्त्रियाँ महाराज का मरना निश्चय जान, हा 'महाराज ! मर गए ।'—कह कर विलाप करने लगीं ॥ १६ ॥

बाहूनुद्यन्य कृपणा नेत्रप्रस्रवणैर्मसैः ।

रुदन्त्यः शोकसन्तप्ताः कृपणं पर्यदेवयन् ॥ १७ ॥

वे दुःखिनी स्त्रियाँ अपनी भुजाओं को उठा उठा कर और आँसों से अधुवारा बहा तथा शोक से सन्तप्त हो, विलाप करने

हा महाराज रामेण सततं प्रिययादिना ।'

विहीनः सत्यसन्धेन किमर्थं विजहामि नः ॥१८॥

हा महाराज । हमे मदेव प्रिय बोलने वाले श्रीराम से रहित कर, आप हमें छोड़ कर क्यों चले जाते हैं । ॥ १८ ॥

कैकेय्या दुष्टभाषाया राघवेण वियोजिताः ।

कथं पतिघ्न्या वत्स्यामः समीपे विधवा वयम् ॥१९॥

अब हम श्रीरामचन्द्र जी से विद्रुह कर, इस दुष्टा तथा पति को मारने वाली कैकेयी के साथ, विधवा होकर, कैसे रह सकेंगी । ॥ १९ ॥

स हि नाथः सदाऽस्माकं तव च प्रभुरात्मवान्

वनं रामो गतः श्रीमान् विहाय नृपतिश्रियम् ॥२०॥

क्योंकि श्रीराम जो हमारे और आपके जीवनाधार थे, राज्यलक्ष्मी को छोड़, वन को चले गए ॥ २० ॥

त्वया तेन च वीरेण विना व्यसनमोहिताः ।

कथं वय निवत्स्यामः कैकेय्या च विद्रुपिताः ॥२१॥

अब हम मग तुम्हारे विना और राम के न रहने पर, दुःख में पैम, कैकेयी के निरस्कारों को सहन करती हुई किस प्रकार रह सकेंगी ? ॥ २१ ॥

यया तु राजा रामश्च लक्ष्मणश्च महाबलः ।

सीतया सह सन्त्यक्ता मा कमन्य न हास्यति ॥२२॥

विद्रुपिता — राज्यगवातिरस्मृता । (गो०) • पाठातरे—विहीना ।

जिम्मे महाराज को, राम एवं मनावली लक्ष्मण तथा सीता को त्याग करने में सङ्कोच न किया वह भला मित्तको नहीं त्याग सकती ॥ २२ ॥

ता वाप्येष च संवीतः शोकैः विपुलेन च ।

व्यवेष्टन्त निरानन्दा राघवस्य वरस्त्रियः ॥ २३ ॥

इस प्रकार महाराजा दशरथ की सर्वश्रेष्ठा रानियों नेत्रों से आँसु बहाती और महाशोकग्रस्त होने के कारण, आनन्दरहित हो गयीं ॥ २३ ॥

निशा चन्द्रविहीनेव स्त्रीषु भर्तृविवर्जिता ।

पुरी नाराजतायोध्या विना राजा महात्मना ॥ २४ ॥

उम समय अयोध्यापुरी चन्द्र बिन यामिनी और चन्त विन कामिनी की तरह, महाराज दशरथ के विना अञ्जी नहीं लगती थी ॥ २४ ॥

वाप्यपर्याकुलजना हाहाभूतकुलाङ्गना ।

शून्यचत्वरवेश्मान्ता न वभ्राज यथापुरम् १ ॥ २५ ॥

क्योंकि जिवर देखों घर लोग राते हुए देव पड़ते थे और द्विर्दो हाहाकार मचा रहो थी । घर और चौराहों में भाङू तरु नहीं पडी थी । नारांश यह कि अयोध्या की जैसी शोभा पहले थी; वैसी अब नहीं देख पडती थी ॥ २५ ॥

गते तु शोकाः त्रिदिवं नराधिपे

महीतलस्थासु नृपाङ्गनासु च ।

१ शून्यचत्वरेश्मान्ता—समाजनातुनेपनदल्यादि शून्यचत्वरदियुक्तेति यावत् (गो०) २ यथापुर—यथापूर्व । (गो०) ३ शोवात्—पुत्रशकात् । (गो०)

निवृत्तचारः<sup>१</sup> सहसा गतो रविः

प्रवृत्तचारा<sup>२</sup> रजनी ह्युपस्थिता ॥ २६ ॥

पुत्रशोक मे महाराज दशरथ के स्वर्ग सिधारने पर, उनकी सत्र रानियाँ जमोन पर पड़ी रो रही थीं। इनने में दिन बूब गया और श्रंधकार को लिए हुए रात हो आयी ॥ २६ ॥

श्रुते तु पुत्राद्दहनं महीपतेः

न रोचयन्ते सुहृदः समागताः ।

इतीम तस्मिञ्शयने न्यवेशयन्

विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥ २७ ॥

राजबरा के जो द्वितीरी भाईयद वहाँ एत्र हुए थे, उन लोगों ने विचार कर यह निश्चय किया कि, बिना किसी राजपत्र के थाण महाराज के शय की दाहनियाँ किया जाना ठीक नहीं है। अतः शय को तेल के बड़ा में रखा रहने दिया जाय ॥ २७ ॥

गतप्रभा धीरिभ भास्वरं विना

व्यपेतनवत्रगणैश्च शर्वरी ।

पुरी वभासे रहिता महात्मना

न चास्रफण्डाऽऽकुलमार्गचत्वरं ॥ २८ ॥

उम समय महाराज के स्वर्ग सिधारने पर अयोध्यापुरी की सड़कें और चौराहों पर रोते हुए और घण्टाघण्ट वाल लोगों

१ निवृत्तचार — निवृत्तकिरणप्रचार । ( गो० ) २ प्रवृत्तचार — प्रवृत्तम प्रचार । ( गो० )

की भीड़ हो जाने से, अयोध्यापुरी सूर्यहीन आराश अथवा नक्षत्र  
होन रात्रि की तरह प्रमाहीन हो गई ॥ २८ ॥

नराश्व नायश्व समेत्य सङ्घशो

विगर्हमाणा भरतस्य मातरम् ।

तदा नगर्यां नरदेवसंजये

वभृवुराती न च शर्म लेभिरे ॥ २९ ॥

इति पदपट्टितमः सर्गः

महाराज के स्वर्गवासी होने पर, अयोध्यापुरीवासी क्या  
पुरुष, क्या स्त्री, मच इकट्ठे हो, एक स्वर से भरत की माता  
कैकेयी को धिक्कारने लगे । उस समय सभी दुःखी थे; सुखी  
कोई न था ॥ २९ ॥

अयोध्याकाण्ड का छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—०—

सप्तपट्टितमः सर्गः

—:०:—

श्याक्रन्दितनिरानन्दा साश्रुकण्ठजनाकुला ।

अयोध्यायामनतताः सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥

रोते रोते किसी के भी मन में आनन्द नहीं रह गया था,  
मन लोग आँसू गिराते बरानर रो रहे थे । वह दुःख की रात  
लोगों के लिए पहाड़ जैनी बड़ी हो गई थी । किसी न किसी  
तरह वह व्यतीन हुई ॥ १ ॥

व्यतीतायां तु शर्वर्यामादित्यस्योदये ततः ।

समेत्य राजकर्तारः सभामीशुर्द्विजात्पयः ॥ २ ॥

जब रात बीती और सूर्य उदय हुए, तब राजकाज में माहाय्य देने वाले अधिकारी द्विज इकट्ठे हो सभा में आए ॥ २ ॥

मार्कण्डेयोऽथ मौद्गल्यो वामदेवश्च कश्यपः ।

कात्यायनो गौतमश्च जानालिश्च महायशाः ॥ ३ ॥

इनमें सब से अधिक प्रसिद्ध अथवा मुख्य थे मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, कश्यप, कात्यायन, गौतम और जानालि ॥३॥

एते द्विजाः सहामात्यैः पृथग्वाचमुदीरयन् २ ।

वसिष्ठमेवाभिमुखाः श्रेष्ठं राजपुरोहितम् ॥ ४ ॥

ये ब्राह्मण मंत्रियों साहित आकर सर्वश्रेष्ठ राजपुरोहित वसिष्ठ जी के सामने बैठ, अलग अलग अपना अपना आशय प्रकट करने लगे ॥ ४ ॥

अतीता शर्वरी दुःखं या नो वपशतोपमा ।

अस्मिन् पञ्चत्वमापन्नो पुत्रशोकैः पार्थिवे ॥ ५ ॥

बीती हुई रात, जो हमें सौ वष के समान जान पड़ती थी, किसी प्रकार बीती । क्योंकि इसी रात में पुत्रशोक से विकल महाराज दशरथ पञ्चत्व को प्राप्त हुए ( मर ) ॥ ५ ॥

स्वर्गतश्च महाराजो रामश्चारणमाश्रितः ।

लक्ष्मणश्चापि तेजस्वी रामेणैव गतः सह ॥ ६ ॥

१ पृथक्—भिन्न । ( शि० ) २ उदीरयन्—अकपयन् । ( शि० )

महाराज स्वर्गवासी हुए हैं और श्रीरामचन्द्र जी वन में हैं ।  
तेजहरी लक्ष्मण भी श्री राम के साथ वन में हैं ॥ ६ ॥

उभौ भरतशत्रुघ्नौ कैरुयेषु परन्तौ ।

पुरे राजगृहे रम्ये मातामहनिवेशने ॥ ७ ॥

परन्तप दोनों भरत और शत्रुघ्न कैरव्य देश की राजधानी में  
अपने नाना के घर में विराजमान हैं ॥ ७ ॥

इच्छाकृत्नामिहाद्यैव राजा कश्चिद्विधीयताम् ।

अराजकं हि नो राष्ट्रं न विनाशमवाप्नुयात् ॥ ८ ॥

अतः इच्छाकृतं शीघ्र ही किसी पुरुष को आज ही राजा बनाना  
चाहिए । नहीं तो वहीं राजा के बिना हमारा राष्ट्र नष्ट न हो  
जाय ॥ ८ ॥

नाराजके जनपदे त्रिद्युन्माली महास्वनः ।

अभिवर्षति पर्जन्यो महीं शिष्येन वारिणा ॥ ९ ॥

क्योंकि जहाँ राजा नहीं होता, वहाँ त्रिजली की चमक सहित  
अत्यन्त गरजने वाले मेघ दिव्य जल पृथिवी पर नहीं बरमाते-  
अर्थात् ओले बरमाते हैं ॥ ९ ॥

नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते ।

नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वशे ॥ १० ॥

अराजक देश में किमान लोग खेतों में बीज नहीं छिटकाते,  
और अराजन देश में पुत्र पिता के और स्त्री अपने पति के वश  
में नहीं रहती अर्थात् मय स्वतंत्र हो जाते हैं ॥ १० ॥

१ शिष्येनेत्यनेन शिलावर्षस्तुभविष्यतीतिभावः । ( गो० )

अराजके धनं नास्ति नास्ति १भार्याऽप्यराजके ।

इदमत्याहितं चान्यत्कृतः सत्यमराजके ॥ ११ ॥

अराजक देश में धन नहीं रहने पाना ( क्योंकि चोर डाकू चरजोरी ले लेते हैं । ) स्त्रियों व्यभिचारिणी हो जाती हैं और घर में नहीं रहतीं । जन घर की स्त्री तक का ठिकाना नहीं, तब सत्य भला कैसे रह सकता है । ( अर्थात् अराजक देश में सत्य-व्यवहार भी नहीं रह जाता ) ॥ ११ ॥

नाराजके जनपदे कारयन्ति समां नराः । ।

उद्यानानि च रम्याणि हृष्टाः पुण्यगृहाणि २ च ॥ १२ ॥

अराजक देश में प्रसन्न हो कर प्रजाजन ( अग्वन्ध मन रहने के कारण ) न तो सभा समाज करते, न रमणीक वाग वगीचा लगवाते—( क्योंकि राजा के दंड का भय न रहने से लोग पेड़ काट डालते हैं ) और न पुण्य बढ़ाने वाले देवालय ( अथवा धर्म शालाएँ ) आदि बनवाते हैं ॥ १२ ॥

नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः ।

३सत्राण्यन्वासते दान्ता ब्राह्मणाःसंशितव्रताः ॥ १३ ॥

अराजक देश में न तो द्विजानि यज्ञ करत और न बटोर व्रत धारण करने वाले जितेन्द्रिय ब्राह्मण, महायज्ञ ही कराने हैं । ( विघ्न के भय से ) ॥ १३ ॥

१ नास्तिभार्या—व्यभिचारनिरतत्वात् गृहे न तिष्ठतीत्यर्थः । ( शि० )

२ पुण्यगृहाणि—देवतापूजादीनि । ( गो० ) ३ सत्राणि—महायज्ञान् । ( गो० )



नाराजके जनपदे महायज्ञेषु यज्वनः ।

ब्राह्मणाः सुसम्पन्नाः निसृजन्त्याप्तदक्षिणाः १ ॥ १४ ॥

अराजक राज्य में धनसम्पन्न ब्राह्मण भी बड़े यज्ञों में श्रुतिजों को भूरि दक्षिणा नहीं देते ॥ १४ ॥

नाराजके जनपदे ग्रहणनटनर्तकाः ।

उत्सवाश्च समाजश्च स्वर्धन्ते राष्ट्रधनाः ॥ १५ ॥

अराजक राज्य में नट और वेड़िया लोग भी ( आनीबिका के अभाव से ) प्रसन्न नहीं रहते । और न वहाँदेशकी वृद्धि करने वाले देवोत्सव होते हैं और न तीर्थों पर यात्रियों के भेले आदि ही लगते हैं ॥ १५ ॥

नाराजके जनपदे सिद्धार्थाः व्यवहारिणः ५ ।

कथाभिरनुरज्यन्ते कथाशीलाः कथाप्रियेः ॥ १६ ॥

अराजक राज्य में व्यवहार करने वालों में ( रुपये का लैन देन करने वालों में ) अथवा ( माल बेचने गरीबने वालों में ) विवाद उपस्थित होने पर, किसी का भी प्रयोजनमिद्ध नहीं होता, अर्थात् मुसदमें लड़ने वालों का न्याय ( राजा के अभाव से ) नहीं होता । ( राजा के न रहने से पुरस्कार के अभाव में ) कथा वाचने वाले अन्धी कथा दाँच कर, कथा सुनने वालों को सन्तुष्ट नहीं करते ॥ १६ ॥

१ आप्तदक्षिणा — भूरिदक्षिणा । (गो०) २ उत्सवा — देवतोत्सवा । (गो०) ३ समाजा — तीर्थयात्रा । (गो०) ४ सिद्धार्था — लब्धप्रयोजना । (गो०) ५ व्यवहारिणः — सम्पत्सम्पत्सिद्धिसंयान्योन्य विवादमाना । (गो०)

नाराजके जनपदे उद्यानानि समागताः ।

सायाह्ने क्रीडितुं यान्ति कुभीर्यो हेमभूषिताः ॥१७॥

अराजक राज्य मे सोने के गहने धारण कर, कुमारियों साय-  
ह्वाल के समय बाटिकाओं और उपजों मे खेलने नहीं जाती ।  
(क्योंकि राजा के अभाव से चोर दुष्टों का भय रहता है) ॥१७॥

नाराजके जनपदे वाहनैः शीघ्रगामिभिः ।

नरा नियन्त्यरण्यानि नारीभिः सह कामिनः ॥१८॥

अराजक राज्य मे कामी पुरुष तेज चलने वाली गयारियों में  
बैठ, स्त्रियों सहित वनविहार करने नहीं जाते ॥१८॥

नाराजके जनपदे धनवन्त सुगचिता ।

शेरते विवृतद्वाराः कृपिगोरचर्जापिनः ॥ १९ ॥

अराजक राज्य मे धनी सुरक्षित नहीं रह सकते हैं ।  
किसान और ग्वाले गड़रिखे ही अपने घरों के विशाल  
द्वारों में सुग से सौ मकते हैं ॥१९॥

नाराजके जनपदे बद्धपण्डा विपाणिनः १ ।

अटन्ति राजमार्गेषु वृज्वराः पट्टिहायनाः १ १० १

अराजक राज्य में हाथी, जो माट के रास्तों  
पर, बड़े बड़े दाँतों वाले हो जाते हैं, घंटों के  
मार्गों पर नहीं चल सकते (क्योंकि गुंटे के  
पाट लें) ॥ २० ॥

१ विपणिनः—प्रशस्तदन्ताः । (गो०) १ १० १  
(गो०)

नाराजके जनपदे शरान् सततमभ्यस्यताम् ।

श्रूयते तलनिर्घोष इन्वत्तारासुपानने ॥ २१ ॥

अराजक देश में शरों का अभ्यास करने वाले धनुर्धरों के इस्तेमाल का शब्द नहीं सुन पड़ता । २१ ॥

नाराजके जनपदे वरिजो दूर्गामिनः ।

गच्छन्ति क्षेममध्वानं बहुपण्यनमाचिताः ॥ २२ ॥

अराजक जनपद में दूर देशों के सौदागर लोग माल बेचने के लिए बहुत सा मान लेकर, निर्भय हो अथवा सङ्ग्रहण यात्रा नहीं कर सक्ते ॥ २२ ॥

नाराजके जनपदे चरत्येकचरो वशी ॥

भावयन्नात्मनात्मानं यत्र सायंगृहो मुनिः ॥ २३ ॥

अराजक देश में, अकेले घूमने वाले, जितेन्द्रिय और अपने आत्मा से परमात्मा का चिन्तन करने वाले (अर्थात् परब्रह्म का ध्यान करने वाले) मुनि, मन्थ्याकाल होने पर किसी के द्वार पर नहीं टिकते (क्योंकि कोई उन्हें भोजन नहीं देता) अथवा अराजक देश में जितेन्द्रिय मुनि लोग, परनेरपर का एकान्त में मज्जन करते हुए जिन भर घूम फिर सादृक्काल होने पर, किसी के द्वार पर नहीं टिकते ॥ २३ ॥

नाराजके जनपदे योगक्षेमः प्रवर्तते ।

न चाप्यराजके सेना शत्रून् विपदते युधि ॥ २४ ॥

- 
- १ अस्वता—द्विगता । ( गो० ) २ ठरावने—अभ्यासे । ( गो० )  
 ३ वशा—चित्तेन्द्रिय । ( गो० ) ४ भावयन्—चिन्तयन् । ( गो० )  
 ५ आत्मानं—परमात्मनं । ( गो० ) ६ विपदते—जयति । ( गो० )

अराजक राज्य में न तो अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति और प्राप्त वस्तुओं का रक्षा हो सकती है और न बिना नायक क सेना रण में शत्रु को जीत सकता है ॥ २१ ॥

नाराजके जनपदे हृष्टेः परमनाजिभिः ।

नरा संयान्ति महसा रयेश्च परिमण्डिता १ ॥ २५ ॥

अराजक देश में उत्तम षाडों और रथा पर बैठ, कोई भी स्वयं सज्जधज कर बसटक पफाएगी घोहर नहीं निकल सकता ॥ २५ ॥

नाराजके जनपदे नराः शास्त्रप्रशारदाः ।

सवदन्तोऽवतिष्ठन्ते वनेषु नगरंपु च ॥ २६ ॥

अराजक राज्य में शास्त्रज्ञानी लोग, उन में या नगर में बैठ और निर्भीक हो, परस्पर शास्त्र सम्प्रन्धा कोई विचार नहीं कर सकते ॥ २६ ॥

नाराजके जनपदे मान्यमोदकदक्षिणा ।

देवताभ्यर्चनार्थाय कल्प्यन्तेः नियतैर्जनैः ॥ २७ ॥

सयमी लोग, अराजक देश में, देवताओं की पूजा के लिए माला, लड्डू, दक्षिणादि कोई भी पूजा की सामग्री प्रस्तुत नहीं कर सकते ॥ २७ ॥

नाराजके जनपदे चन्द्रनागररूपिताः ।

राजपुत्रा मिराजन्ते वमन्त इव शासिनः ॥ २८ ॥

१ परिमण्डिता — भूषिता । (गो०) २ कल्प्यन्ते — सम्भाष्यन्ते । (गो०)  
३ नियतैर्जनैः — यतचित्जनैः । (गो०) ४ रूपिता — लिप्ता । (गो०)

अराजक राज्य में राजकुमार चन्दन और अगर से चर्चित होकर ( अर्थात् शरीर में लगा कर ) वसन्त ऋतु के पेड़ों की तरह शोभायमान नहीं हो सकते ॥ २८ ॥

यथा ह्यनुदका नद्यो यथा वाऽप्यवृणं वनम् ।

अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम् ॥ २९ ॥

जैसे बिना जल की नदी अथवा बिना घास फूस का वन अथवा बिना चरवाहे को गाँव होती है, वैसे ही बिना राजा का राष्ट्र है ॥ २९ ॥

ध्वजो रथस्य प्रज्ञानं धूमो ज्ञानं विभावसोः ।

तेषां यो नो ध्वजो राजा स देवत्वमितो गतः ॥ ३० ॥

जिस प्रकार रथ का ज्ञापक चिह्न उसकी ध्वजा होती है, जिस प्रकार अग्नि का ज्ञापक चिह्न धुआँ होता है, उसी प्रकार हम लोगों के प्रकाशक चिह्न स्वरूप जो महाराज थे, वे इस लोक को त्याग देवलोक को प्राप्त हो गए हैं । ( अतः यह देश इस समय अराजक है ) ॥ ३० ॥

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित् ।

मत्स्या इव नरा नित्यं भक्षयन्ति परस्परम् ॥ ३१ ॥

अराजक देश में कोई किसी का नहीं होता, मछलियों की तरह लोग आपस में एक दूसरे को मार कर खा जाते हैं ॥ ३१ ॥

१ प्रज्ञानं—ज्ञापक । ( गो० ) २ ज्ञान—लिङ्ग । ( गो० ) ३ ध्वजः—प्रकाशकः । ( गो० ) ४ इतः—अस्माल्लोकात्प्रेत्य देवत्वगत इत्यर्थः । ( गो० )

ये हि सम्भिन्नमर्यादाः नास्तिकाश्छिन्नसंशयाः २ ।

तेऽपि भावाय ३ कल्पन्ते ४ राजदण्डनिपीडिताः ॥ ३२ ॥

जो लोग वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा को त्याग नास्तिक हो जाते हैं, किन्तु राजदण्ड के डर से दबे रहते हैं, वे भी अराजक देश में राजदण्ड के भय से निर्भय हो, लोगों पर अपना प्रभाव डालते हैं अथवा अपना रोम जमाते हैं ॥ ३२ ॥

यथा दृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते ।

तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभयः सत्यधर्मयोः ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार दृष्टि या आँख, शरीर की भलाई करने और बुराई दूर करने में सदा ही तत्पर रहती है—उसी प्रकार राजा भी अपने राज्य में सत्य व धर्म का प्रचार कर राष्ट्र की भलाई करने में और दुष्प्रान्ताओं का शासन कर, बुराइयों को दूर करने में सदा तत्पर रहता है ॥ ३३ ॥

राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवता ५ कुलम् ६ ।

राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम् ॥ ३४ ॥

राजा ही सत्य और धर्म का प्रवर्तक है, राजा ही कुलीनोचित कुलाचार का प्रवर्तक है राजा ही प्रजा का मातापिता है और राजा ही प्रजापतियों का हितसाधन करने वाला अर्थात् हितकारी है ॥ ३४ ॥

१ सम्भिन्नमर्यादा — उल्लङ्घितस्वरराजातिवर्णाश्रममर्यादा । (गो०)

२ छिन्नसंशया — राजदण्डदण्डहारहिता । (गो०) ३ भावाय—सद्भावाय, प्रमावापवा । (गो०) ४ कल्पन्ते—समस्तदृष्टिकपीडासमर्थाभवन्तीत्यर्थ । (गो०) ५ कुलवता—सर्वश्रेष्ठशुद्धवता । (गो०) ६ कुलम्—कुलाचारप्रवर्तक । (गो०)

यमो वैश्रवणः शक्रो वरुणश्च महाबलः ।

विशेष्यन्तेः नरेन्द्रेण<sup>२</sup> वृत्तेन महता ततः ॥ ३५ ॥

अपने कर्तव्य का भली भाँति पालन करने वाला एक राजा—यम, कुवेर, इन्द्र और वरुण से भी बड़ा है ॥ ३५ ॥

अहो तम इवेदं स्यान्न प्रज्ञापेत किञ्चन ।

राजा चेन्न भवेन्नोके विभजन् साध्वसाधुनी ॥ ३६ ॥

शिष्ट और आशुष्टों का विभाग कर के प्रजा का पालन करने के लिए यदि राजा न हों तो मारे राज्य में अन्धेर मच जाय—कोई किसी को न पूँछे ॥ ३६ ॥

जीवत्यपि महाराजे तवैव वचनं वयम् ।

नातिक्रमामहे सर्वे वेलां प्राप्येव सागराः ॥ ३७ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! ( वसिष्ठ जी ) जय महाराज जीवित धे, तब भी हम लोगों ने आपकी आज्ञा उसी प्रकार कभी उल्लङ्घन नहीं की जिस प्रकार समुद्र अपनी सीमा उल्लङ्घन नहीं करता ॥ ३७ ॥

स<sup>३</sup> नः<sup>४</sup> समीक्ष्य द्विजवर्यं वृत्तं

नृपं विना राज्यमरणभृतम् ।

कुमारमिदमाकुसुतं तथान्यं<sup>५</sup>

त्वमेव राजानमहाभिपिञ्च ॥ ३८ ॥

इति सप्तषाष्टतमः सर्गः ॥

१ विशेष्यन्ते—अपः कियन्ते । ( गो० ) २ नरेन्द्रेण—महतावृत्तेन सर्व प्रकाररक्षणरूपचरित्रेण । ( गो० ) ३ सः-त्वं । ( गो० ) ४ नः—अस्माक । ( गो० ) ५ वृत्तं—अराजकत्वप्रभुपितसर्वहन्य । ( गो० )

• पाठान्तरे—“वदान्य ।”

हे द्विजश्रेष्ठ ! हमारे वर्णित अराजक राज्य के दोषों पर विचार कर इस राष्ट्र का—जो राजा के न रहने से जगज्ज जीमा हो रहा है, किसी का—चाहे वह इक्ष्वाकु कुल का हो अथवा अन्य किसी कुल का हो—राना बना दीजिए ॥ ३० ॥

अयोध्यामण्ड का सरमठर्यों सर्ग समान हुआ ।

—:०:—

## अष्टपष्ठितमः सर्गः

—:०:—

तेषां हि वचनं श्रुत्वा वभिष्टः प्रत्युवाच ह ।

१ मित्रामात्यगणान् सर्वान् ब्राह्मणांस्तानिदं वचः ॥ १ ॥

उन लोगों के मुख से ऐसी बातें सुन, वभिष्ट जी, द्वितीय मुमन्त्रादि मांत्रियों और भार्कण्डेयादि ब्राह्मणों से यह बोले ॥ १ ॥

यदसौ मातुलकुले दत्तराज्यः परंमुखा ।

भरतो वसति आत्रा शत्रुघ्नेन समन्वितः ॥ २ ॥

महाराज, भरत को राज्य द गए है । वे भरत अपने भाई शत्रुघ्न के साथ मामा के घर परम मुखपूजक निवास कर रहे हैं ॥ २ ॥

तच्छीघ्रं वरना३ दूता गच्छन्तु त्वरितैर्हयैः ।

थानेतुं आत्रारौ वीरौ किं समीक्षामहे वयम् ॥ ३ ॥

१ मित्रामात्यगणान्—मित्रभूत मात्यगणानमुमन्त्रादीन् । ( गो० )

२ ब्राह्मणान्—भार्कण्डेयादीन् । ( गो० ) ३ वरनाः—वेगन्तः । ( गो० )



अतः शीघ्र चलने वाले घोड़ों पर शीघ्रगामी दूत उन दोनों राजकुमारों को लिवा लाने के लिए जाय । इसके अतिरिक्त और इस विषय में विचार ही क्या हो सकता है । ( अर्थात् महाराज भरत को राज्य दे गए हैं—अतः सिवाय उनके दूसरे को राज्य देने के सम्बन्ध में विचार नहीं हो सकता ) ॥ ३ ॥

गच्छन्त्विति ततः सर्वे वसिष्ठं वाक्यमब्रुवन् ।

तेषां तु वचनं श्रुत्वा वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

तब सब ने ही वसिष्ठ जी से कहा कि, दूत अभी जाने चाहिए । उनका यह वचन सुन वसिष्ठ जी बोले ॥ ४ ॥

एहि सिद्धार्थं विजयं जयन्ताशोकनन्दन ।

श्रूयतामितिर्त्तव्यं सर्वानिव ब्रवीमि वः ॥ ५ ॥

हे सिद्धार्थ ! हे विजय ! हे जयन्त ! हे अशोकनन्दन ! तुम सब यहाँ आओ और तुम लोगों को जो इस समय करना चाहिए, वह मैं कहता हूँ—तुम सब सुनो ! ॥ ५ ॥

पुरं राजगृहं गत्वा शीघ्रं शीघ्रजवेहयैः ।

त्यक्तशोकैरिदं वाच्यः शासनाद्भरतो मम ॥ ६ ॥

तुम सब शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार हो कर, शीघ्र राजगृह नामक पुर को जाओ साथ ही अपने चेहरों पर शोक न मलकने दो और शोक रहित हो, भरत से मेरा यह अनुशासन कहो ॥६॥

पुगेहितस्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः ।

त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया ॥ ७ ॥

किं पुरोहित वसिष्ठ जो ने तथा सब मंत्रियों ने तुमसे कुशल  
 ज्ञेय कहा है और ये कहा है कि, बड़ा जरूरी काम है, अतः तुम  
 शीघ्र यहाँ आओ ॥ ७ ॥

मा चास्मै प्रोषितं रामं मा चास्मै पितरं मृतम् ।

मनन्तः शंसिपुर्गत्वा<sup>१</sup> राघवाणामिमं क्षयम् ॥ ८ ॥

किन्तु सावधान ! रघुवशियों, के तेजक्षय (नामोसी की बात)  
 का यह घृत्तान्त कि, रामचन्द्र वन गए और महाराज स्वर्ग  
 चासी हुए, वहाँ मन कइना ॥ ८ ॥

कौशेयानि च वस्त्राणि भूपणानि वराणि च ।

क्षिप्रमादाय राज्ञश्च<sup>२</sup> भरतस्य च गच्छत ॥ ९ ॥

केकयराज और भरत के लिए इन रेशमी वस्त्रों और (बहु-  
 मूल्यवान्) सुन्दर आभूषणों को ले कर तुम लोग तुरन्त चले  
 जाओ ॥ ९ ॥

दत्तपय्याशाना दूता जग्मुः स्वस्वं निवेशनम् ।

केकयांस्ते गमिष्यन्तो हयानारुह्य सम्मतान्<sup>३</sup> ॥ १० ॥

वसिष्ठ जी के बचन सुन और पापेय मार्ग के लिए भोजन  
 लेकर, दूत लोग अपने अपने घर गए और फिर तेज और धदुत  
 दूर की यात्रा करने में अभ्यस्त घोड़ों पर चढ़, वे तुरन्त केकय-  
 राज की राजधानी की ओर जा के लिए तैयार हुए ॥ १० ॥

स्तः प्रास्थानिकं<sup>४</sup> कृत्वा कार्यशेषमनन्तरम्<sup>५</sup> ।

वमिष्टेनाभ्यनुज्ञाता दूताः मन्त्वरिता ययुः ॥ ११ ॥

१—माशुभिः--माशुभयन्तु । (गो०) २ राजः—केकयराजस्य । (गो०)

३ समतान्—इति त्वेन चाशुभेन च त्वेन च समतान् । ४ प्राशानिकं—प्रस्थान

प्रयोजकं । (गो०) ५ कार्यशेषमनन्तरम्—तत्पश्चात् । (गो०) ।

वे दूत यात्रा की आवश्यक सामग्री तथा पाथेय ( रास्ते में खाने को भोजन ) ले और बसिष्ठ जी से विदा हो, दड़ी तेजी से रवाना हुए ॥ ११ ॥

१न्यन्तेनापरतालस्य प्रलम्बस्योत्तरं प्रति १ ।

निपेवमाणास्ते जग्मुर्नदीं मध्येन मालिनीम् ॥ १२ ॥

अपरताल नामक पहाड़ के दक्षिण और प्रलंब नामक पहाड़ के उत्तर अर्थात् इन्हीं पहाड़ों की मध्यवर्तिनी मालिनी नदी के किनारे-किनारे वे पश्चिम की ओर चलते गए ॥ १२ ॥

ते हस्तिनपुरे गङ्गां तीर्त्वा प्रत्यङ्मुखा ययुः ।

पाञ्चालदेशमासाद्य मध्येन कुरुजाङ्गलम् ॥ १३ ॥

उन्होंने हस्तिनापुर के समीप पहुँच गङ्गा पार की । फिर पश्चिमाभिमुख चल पञ्चाय तथा कुरुजांगल के बीच में पहुँचे ॥ १३ ॥

सरांसि च सुपूर्णाणि नदीश्च विमलोदकाः ।

निरीक्षमाणास्ते जग्मुर्दूताः कार्यवशाद्द्रुतम् ॥ १४ ॥

रास्ते में उन लोगों ने बहुत से जल से लथालथ भरे तालाब तथा निर्मल जल वाली नदियाँ देखीं । किन्तु काम की त्वरा होने के कारण ( वे लोग उन रम्य सरोवरों अथवा नदियों के तट पर ठहरे नहीं ) वे शीघ्र-शीघ्र चले जाते थे ॥ १४ ॥

ते प्रसन्नोदकां दिव्यां नानाविहगसेविताम् ।

उपातिजग्मुर्वेगेन शरदण्डां जनाकुलाम् ॥ १५ ॥

१ न्यन्तेन—नितरामन्तेन—चरमप्रदेशेनेत्यर्थः । (गो०) २ अपरतालस्य—अपरत लो नामगिरि तस्य । (गो०, ३ प्रलम्बस्य—प्रलम्बाख्यगिरेः । (गो०) ४ उत्तरप्रति—उत्तरभाग्यमुदिश्य । (गो०) ।

तदनन्तर वे लोग तरह तरह के जलचर पक्षियों से सेवित, और निर्मल जल से पूर्ण शरदण्डा नाम्नी नदी के तट पर पहुँचे ॥ १५ ॥

निकूलवृक्षमामाद्य दिव्यं सत्योपयाचनम् ।

अभिगम्याःमिवाद्यं तं कुलिङ्गां प्राविशन् पुरीम् ॥१६॥

शरदण्डा नदी के तीर पर सत्योपयाचन नाम का एक पूज्य वृक्ष था । दूर्वो ने उम वन्नीय वृक्ष की परिक्रमा कर, कुलिङ्गा नामक नगरी में प्रवेश किया ॥ १६ ॥

[ टिप्पणी—रस वृक्ष में यह गुण था कि, इसने जो प्रायेण की जाती थी उसे यह पूरे करता था, इसीसे उसका नाम “सत्योपयाचन” पड़ गया था । ]

अभिकालं ततः प्राप्य तं योधिभवनान्च्युताः ५ ।

पिनृपैतामहीं पुण्यां तेरुश्रुमतीं नदीम् ॥ १७ ॥

तदनन्तर उन्हें अभिवात्त नामक ग्राम मिला । फिर वे योधिभवन नामक पर्वत में निर्मलो हुई श्रुमती नामकी उम नदी के पार हुए जिसके तट के गावों पर वभी महाराज दशरथ के पूर्वजों का राज्य था ॥ १७ ॥

अत्रेक्ष्याञ्जलिपानांश्च ब्राह्मणान् वेदपारगान् ।

ययुर्मध्येन चाहोकांस्सुदापानं च पर्वतम् ॥ १८ ॥

१ दिव्य—देवाधिष्ठानवत् । (गो०) २ अभिगम्य—प्रदक्षिणीकृत्य । (गो०) ३ अभिवाद्यं—सर्वानमस्कार्यै । (गो०) ४ योधिभवनान्च्युता—सदाख्यात् पर्वतात् । (गो०) ५ पिनृपैतामही—दशरथवश्यानुभूता । तत्तैर प्रदेशमामा इक्ष्वाकूणामितिभावः । (गो०)

दूतों ने इक्षु नदी के तट पर अजुलि भर जल पी कर रहने वाले, वेदवित् ब्रह्मर्षी को देखा । वाह्मीक नामक देश में होकर जाते समय उनको सुदामा नामक पर्वत मिला ॥ १८ ॥

विष्णोः पदं श्रेष्ठमाणा विपाशां चापि शात्मलीम् ।

नदीर्गपीस्तटाकानि पञ्चलानि सरांसि च ॥ १९ ॥

उस पर्वत पर विष्णु भगवान् के पदचिह्न के दर्शन कर, उन्हें, विपाशा, शात्मली आदि अनेक नदियाँ, वावड़ी, तालान और सरोवर मिले ॥ १९ ॥

परयन्तो विविधारचापि सिंहव्याघ्रमृगद्विपान् ।

ययुः पथाऽतिमहता शासनं भर्तुरीप्सवः ॥ २० ॥

वे लोग विविध प्रकार के सिंह, व्याघ्र, हाथी आदि वन्य जन्तुओं को देखते हुए स्वामी की आज्ञा का पालन करने को वरानर उस लंबे मार्ग पर चले जाते थे ॥ २० ॥

ते श्रान्तवाहना दूता विकृष्टेन पथा ततः ।

गिरित्रजं पुरवरं शीघ्रमासिदुरञ्जसा ॥ २१ ॥

बहुत दूर चलने के कारण वे सब दूत (और उनके घोड़े) श्रान्त (थक) हो गए थे । तब पर भी वे गिरित्रज नामक केकयराज के श्रेष्ठ पर (गजधानी) में बहुत शीघ्र जा पहुँचे ॥ २१ ॥

भर्तुः प्रियार्थं कुत्तरक्षणार्थं

भर्तुश्च वंशस्य परिग्रहार्थम् ४ ।

१ विकृष्टेन—अतिदूरेण । (गो०) ० शीघ्रशब्दसन्निधेन । (गो०)

४ अञ्जसामानसत्वरोच्यते । ४ परिग्रहार्थं—प्रतिष्ठार्थं । (गो०)

अहेडमाना'स्त्वरया स्म दूता

राज्या तु ते तत्पुरमेव याताः ॥ २२ ॥

इति अष्टपष्टितमः सर्गः ॥

अपने स्वामी अर्थात् महाराज दशरथ का प्रियकार्य ( भरत को ले जा कर महाराज के शय्य का दाहादि कर्म ) करवाने को, कुल की रक्षा के लिए और महाराज दशरथ के वंश की प्रतिष्ठा के लिए, बड़े आदर के साथ, छल्दी के कारण रात ही में उन दूतों ने उम पुर में प्रवेश किया ॥ २२ ॥

अयोध्याकांड का अस्मठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—: ० :—

## एकोनसप्ततितमः सर्गः

—: ० :—

यामेव रात्रिं ते दूताः प्रविशन्ति स्म तां पुरीम् ।

भरतेनापि तां रात्रिं स्वप्नो दृष्टोऽयमप्रियः ॥ १ ॥

जिस रात को वे दूत उम नगर में पहुँचे, उसी रात में भरत ने भी एक अशुभ स्वप्न देखा ॥ १ ॥

व्युष्टामेव तु तां रात्रिं दृष्ट्वा तं स्वप्नमप्रियम् ।

पुत्रो राजाविराजस्य सुभृशं पर्यतप्यत ॥ २ ॥

राजाविराज के पुत्र ने वह बुरा स्वप्न, रात्रि के अन्तिम पहर में देखा था ( रात्रि के अन्तिम पहर का देखा हुआ शुभाशुभ

१ अहेडमानाः—अनादरम् कुवांशा कादराश्रित्यावत् । (मि०)

घा० रा०—४५

स्वप्न का फल तुरन्त होता है—अतः ) भरत जी बहुत घबड़ाए हुए थे ॥ २ ॥

तप्यमान समाज्ञाय वयस्याः प्रियवादिनः ।

आयासः हि विनेप्यन्तः समायां चक्रिरे कथाः ॥३॥

उनको घबड़ाया हुआ अथवा उगम देग, उनके ममबयस्क (हमनीली) अथवा उनके साथ उठने बैठने वाले तथा प्रियवचन बोलने वाले मित्र, उनकी उदामी दूर करने को सभा में नाना प्रकार की कथाएँ कहने लगे ॥ ३ ॥

वाद्यन्ति तथा शान्तिं लासयन्त्यपि चापरे ।

नाटकान्यपरे प्राहुर्हास्यानि विविधानि च ॥ ४ ॥

उनमें से कोई कोई भरत जीकी उदामी दूर करने को वीणा बजाने लगे, कोई कोई ठुमुक-ठुमुक नाचन या धिरकने लगे । कोई कोई नाच्य करने लगे, और कोई कोई हँमाने वाले चुन्कुले कहने लगे ॥ ४ ॥

स तेर्नहात्मा भरतः सखिभिः प्रियवादिभिः ।

गोष्ठीहास्यानि कुर्वद्भिर्न प्राहृष्यत राघवः ॥ ५ ॥

उन प्रियवचन बोलने वाले मित्रों द्वारा अनक प्रकार से भरत जी को प्रसन्न करने के डे तु अनक प्रयत्न किये जाने पर भी, भरत जी की उदामी दूर न हो सकी ॥ ५ ॥

तमन्नपीतिप्रियमस्रोः भरत सखिभिर्वृतम् ।

सुहृद्भिः पर्युपामीनः किं सखे नानुमोदसे । । ६ ॥

१ आयास—मन खेद । ( गो० ) • लासयन्ति—लास्यकुर्वन्ति  
लास्य—सुकुमारनुत् । ( गो० ) ३ प्रियसख —अन्तरङ्गसुहृत् (गो०) ।

मित्रों के बीच बैठे भरत जी से, उनके एक अत्यन्त अन्तरङ्ग मित्र ने पूछा है मित्र ! हम लोगों के इतना प्रयत्न करने पर भी तुम हर्षित क्यों नहीं होते ॥ ६ ॥

एवं त्रुवाणं सुहृद भरतः प्रत्युपाच तम् ।

शृणु त्वं यन्निमित्तं मे दैन्यमेतदुपागतम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार इस मित्र के पूछने पर भरत जी बोले—हे मित्र ! मेरे मन के उदास होने का कारण सुनो ॥ ७ ॥

स्वप्ने पितरमद्राचां मलिनं मुक्तमूर्धनम् ।

पतन्तमद्रिशिरात्फलुपे गोमयेहृदे ॥ ८ ॥

मैंने स्वप्न में मँले कपड़े पहने और सिर के बाल रोले हुए अपने पिता को पर्वत की चोटी से बुरे गोशर के गह्वरे में गिरते हुए देखा है ॥ ८ ॥

सुवमानश्च' मे दृष्टः स तस्मिन्गोमयेहृदे ।

पिपन्नञ्जलिना तैलं हसन्नपि मुहुर्मुहुः ॥ ९ ॥

और देखा है कि वह उस गोशर के कुण्ड में मेड़क की तरह तैरते तैरते चारचार हँस कर और अञ्जलि भर भर कर, तल पी रहे हैं ॥ ९ ॥

ततस्तिलौदनं भुक्त्वा पुनः पुनरधःशिराः ।

तैलेनाभ्यक्तमर्धाङ्गस्त्वैलमेवासाहृत ॥ १० ॥

यह भी देखा है कि, महाराज तिल मिश्रित भात खा कर चारचार मन्तर नीचे मुड़ा कर, मर्धाङ्ग में तेल लगाए हुए हैं और तेल ही में डूब रहे हैं ॥ १० ॥



स्वप्नेऽपि सागरं शुष्कं चन्द्रं च पतितं भुवि ।

उपारूढां च जगतीं तमसेव समावृताम् ॥ ११ ॥

मैंने दूसरा स्वप्न यह देखा है कि, समुद्र सूख गया है, चन्द्रमा टूट कर जमीन पर गिर पडा है, सारी पृथिवी पर अवेरा छाया हुआ है ॥ ११ ॥

औपवाहस्य नागस्य विपाणं शकलीकृतम् ।

सहसा चापि संशान्तं ज्वलितं जातवेदसम् ॥ १२ ॥

महाराज की सवारो के हाथो के दौंटों के टुकडे टुकडे हो गए हैं, और प्रज्वलित आग सहसा बुझ गई ॥ १२ ॥

अवतीर्णाः च पृथिवीं शुष्कांश्च विविधान् द्रुमान् ।

अहं पश्यामि रिध्वस्तान् सभूमांश्चापि पर्वतान् ॥ १३ ॥

पृथिवी नीचे धस गयी है और अनेक प्रकार के वृक्ष सूख गए हैं । मैंने देखा है कि, पर्वतों के टुकडे टुकडे हो गए हैं और उनमें से घुआ निकल रहा है ॥ १३ ॥

पीठे काष्णायसे चैनं निपण्णं कृष्णवाससम् ।

प्रहसन्ति स्म राजानं प्रमदाः कृष्णपिङ्गलाः ॥ १४ ॥

महाराज काले लोहे के पीठे पर काले वस्त्र पहिने हुए बैठे हैं और काली तथा पीले रंग की (पोशाकें पहने हुए) ब्रिथों जनका उपहास कर रही हैं ॥ १४ ॥

त्वरमाणरच धर्मात्मा रक्तमान्यानुलेपनः ।

रथेन खरयुक्तेन प्रयातो दक्षिणामुखः ॥ १५ ॥

१ अबत र्था—अध.पतिता । ( गो० )

धर्मात्मा महाराज लाल चन्दन शरीर में लगाए और लाल ही फूलों की माला पहिने हुए, गधों से ढींचे जाने वाले रथ में बैठे, शीघ्रतापूर्वक दक्षिण दिशा की ओर चले जा रहे हैं ॥१५॥

प्रहसन्तीव राजानं प्रमदा रक्तवासिनी ।

प्रकर्षन्ती मया दृष्टा राक्षसी विमृतानना ॥ १६ ॥

एक विकटवदना राक्षसी, जो लालमुख पहिने हुए है, अट्टहास करती हुई महाराज का पकड़ कर खींच रही है ॥१६॥

एवमेतन् मया दृष्टमिमां रात्रिं भयानहाम् ।

अहं रामोऽथवा राजा लक्ष्मणो वा मरिष्यति ॥१७॥

मैंने रात में ऐसे भयानक स्वप्न देखे हैं । इससे यह निश्चय बोध होता है कि मैं या राम या महाराज अथवा लक्ष्मण को मृत्यु होगी ॥ १७ ॥

नरो यानेन यः स्वप्ने खरयुक्तेन याति हि ।

अचिरात्तस्य धूमाग्रं चितार्यां सम्प्रदृश्यते ॥ १८ ॥

क्योंकि जो मनुष्य स्वप्न में गधे जुते हुए रथ पर सवार हो यात्रा करता है, थोड़े ही दिनों में उसकी चिता से धुआँ निकलता हुआ देख पड़ता है ॥ १८ ॥

एतन्निमित्तं दीनोऽहं तन्न वः प्रतिपूजये ।

शुष्यतीर च मे कण्ठो न स्वस्थमिर मे मनः ।

न पर्यामि मयस्थानं भयं चैवोपधारये ॥ १९ ॥

यस मेरे उदास होने का यही कारण है और इसीलिए आप लोगों की बातें मुझे नहीं भाती । मेरा गला सूखा जा रहा है

और मेरा मन ठिकाने नहीं है यद्यपि इस समय भय का कोई कारण देख नहीं पड़ता, तथापि मन से खटका दूर नहीं होता ॥ १९ ॥

अष्टरचः स्वरयोगोऽ मे च्छाया गोपहता मम ।

जुगुप्सन्निव चात्मानं न च पश्यामि कारणम् ॥२०॥

इसी से मेरा कण्ठस्वर भी विगड़ गया है अर्थात् आवाज भारी पड़ गई है, और मेरे शरीर की कान्ति भी जाती रही है। मैं जानता हूँ कि, यह अवश्यम्भावी विपत्ति है। इससे डरना बुरी बात है, ता भी मेरे मन में जो खटका उत्पन्न हो गया है उन्मत्त दूर करने का कोई उपाय मुझे नहीं सूझ पड़ता ॥ २० ॥

इमां हि दुःस्वप्नगतिं छिनिशम्य ता-

मनेकरूपामवितर्कितां पुरा ।

भयं महत्तद्घृदयान्त याति मे

विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥ २१ ॥

पहले वही इस प्रकार के स्रोते स्वप्न की तर्कना भी नहीं हुई थी, किन्तु अब जब से मैंने यह स्रोटा स्वप्न देखा है, तब से मन में यह चिन्ता उत्पन्न हो गई है कि, जाने महाराज के दर्शन मुझे फिर हों कि नहीं; इसी से मेरा मन अत्यन्त भय-भीत हो गया है ॥ २१ ॥

अयोध्याकाण्ड का उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

१ च्छाया—कान्तिः । ( गी० ) २ स्वरयोगः—युक्तस्वरः । ( गी० )  
३ अचिन्त्यदर्शनम्—असम्भाव्यदर्शनम् । ( गी० ) • पाठान्तरे—  
“निशम्य” ।

# सप्ततितमः सर्गः

—❀—

भरते ब्रुवति स्पणं दूतास्ते क्लान्तवाहनाः ।

प्रविश्यामह्यपरिसं❀ रम्यं राजगृहं पुरम् ॥ १ ॥

भरत जी इस प्रकार अपने इष्टमित्रों के साथ यातचीत कर ही रहे थे, कि उनके मंदिर अयोध्या के दूत, रम्य राजगृहपुर में, जिसके चारों ओर इतनी बड़ी और गहरी खाई थी कि, उसे कोई लौंघ नहीं सकता था, पहुँचे ॥ १ ॥

समागम्य च राज्ञा' च राजपुरेण च चार्चिताः ।

राज्ञः पादौ गृहीत्वा तु तमूचुर्भरतं वचः ॥ २ ॥

दूतों ने प्रथम केकयराज से, तदनन्तर राजकुमार युवाजित् से भेंट की। राजपुर युवाजित् ने उन दूतों का आदर मत्सर किया। अनन्तर दूतों ने केकयराज को प्रणाम कर, भरत जी से कहा ॥ २ ॥

पुरोहितस्त्रां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः ।

त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया ॥ ३ ॥

राजपुरोहित वसिष्ठ जी ने और सब मात्रयों ने तुमको कुशल-क्षेम कहा है, और कहा कि, तुम शीघ्र अयोध्या चले आओ क्योंकि यहाँ एक विशेष आवश्यक कार्य उपस्थित हुआ है ॥३॥

इमानि च महाहर्षिण बध्नाण्याभरणानि च ।

प्रतिगृह्य विशालाक्ष मातुलस्य च दापय ॥ ४ ॥

१ राजा केकयराजेन । ( गो० ) २ राजपुरेण—युवाजिता ।  
( गो० ) पाठान्तरे—“परिष” ।

हे विशालाक्ष ! ये महामूल्यवान वस्त्र और भूपण उन लोगों ने भेजे हैं । इनको ले कर आप अपने मामा को दे दीजिए ॥ ४ ॥

अत्र विंशतिकोट्यस्तु<sup>१</sup> नृपतेर्मातुलस्य ते ।

दश कोट्यस्तु सम्पूर्णा<sup>२</sup> स्तथैव च नृपात्मज ॥ ५ ॥

इनमें से लगभग बीस करोड़ के मूल्य के वस्त्राभूषण तुम्हारे नाना के लिए हैं और लगभग दस करोड़ के मूल्य के तुम्हारे मामा के लिए हैं ॥ ५ ॥

प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं स्वनुरक्तः<sup>३</sup> सुहृजने<sup>४</sup> ।

दूतानुवाच भरतः कामैः<sup>५</sup> सम्प्रतिपूज्य तान् ॥ ६ ॥

भरत जी ने उन सब को ले और बड़े अनुराग के साथ वे सब वस्त्राभूषण अपने नाना और मामा को दे दिए । तदनन्तर दूतों को भोजनानादि की सामग्री दे उनका सत्कार कर भरत जी उनसे बोले ॥ ६ ॥

कश्चित्सुकुशली राजा पिता दशरथो मम ।

कश्चिच्चारोगता रामे लक्ष्मणे वा महात्मनि ॥ ७ ॥

हे दूतों ! यह तो कहो, मेरे पिता महाराज दशरथ तो प्रमत्त हैं ? महात्मा श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण तो आरोग्य हैं ॥ ७ ॥

१ विंशतिकोट्य. विंशतिकोटिमूल्यानि । ( गो० ) २ सम्पूर्णाः—  
अन्यूना । ( गो० ) ३ सुहृजने—मातुलादौ । ( गो० ) ४ स्वनुरक्तः  
प्रदाप्येतिशेषः । ( गो० ) ५ कामैः अमीष्टान्नानादिभिः । ( गो० )

आर्याः<sup>१</sup> च धर्मनिरता<sup>२</sup> धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी<sup>३</sup> ।

अरोगा चापि<sup>४</sup> कौशल्या माता रामस्य धीमतः ॥ ८ ॥

धर्मानुष्ठानों के करने में तत्पर, धर्म के तत्व को जानने वाली और (केवल) धर्मात्माओं से भेंट करने वाली पूज्या एवं ज्येष्ठा, धीमान् श्रीरामचन्द्र की माता कौशल्या तो नीरोग है ? ॥ ८ ॥

कचित्सुमित्रा धर्मज्ञा जननी लक्ष्मणस्य या ।

शत्रुघ्नस्य च वीरस्य साऽरोगा चापि मध्यमा ॥ ९ ॥

धर्म का मर्म समझने वाली वीर लक्ष्मण और शत्रुघ्न की माता और महाराज की मङ्गली रानी सुमित्रा जी निरोग तो हैं ? ॥ ९ ॥

आत्मकामा<sup>५</sup> सदा चण्डी<sup>६</sup> क्रोधना प्राज्ञमानिनी ।

अरोगा चापि मे माता कैकेयी किपुत्रा च ह ॥ १० ॥

सदा स्वार्थ में तत्पर, दम और जोर स्वभाव वाली तथा अपने को सब से बढ़ कर बुद्धिमती समझने वाली, मेरी माता कैकेयी तो दुःख से है ? चलती घेर उन्होंने मेरे लिए तुमसे क्या कोई संदेश भी कहा है ? ॥ १० ॥

‘एनमुक्तास्तु ते दूता भरतेन महात्मना’<sup>७</sup> ।

ऊचुः सप्रथयं धार्क्यमिदं तं भरतं तदा ॥ ११ ॥

१ आर्या—ज्येष्ठा मातृत्वेन पूजिता । ( गो० ) २ धर्मनिरता—धर्मानुष्ठानपरा । ( गो० ) ३ धर्मदर्शिनी—धर्ममेव जनेषु पश्यतीति धर्मदर्शिनी । ( गो० ) ४ अपिः प्रश्ने । ( गो० ) ५ आत्मकामा—स्वप्रयोजनपरा । ( गो० ) ६ चण्डी—उमा । ( गो० ) ७ महात्मना—महाबुद्धिना । ( गो० ) ८ सप्रथयं—सचिनय । ( गो० )

बड़े बुद्धिमान् भरत जी का वचन सुन, दूतों ने विनयपूर्वक  
भरत जी से कहा ॥ ११ ॥

कुशलास्ते नरव्याघ्र येषां कुशलमिच्छसि ।

श्रीश्च त्वां वृणुते पद्मा युव्यतां चापि ते रथः ॥ १२ ॥

हे पुम्पसिंह ! जिनका कुशल चाहते हो वे सब कुशल  
पूर्णक हैं । इस समय लक्ष्मी आपको धरणा करने के लिए उद्यत  
हैं, अतएव यात्रा के लिए तुम अपना रथ जुतवाओ । (एक टीका-  
कार ने इस रत्नोक्त के उत्तरार्द्ध की व्याख्या इस प्रकार की है,  
क्योंकि आपके मुखादि शारीरिक अंगों में इस समय ऐसी शोभा  
देख पड़ती है कि, जिससे किसी भी अमङ्गल की राह्या नहीं हो  
सकती अतः अथ आप अपना रथ जुतवायें ॥ १० ॥

भरतश्चापि तान् दूतानेवमुक्तोऽभ्यभाषत।

आपृच्छेऽहं महाराजं दूताः सन्त्वरयन्ति माम् ॥ १३ ॥

दूतों का वचन सुन, भरत बोले—अच्छा, मैं महाराज से  
चलने की आज्ञा माँगता हूँ और जा कर कहता हूँ कि, दूत लोग  
चलने के लिए बड़ी शीघ्रता कर रहे हैं ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा तु तान् दूतान् भरतः पार्थिवात्मजः ।

दूतैः सञ्चोदितो वाक्यं मातामहमुवाच ह ॥ १४ ॥

राजकुमार भरत दूतों से यह कहकर, दूतों के कथनानुसार  
नाना से जा कर बोले ॥ १४ ॥

राजन् पितुर्गमिष्यामि सकाशं दूतबोदितः ।

पुनरप्यहमेष्यामि यदा मे त्वं स्मरिष्यामि ॥ १५ ॥ !

हे राजन् ! अब मैं अपने पिता के पास जाऊँगा—स्योंकि, दूत लोग मुझे ले जाने के लिए जल्दी मचा रहे हैं। फिर जब आप मुझे याद करेंगे मैं आ जाऊँगा ॥ १५ ॥

भरतेनैवमुक्तस्तु नृपो मातामहस्तदा ।

तमुवाच शुभं वाक्यं शिरस्याघ्राय राघवम् ॥ १६ ॥

भरत का वचन सुन केकयराज, भरत का मस्तक सूँघ यह शुभ वचन बोले ॥ १६ ॥

गच्छ तावानुजाने त्वां कैकेयी सुप्रजास्त्वया ।

मातरं कुशलं ब्रूयाः पितरं च परन्तप ॥ १७ ॥

हे भरत ! कैकेयी तुम जैसे पुत्र को पा कर सुपुत्रवती हुई है। हे शत्रुसूदन ! मैं तुम्हें जाने की अनुमति देता हूँ। तुम यहाँ पहुँच कर अपनी माता और पिता से मेरा कुराज क्षेम कह देना ॥ १७ ॥

पुरोहितं च कुशलं ये चान्ये द्विजसत्तमाः ।

तौ च ताव महेष्यासौ भ्रातरो रामलक्ष्णौ ॥ १८ ॥

पुरोहित वमिष्ठ जो तथा अन्य श्रेष्ठ ब्राह्मणों से तथा महा धनुर्धर श्रीराम और लक्ष्मण—दोनों भाइयों से कुराल क्षेम कह देना ॥ १८ ॥

तस्मै हस्त्युत्तमाश्वित्रान् कम्बलानजिनानि च ।

श्रमिसत्कृत्यै कैकेयो भरताय धनं ददौ ॥ १९ ॥

यह कह, केकयराज ने भरत जी को ( बिदाई में ) उत्तम हाथी, कीमती शाल दुशाले और मृगवने, उनकी ( उन यानुओं को ) बड़ाई कर कर के दिए ॥ १९ ॥



रुक्मनिष्कसहस्रे द्वे षोडशाश्वशतानि च ।

सत्कृत्य कैकयीपुत्रं कैकयो धनमादिशत् ॥ २० ॥

तथाऽमात्यानभिप्रेतान्<sup>३</sup>विश्वास्यांश्च गुणान्वितान् ।

ददावश्यपतिः क्षिप्रं भरतायानुयायिनः ॥ २१ ॥

वो हजार गले में पहने जाने वाले कंठे, गुंजें, कटुले आदि आभूषण तथा सोलह सौ घोड़े दिये । वैक्य राज ने बड़े सत्कार के साथ भरत को धन दे कर, वह सब सामान अयोध्या पहुँचा देने के लिए नौरों को आज्ञा दी । कैक्यराज ने भरत के साथ शीघ्रता पूर्वक जाने के लिए कई एक अपने विश्वासी और गुणवान अर्थात् बुद्धिमान मंत्री कर दिए । (ये तो भरत के नाना ने विदाई की, अब आगे मामा की विदाई का वर्णन है) ॥२०-२१॥

४ऐरावतानैन्द्रशिरान्<sup>४</sup>नागान्<sup>५</sup> प्रियदर्शनान् ।

खरा<sup>६</sup>शीघ्रान्मुसंयुक्तान्<sup>६</sup>मातुलोऽस्मै धनं ददौ ॥२२॥

भरत जी के युधाजित मामा ने, भरत जी को इरावत नामक तथा इन्द्रशिख नामक पर्वत पर उत्पन्न और देखने में बड़े सुन्दर हाथी तथा अपने जाने हुए शीघ्रगामी अनेक खच्चर भी दिये ॥ २२ ॥

१ निष्काः—बद्धोभूषणानि । ( गो० ) २ आदिशत्—आदाय-  
भिगच्छति मृत्पानाशयामास । ( गो० ) ३ अभिप्रेतान्—सहाय-  
भूतान् । ( गो० ) ४ ऐरावतान्—इरावतपर्वतभवान् । ( गो० )  
५ ऐन्द्रशिरान्—इन्द्रशिखल्य पर्वतभवान् । ( गो० ) ६ मुसंयुक्तान्—  
परिचितान् । ( गो० )

अन्तःपुरेऽतिसृष्टान् व्याभरीर्यवलान्वितान् ।

दंष्ट्रायुधान्महाकायाञ्छुनश्चोपायन ददौ ॥ २३ ॥

युगानित् मामा ने भरत को, इनके अतिरिक्त रनवास में पले हुए तथा बलवीर्य मे व्यात्र के तुल्य और बड़े बड़े दाँतों वाले तथा बड़े हीलडौल के कुत्ते भी दिये ॥ २३ ॥

स दत्तं केऋयेन्द्रेण धन तन्नाभ्यनन्दत ।

भरतः केऋयीपुत्री ङ्गमनं त्वरयंस्तदा ॥ २४ ॥

परन्तु केकयराज की दी हुई इन वस्तुओं की ओर भरत जी ने ध्यान नहीं दिया । अनन्तर केऋयीनन्दन भरत जाने के लिए शीघ्रता करने लगे ॥ २४ ॥

वभूय ह्यस्य हृदये चिन्ता सुमहती तदा ।

त्वरया चापि दूतानां स्वप्नस्यापि च दर्शनात् ॥ २५ ॥

भरु तो भरत ग्रीक स्वप्न देखने से चिन्तित थे ही, तिस पर चलने के लिए दूतों के जल्दी मचाने से वे और भी चिन्तित हो गए थे ॥ २५ ॥

स स्ववेशम व्यतिक्रम्य नरनागादयसंशृतम् ।

प्रपेदे सुमहच्छ्रीमान् राजमार्गमनुत्तमम् ॥ २६ ॥

मनुष्यों, हाथियों और घोड़ों को लिए हुए भरत जी अपने घर से निकले और उत्तम एव बड़े लंबे राजमार्ग पर आ कर उपस्थित हुए ॥ २६ ॥

अभ्यतीत्य ततोऽपरयदन्तःपुरमुदारधीः ।

ततस्तद्भरतः श्रीमानाशिवेशानिभारितः ॥ २७ ॥

और उस मार्ग से हो कर उदार बुद्धि वाले भरत जी रजवास में गए । रजवास में जाते समय किसी ने उन्हें रोका नहीं ॥२७॥

स मातामहमापृच्छ्य मातुलं च युधाजितम् ।

रथमारुह्य भरतः शत्रुघ्नसहितो ययौ ॥ २८ ॥

भरत जी ने वहाँ पहुँच कर, नाना तथा मामा युधाजित् से विदा माँगी । तदनन्तर शत्रुघ्नसहित रथ में सवार हो, वहाँ से वे चल दिए ॥ २८ ॥

रथान्मण्डलचक्रांश्च योजयित्वा परःशतम् ।

उष्ट्रगोरवस्वरैर्भृत्या भरतं यान्तमन्वयुः ॥ २९ ॥

तब अनेक नौकर रथों में घोड़े, ऊँट, बैल और खरचर जोत, भरत के रथ को चारों ओर से घेर कर, उनके साथ रवाना हुए ॥ २९ ॥

बलेन गुप्तो भरतो महात्माः

सहायकस्यास्त्वसमैरमात्यैः १ ।

आदाय शत्रुघ्नमपेतशत्रु-

गृहाययौ सिद्ध इन्द्रेन्द्रलोकात् ॥ ३० ॥

इति सप्ततितमः सर्गः

महाधैर्यवान् भरत नाना के आत्मसदृश ऋषिवासी मंत्रियों और सैनिकों से सुरक्षित हो एवं शत्रुघ्न को साथ ले राजमवन से

१ महात्मा—महाधैर्यो भरतः । (गो०) २ धायकस्य—मातामहस्य ।

(गो०) । ३ आत्मसमैः—स्वयमावच्छेदीः । (गो०) ४ अपेतशत्रु—निष्करटक सन् । (गो०)

उसी प्रकार निर्भय हो चले, जिस प्रकार इन्द्रलोक से सिद्ध चलते हैं ॥ ३० ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

[ नोट—भरत जी राजगृह से अयोध्या जिस मार्ग से गये, वह राज मार्ग था । दूत जिस मार्ग से राजगृह गए थे, वह मार्ग समीप का था, किन्तु उसमें अनेक नदियाँ और पहाड़ पड़ते थे । भरत जी के साथ रथ हाथी, घोड़े तथा अनेक मनुष्य थे, अतः वह पहाड़ी मार्ग उनके लिए उपयुक्त न था । अतः वे आम रास्ते से अयोध्या गए । ]

—:००:—

## एकसप्ततितमः सर्गः

—:००:—

स प्राङ्मुखो राजगृहादभिनिर्वाय वीर्यवान् ॥

ततः सुदामां घृतिमान्मन्तीपविच्य तां नदीम् ॥१॥

पराक्रमी एवं तेजस्वी भरत, राजगृह से रवाना हो कर, पूर्व की ओर चले । कुछ दूर पर उनको सुदामा नाम की नदी देख पड़ी । वे उस नदी के पार हुए ॥ १ ॥

ह्यादिनीं दूरपारां च प्रत्यक्स्त्रोतस्तरङ्गिणीम् १ ।

शतद्रूमतरच्छ्रीमान्नदीमिद्वान्कुनन्दनः ॥ २ ॥

अनन्तर थड़े फाँट वाली ह्यादिनी नदी मिली, तिस पीछे पश्चिमवाहिनी शतद्रु ( सनलज ) मिली । इन दोनों नदियों के भी इद्वान्कुनन्दन भरत पार हुए ॥ २ ॥

१ प्रत्यक्स्त्रोतस्त(रङ्गिणीम्—पश्चिमप्रवाहा नदीम् । (स०) २

• पाठान्तरे—“उपवः” ।

एलाधाने नदीं तीर्त्वा प्राप्य चापरपर्वटान् ? ।

शिलामाकुर्वती तीर्त्वा आग्नेयं शल्यकर्त्तनम् ॥ ३ ॥

फिर वे एलाधान गाँव के पास बहने वाली नदी को पार कर परपट नामक ग्राम में पहुँचे । फिर उम नदी को, जिसमें जो वातु डाल दो वह पत्थर हो जाय, पार कर और आग्नेय दिशा की ओर चल कर, वे शल्यकर्त्तन नामक नगर में पहुँचे ॥ ३ ॥

सत्यसन्धः शुचिः श्रीमान् प्रेक्षमाणः शिलावहाम् ।

अत्ययात्म महाशैलान्वनं चैत्ररथं प्रति ॥ ४ ॥

उसके आगे सत्यसन्ध एव धर्मात्मा भरत जी ने शिलावहा नदी देखी । फिर बड़े-बड़े पहाड़ों को बचाते हुए, वे चैत्ररथ नामक की ओर चले ॥ ४ ॥

सरस्वतीं च गङ्गां च युग्मेन प्रतिपद्य च ।

उत्तरं वीरमत्स्यानां भारुण्डं प्राविशद्वनम् ॥ ५ ॥

अनन्तर सरस्वती और गङ्गा के सङ्गम पर होते हुए, वीर-मत्स्य नामक देश के उत्तर भागों को देखते हुए वे भारुण्ड वन में पहुँचे ॥ ५ ॥

वेगिनीं च कुलिङ्गाख्यां हादिनीं पर्वतावृताम् ।

यमुनां प्राप्य सन्तीर्णो बलमारवासयत्तदा ॥ ६ ॥

अनन्तर वेगवती, हर्य देने वाली और पर्वतों से घिरी हुई कुलिङ्गा को तथा यमुना को पार कर, उन्होंने सेना को विश्राम दिया ॥ ६ ॥

१ पूर्वपर्वटाअपरपर्वटा इचेति आनन्दयमस्ति । ( गो० ) २ शिलामा-कुर्वती—शिलामासमन्तात्कुर्वती । ( गो० )

शीतीकृत्य तु गात्राणि क्लान्तानाश्वस्य वाजिनः ।

तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायादादाय चोदकम् ॥७॥

थके हुए घोड़ों के शरीरों को ठंडा क्रिया अर्थात् उनके शरीर की थकावट दूर की। साथ के लोगों ने भी स्नान किए और जलपान क्रिया और रागने में पीने के लिए जल साथ ले, वे आगे बढ़े ॥ ७ ॥

[ टिप्पणी—जन साथ इसलिये लिया था कि, आगे वन पड़ता था, वहाँ जल मिलने की सुविधा नही थी ।

राजपुत्रो महारण्यमनमीच्छोपसेवितम् ।

भद्रो भद्रैश्च यानेन मास्तः खमिवात्ययात् ॥८॥

इसके अनन्तर भरत जी निर्जन महारण्य में पहुँचे और भद्र जाति के हाथी ( इस जाति का हाथी वनों में खूब चलता है ) पर सवार हो, बड़ी तेजी के साथ डम वन के पार हुए ॥ ८ ॥

भागीरथीं दुष्प्रतरामंशुधाने महानदीम् ।

उपायाद्राघवस्तूर्णं प्राग्घटे विश्रुते पुरे ॥ ९ ॥

अशुधान नगर के नीचे गङ्गा जी का पार करना असम्भव था। अतः वे बड़ी शीघ्रता से प्राग्घट नामक प्रसिद्ध घाट पर पहुँचे ॥ ९ ॥

स गङ्गां प्राग्घटे तीर्त्वा समायात्कुटिकोष्ठिकाम् ।

सवलस्तांस तीर्त्वाथ समायाद्धर्मवर्धनम् ॥ १० ॥

१ भद्रैश्च—भद्रगजरूपेणयानेन । ( गो० ) २ मास्तःखमिवात्ययात्—अतिवेगेनातिरान्तवान् । ( गो० )

चे प्राग्घट घाट से गङ्गा को पार कर, कुटिकोष्ठिका नदी पर पहुँचे और सेनासहित उसे भी पार कर, धर्मवर्द्धन नामक ग्राम में पहुँचे ॥ १० ॥

तोरणं दक्षिणार्धेन जम्बूप्रस्थमुपागमत् ।

वरुथं च ययौ रम्यं ग्रामं दशरथात्मजः ॥ ११ ॥

फिर तोरण नामक ग्राम के दक्षिण की ओर जम्बूप्रस्थ ग्राम में पहुँचे । फिर दशरथनन्दन भरत जी रमणीक वरुथ नामक ग्राम में पहुँचे ॥ ११ ॥

तत्र रम्ये वने वासं कृत्वाऽसौ प्राङ्मुखो ययौ ।

उद्यानमुज्जिहानायाः प्रियकाः यत्र पादपाः ॥ १२ ॥

फिर वरुथ ग्राम के वन में ठहर, वहाँ से पूर्व की ओर खाना हुए और उज्जिहाना नाम की पुरी के उपवन में, जहाँ पर वन्युक अथवा कदम्ब के पेड़ लगे थे, पहुँचे ॥ १२ ॥

सालांस्तु प्रियकान् प्राप्य शीघ्रानास्थाय वाजिनः ।

अनुज्ञाप्याथ भरतो वाहिनीं त्वरितो ययौ ॥ १३ ॥

उस साल और वन्युक के उपवन में पहुँच, रथ में शीघ्रगामी घोड़े जोत और सेना को धीरे धीरे पीछे आने की आज्ञा दे, भरत जी वहाँ शीघ्रतापूर्वक खाना हुए ॥ १३ ॥

[ टिप्पणी—उज्जिहानापुरी के आगे गौतमराज्य की सीमा आरम्भ होती थी—अतः अपने राज्य में किसी प्रकार का खटका न समझ, सेना का साथ छोड़, भरत जी, रथ में बैठ, शीघ्रतापूर्वक अयोध्या की ओर प्रस्थानित हुए । ]

वासं कृत्वा सर्वतीर्थे तीर्त्वा चोत्तानिकां१ नदीम् ।

अन्या नदीश्च विविधाः पार्वतीयैः२ स्तुरङ्गमैः ॥ १४ ॥

( रास्ते में भरत जी ने ) सर्वतीर्थ नामक ग्राम में टहर उत्तानिका नदी को पार किया । फिर अन्य अनेक नदियों को घन पहाड़ी घोड़ों की सहायता से पार किया ॥ १४ ॥

हस्तिपृष्ठकमासाद्य कुटिकामत्यर्पितं ।

ततार च नरव्याघ्रो लौहित्ये सिकतावतीम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर हस्तिपृष्ठक नगर के समीप कुटिका नदी पार की । पुरुषश्रेष्ठ भरत ने लौहित्य नगर के पास सिकतावती नदी को पार किया ॥ १५ ॥

एकसाले स्याणुमतीं विनते गोमतीं नदीम् ।

कलिङ्गनगरे चापि प्राप्य सालवनं तदा ॥ १६ ॥

भरत जी एकसाल नगर में स्याणुमती नदी को और विनतनामक नगर में गोमती नदी को पार कर, कलिङ्गनगर के सालवन में पहुँचे ॥ १६ ॥

भरतः विप्रमागच्छत्सुपरिश्रान्तराहनः ।

वनं च समतीत्याशु शर्वर्यामरूपोदये ॥ १७ ॥

भरत जी दड़ी तेजी से यात्रा कर रहे थे । अतः उनके रथ के घोड़े थक गए थे । अतः वे रात भर सालवन में विश्रामार्थ ठहर गए । जय रात बीती और मधरा हुआ ॥ १७ ॥

१ उत्तानिका—उन्नतनलत्वेनतदाख्यां । ( गो० ) २ पार्वतीयैः—  
पर्वत देशोत्पन्नीः । • पाठान्तरे—“व फरीवतीम्” ।



अयोध्यां मनुना राज्ञा निर्मितां मन्ददर्शं ह ।

तां पुरीं पुरुषव्याघ्रः सप्तरात्रोपितः पथि ॥ १८ ॥

तब वहाँ से रवाना हो भरत ने महाराज मनु को बताया  
अयोध्यापुरी देखी । राजगृह से अयोध्या तक आने में, रातों में  
भरत को सात रातों ( दिन ) लगी ॥ १८ ॥

अयोध्यामग्रतो दृष्ट्वा सारथिं वाक्यमब्रवीत् ।

एषा नातिप्रतीता मे पुण्योद्याना यशस्विनी ॥ १९ ॥

दूर ही से अयोध्या को देख, भरत जी सारथी से कहने लगे  
कि, यह पुरी तो मुझे जगन्प्रसिद्ध और स्वच्छ एवं हरे भरे  
उद्यानों से पूर्ण अयोध्या जैसी तो नहीं जान पड़ती ॥ १९ ॥

अयोध्या दृश्यते दूरात्सारथे पाण्डुमृत्तिका ।

यज्जभिर्गुणसम्पन्नैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ २० ॥

भूमिष्ठमृद्धैराकीर्णै राजपिपरिपालिता ।

अयोध्यायां पुरा शब्दः श्रूयते तुमुलो महान् ॥२१॥

हे सारथे! दूर से देखने पर तो अयोध्या पीली मिट्टी का एक टेंर  
सा जान पड़ती है । देखो, अत्यन्त समृद्धशालिनी और राजपियों  
द्वारा पालित अयोध्यापुरी में तो पहले यज्ञ-कर्त्ता, गुणी एवं वेद-  
पाठी ब्राह्मणों का बड़ा तुमुल शब्द सुनाई पड़ता था ॥२०॥२१॥

समन्तान्नरनारीणां तमद्य न मृणोम्यहम् ।

उद्यानानि हि सायाह्वे क्रीडित्वोपरतैर्नरैः ॥ २२ ॥

और चारों ओर स्त्री पुम्पों का जो दड़ा ढोलाहल हुआ करता था, वह तो मुझे श्रान मुनाई ही नहीं पडता । यहाँ के छपनों में सायङ्काल के समय खेलों से निवृत्ति हो, बहुत से पुम्प ॥ २० ॥

समन्ताद्विप्रधापद्भिः प्रकागन्ते ममान्यदाः ।

तान्यधानुरुदन्तीषु परित्यक्तानि कामिभिः ॥ २३ ॥

पहले इधर उधर दौड़ते हुए देग्न पड़ते थे, किन्तु आज तो वे छपन मुझे कामी लोगों द्वारा परित्यक्त होने के कारण रोते हुए से जान पड़ रहे हैं ॥ २३ ॥

अरण्यभूतेषु पुरी सारथे प्रतिभाति मे ।

न ह्यत्र यानैर्दृश्यन्ते न गजैर्न च वाजिभिः ॥ २४ ॥

निर्यान्तो वाऽभियान्तो वा नरमुरया यथापुरम् ।

उद्यानानि पुरा भान्ति मत्तप्रमुदितानि च ॥ २५ ॥

हे सारथे ! यह अयोध्या नहीं, किन्तु यह तो मुझे वजड़ी वृद्ध अयोध्या का वन जैसा जान पडता है । क्योंकि यहाँ न तो कोई सवारी और न कोई हाथी अथवा घोड़ों पर चढ़े प्रतिष्ठित पुरवासी आते जाते देख पड़ते हैं । बाटिकाओं में पड़ले गूँथ चहल पहल बनी रहती थी ॥ २४ ॥ २५ ॥

जनानां रतिःसंयोगेष्वत्यन्तगुणवन्ति च ।

तान्येतान्यद्य पश्यामि निरानन्दानि सर्वशः ॥ २६ ॥

और घाटिकाएँ विहार करने के लिए एकत्र हुए जनों से भरी रहती थीं और जो अनेक प्रकार के फूले हुए वृक्षों तथा लता गृहादि से शोभायमान होती थी—उन घाटिकाओं में मुझे आज उदामी सी छाई हुई देल पड़ती है ॥ २६ ॥

स्रस्तपर्यैरनुपथं विक्रोशद्भिरिव द्रुमैः ।

नाद्यापि श्रूयते शब्दो मत्तानां मृगपक्षिणाम् ॥२७॥

संरक्तां मधुपं वार्षीं कल व्याहरतां बहु ।

चन्दनागरुसंपृक्तो धूपसम्मूर्च्छितोऽतुलः ॥ २८ ॥

प्रवाति पवनः श्चीमान् न्किन्तु नाद्य यथापुरम् ।

मेरीमृदङ्गवीणानां कोणसङ्घट्टितः पुनः ॥ २९ ॥

सड़कों के अगल बगल लगे हुए वृक्ष पत्तों से रहित हो मानों चिल्ला-चिल्ला कर रोते हुए से जान पड़ते हैं । मद्माते मृगों और पक्षियों के अनुराग में भर कर, कलरव करने का शब्द भी तो आज नहीं सुनाई पड़ता । हे सुत ! इस पुरी में सदा चन्दन और अगार की धूप से धूपित अत्यन्त सुगन्धित पवन चला करता था, किन्तु आज वैसा पवन भी तो नहीं चल रहा है । पहले मेरी, मृदङ्ग और वीणा आदि वाजों के बजाए जाने का शब्द दार-दार हुआ करता था ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

किमद्य शब्दो विरतः सदाऽदीनगतिः पुरा ।

अनिष्टानि च पापानि३ परयामि विविधानि च ॥३०॥

१ धूपसम्मूर्च्छित.—धूपध्याप्तः । (गो०) २ श्चीमान्—रमणीयः । (गो०)  
३ पापानि—कुराणि । (गो०)

किन्तु आज क्या कारण है, जो वह पहले जैसा प्रसन्न करने वाला शब्द बंद है ? मुझे तरह-तरह के अनिष्ट और क्रूर शकुन दिखलाई पड़ते हैं ॥ ३० ॥

१निमित्तान्यमनोधानि<sup>१</sup> तेन सीदति मे मनः ।

सर्था कुशलं सूत दुर्लभं मम बन्धुषु ॥ ३१ ॥

देखने ही से दुःख देने वाले इन अपशकुनों से मेरा मन दुःखी हो रहा है । इससे मुझे जान पड़ता है कि, मेरे बन्धुओं बान्धवों का कुशलपूर्वक होना, सर्था दुर्लभ है ॥ ३१ ॥

तथा ह्यमति संमोहे<sup>२</sup> हृदयं सीदती मे ।

विषणः<sup>४</sup> श्रान्तहृदय<sup>५</sup>स्त्रस्तःसंलुलितेन्द्रियः<sup>६</sup> ॥ ३२ ॥

हे सूत ! घबड़ाने का कारण न होने पर भी, मेरा हृदय जोर-जोर से धड़क रहा है, मन उदास है और भय के कारण मन बाह्य इन्द्रियों क्षुब्ध हो रही हैं ॥ ३२ ॥

मरतः प्रविशेशाशु पुरीमिच्छाकृपालिताम् ।

द्वारेण वैजयन्तेन प्राप्तिशच्छ्रान्तवाहनः ॥ ३३ ॥

मरत जी इक्ष्वाकुपालित अयोध्यापुरी में, पुरी के वैजयन्त नामक पश्चिमद्वार से घुसे । उस समय उनके रथ के घोड़े बहुत थक गए थे ॥ ३३ ॥

१ निमित्तानि—अशुभसूचकानि । (गो०) २ अमनोधानि—दर्शनमात्रेण दुःखकारिणि । (गो०) ३ संमोहे—संमोहकारणे । (गो०) ४ विषणः—दुःखितः । (गो०) ५ श्रान्तहृदय—कृष्णचित्तमनस्कः । (गो०) ६ लुलितेन्द्रिय—दुःखितबाह्येन्द्रियः । (गो०)

द्वाःस्थैरुत्थाय विजयं पृष्टस्तैः सहितो ययौ ।

स त्वनेकाग्रहृदयो<sup>१</sup> द्वाःस्थं प्रत्यर्च्य<sup>२</sup> तं जनम् ॥३४॥

भरत जी को देख द्वारपाल उठ खड़े हुए और (रीत्यानुसार) विजय प्रश्न कर उनके साथ हो लिए । उस समय भरत जी का मन व्यग्र हो रहा था । अतः उन्होंने उन द्वारपालों को सत्कार-पूर्वक लौटा दिया ॥ ३४ ॥

सूतमश्वपतेः क्लान्तमन्नवीक्षत्र राघवः ।

किमह त्वरयानीतः कारणेन विनाऽनघ<sup>३</sup> ॥ ३५ ॥

केकयराज का सारथी जो बहुत थक गया था उससे भरत जी ने कहा—हे अनघ ! किस लिए विना कारण दत्तलाए शीघ्रता से मैं यहाँ बुलाया गया हूँ ॥ ३५ ॥

अशुभाशङ्कि हृदयं शीलं<sup>४</sup> च पततीव<sup>५</sup> मे ।

श्रुता नी यादृशाः पूर्वं नृपतीनां विनाशने ॥ ३६ ॥

मेरे मन में अनेक प्रकार की अशुभ शङ्काएँ उत्पन्न हो रही हैं और मन पर दीनता छाती जाती है । राजाओं के मरने पर जो अमाङ्गलिक लक्षण देख पड़ते हैं और जिन्हें मैंने पहले सुन रखा है ॥ ३६ ॥

आकारास्त्रानहं सर्वानिह परयामि सारथे ।

संमार्जनविहीनानि परुपाण्युपलक्षये ॥ ३७ ॥

१ अनेकाग्रहृदयः—व्याकुलमनाः । (गो०) २ प्रत्यर्च्य—सत्कारपूर्वक निवर्त्य । (शि०) ३ अनघेति—चिन्तासमर्पतोक्तिः । (गो०) ४ शील—नियतः-निरहितस्वभावः । (शि०) ५ पतति—अप्रगच्छतीव (शि०) ।

हे सारथे ! आज वे ही मत्र कुलचाण मुझे यहाँ देग पड़ रहे हैं । देखो, गृहस्थों के घर बिना मांडे बुहारे होने क कारण गदे जान पड़ते हैं ॥ ३७ ॥

असंयतक्राटानि श्रीविहीनानि मरगः ।

वलिकर्मविहीनानि धूपमम्मोदनेन च ॥ ३८ ॥

द्वारों के त्रिाड गुले पडे हैं, मत्र घरों की शोभा नष्ट सी हा गई है । वे सब वलिकर्म-विहीन, धूपगन्ध रहित हैं ॥ ३८ ॥

अनाशितकुटुम्बानि प्रभाहीनजनानि च ।

अलक्ष्मीकानि<sup>१</sup> परयामि बुटुम्बिमरनान्यहम् ॥३९॥

तथा भूखे और हतश्री जनों से भर हैं । गृहस्थों क मकान मुझे विचित्र धरजाओं और वदनवारों से रहित देख पड़ रहे हैं ॥३९॥

अपेतभान्यशोभान्यप्यस्तंभृष्टानिगणै च ।

देवागाराणि शून्यानि<sup>२</sup> न चामान्ति यथापुरम् ॥४०॥

किसी भी गृहस्थ के द्वार पर पुष्पमालाएँ लटकती नहीं देग पड़ती—सत्र घरों के अंगन त्रिना मांडे बुहारे पडे हैं । देवालियों में पुजारी आदि कोई भी नहीं है, उनकी जैसी पहले शोभा थी, वैसी अब नहीं है ॥ ४० ॥

देवतार्चाः प्रविद्धाश्च<sup>३</sup> यज्ञगोष्ठ्य<sup>४</sup>स्तथाविधाः ।

मान्यापणेषु राजन्ते नाद्यपण्यानि वा तथा ॥४१॥

१ अलक्ष्मीकानि—विचित्रध्वजतोरणायमावात् । (रा०) २ शून्यानि—पूजापरिचारिकादिरहितानि । (गो०) ३ प्रविद्धा—सुमा । (गो०) ४ यज्ञगोष्ठ्य—यज्ञसमा । (गो०)

न तो कोई देवताओं का पूजन कर रहा है और न राज-  
शालाओं में यज्ञविधान ही हो रहे हैं। आज कुलमालाओं की  
तथा अन्य वस्तुओं की दृश्यों शोभाहीन हो रही हैं ॥ ४१ ॥

दृश्यन्ते वणिजोऽप्यथ न यथापूर्वमत्र वै ।

ध्यानसंविग्नहृदया नष्टव्यापारयन्त्रिताः? ॥ ४२ ॥

यहाँ पर पहले की तरह व्यापारी भी प्रफुल्ल मन नहीं देख  
पड़ते। चिन्ता के मारे इनका मन घमड़ाया हुआ है क्योंकि  
इनकी व्यापार बढ़ ना हो गया है ॥ ४२ ॥

देवायतनचैत्येषु दीनाः पक्षिगरास्तया ।

मलिनं चाश्रुपूर्णाक्षं दीनं ध्यानपरं कृशम् ।

सखीपुंगं च पर्यामि जनमुत्कण्ठितं पुरे ॥ ४३ ॥

देवताओं के मन्दिरों में तथा देवाल्लयशिरोपों के पक्षिगर  
उदास बैठे हैं। मैंने कपटे पहिने, आँसुओं में आँसू भरे उदास,  
चिन्ताग्रस्त, दुबले पतले और उन्मत्त स्त्री पुरुष ही मुझे नगर  
भी में देख पड़ते हैं ॥ ४३ ॥

इत्येवमुक्त्वा भरतः सूतं तं दीनमानसः ।

तान्यरिष्टान्ययोध्यायां प्रेक्ष्य राजगृहं ययौ ॥ ४४ ॥

उदास मन भरत जी, इस प्रकार के वचन उस सूत से बहते  
और अयोध्या में इन अरिष्टों को देखते हुए, राजभवन की ओर  
गय ॥ ४४ ॥

तां शून्य'शृङ्गाटक'श्वेदमरथ्या  
रजोरुण'द्वारकपाटयन्त्राम् ।

दृष्ट्वा पुरीमिन्द्रपुरप्रज्ञाणा  
दुःखेन सम्पूर्णतरो बभूव ॥ ४५ ॥

उम इन्द्रपुरी के समान, अयोध्यापुरी के चौराहों और गलिया  
को ननरुण्य और मफलों के फिटाडा और फिटाडों के कील  
काटा को घूलधूमरित ( अर्थात् गर्म पड़ी हुई ) दग्ग, भरत जी  
अत्यन्त दुःखी हुए ॥ ४५ ॥

बहूनि पश्यन् मनमो'प्रियाणि  
यान्यन्यदा' नात्र' पुरे बभूवुः ।

अर्थाकिशरा दीनमना नहृष्टः  
पितुर्गहात्मा परिवेश वेष्म ॥ ४६ ॥

इति एकसप्ततितम सर्ग ।

भरत जाने ऐसे अनेक अप्रिय दृश्यों को, जो हमने पूर्व  
उद्धान कमा नहीं देखे थे, देख कर—नाचा मिर किए हुए और  
उदाम मन होने के कारण हर्षरहित हो, अपने महात्मा पिता  
के घर में प्रवेश किया ॥ ४६ ॥

अयोध्याश्राद्ध का इव'इत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

— ६ —

१ शून्या — जनरहिता । ( गा० ) २ शृङ्गाटक'श्वेदमरथ्या — चतुष्पथ  
गृहवीथयायत्या । गा० ) ३ रजोरुण'द्वारकपाटयन्त्राम् — रजोभि मलिनात्रि  
द्वारस्य'पाटानां दारुब'घातीनिदग्ग्या । ( गी० ) ४ अयग'—पूर्वकाले । ( गा० )

० पाठान्तरे—' नास्य ' ।



## द्विसप्ततितमः सर्गः

—०:—

अपरयंस्तु ततस्तत्र पितरं पितुरालये ।

जगाम भरतो द्रष्टुं मातरं मातुरालये ॥ १ ॥

भरत जी पिता के घर में पिता को न देख, माता के दर्शन की लालसा से अपनी माता के घर में गए ॥ १ ॥

अनुप्राप्तं तु तं दृष्ट्वा कैकेयी प्रोषितं सुतम् ।

उत्पपात तदा हृष्टा त्यक्त्वा सौवर्णमासनम् ॥ २ ॥

बहुन दिनों बाद विदेश से लौट कर घर आए, अपने प्रिय पुत्र भरत को देख, कैकेयी हर्ष में मग्न हो, सोने की चौकी से उठ खड़ी हुई ॥ २ ॥

स प्रविश्यैव धर्मात्मा स्वगृहं श्रीविवर्जितम् ।

भरतः प्रतिजग्राह जनन्याश्रयणीं शुभौ ॥ ३ ॥

धर्मात्मा भरत जी ने अपनी माता के घर में जा कर देखा कि, घर की शोभा नष्ट हो गई है । अनन्तर भरत जी ने अपनी माता के शुभ दोनों चरण छुए ॥ ३ ॥

सा मूर्ध्नि सहपात्राय परिष्वज्य यशस्विनम् ।

अङ्गे भरतमारोप्य द्रष्टुं सहस्रचक्रमे ॥ ४ ॥

उस समय कैकेयी भरत जी का मस्तक सूँघ, उनकी हृदय से लगा और गोदी में बैठा कर, उनसे पूँछने लगी ॥ ४ ॥

अथ ते कतिचिद्रात्र्यश्च्युतस्या' र्यक<sup>१</sup> वेश्मनः ।

अपि<sup>२</sup> नाध्वश्रमः शीघ्र<sup>३</sup> रथेनापततस्त्वव ॥ ५ ॥

हे वत्स ! आज तुमको नाना के घर से चले कितने दिन हो गए ? तुम रथ पर सवार जल्नी जल्नी आए हो, सो रास्तेकी थकावट तो तुम्हें कष्ट नहीं द रही है ॥ ५ ॥

आर्यकस्ते सुकृशली युधानिन्मातुलस्तव ।

प्रधासाद्य मुख पुत्र सर्व मे उक्तुमर्हसि ॥ ६ ॥

हे वत्स ! तुम्हारे नाना और मामा युधानित तो बहुत अच्छी तरह से हैं ? वेटा ! तब से तुम विदेश गए, तब से रहे तो अच्छी तरह न ? यह मत्र मुझे बतलाओ ॥ ६ ॥

एव पृष्टस्तु कैशेय्या प्रिय पार्थिवनन्दनः ।

आचष्ट भरतः सर्वं मात्रे राजीवलोचनः ॥ ७ ॥

कैशेयी के इस प्रकार पूछने पर प्रिय राजकुमार कमलनयन भरत ने अपनी माता से वहाँ का मारा वृत्तान्त कहा ॥ ७ ॥

१ अथ मे मत्समी रात्रिरच्युतस्यार्यकवेश्मनः ।

अम्नायाः कृशली तातो युधानिन्मातुलश्च मे ॥ ८ ॥

हे अम्ना ! नाना का घर छोड़े हुए मुझे आज मात रात बीत चुकी । मेरे नाना और मामा अच्छी तरह हैं ॥ ८ ॥

१ च्युतस्य—निर्गतस्य । (गो०) २ आर्यक—मातामह । (गो०)

३ अपि—प्रश्ने । (गा०)

यन्मे धनं च रत्नं च ददौ राजा परन्तपः ।

परिश्रान्तं पथ्यमवत्ततोऽहं पूर्वमागतः ॥ ९ ॥

शत्रुओं का दमन करने वाले राजा के रूप में मुझे विज्ञाई  
में जो रत्न धन दिए हैं, उन मन्त्रों में रत्ने ही में छोड़ कर,  
आगे चला आया हूँ । क्योंकि मन्त्रियों के जानवर दहृत कर  
गए थे ॥ ९ ॥

राजवाक्यहरैर्द्रुतैस्त्वर्यमाणोऽहमागतः ।

यदहं प्रष्टुमिच्छामि तदम्वा वक्तुमर्हति ॥ १० ॥

महाराज का संदेश ले कर जो वृत्त गये, उनके जन्मी  
करने पर ही मैं इतनी जल्दी आया हूँ । हे अम्मा । अब मैं जो  
कुछ पूछूँ उनका तू उत्तर मुझे दे ॥ १० ॥

शून्योऽयं शयनीयस्ते पर्यङ्की हेमभूषितः ।

न चापमिच्चाकुत्रनः? प्रहृष्टः प्रतिमाति मे ॥ ११ ॥

तुम्हारा यह सुवर्ण का पलंग महाराज बिना सुना क्यों है ?  
महाराज के कोई भी जन मुझको प्रमत्त नहीं जान पड़ते ॥ ११ ॥

गजा भवति भूयिष्ठ? मिहाम्वाया निवेशने ।

तमहं नाथ पश्यामि द्रष्टुमिच्छन्निहागतः ॥ १२ ॥

महाराज अधिकतर तेरे ही घर में रहा करते थे—मो वै  
आज नहीं देख पड़ते ! मैं उन्हीं के दर्शन करने को यहाँ आया  
हूँ ॥ १२ ॥

पितुर्ग्रहीष्ये चरणी तं ममाख्याहि पृच्छतः ।

आहोस्त्रिदम्ब ल्येष्टायाः कौस्तुभ्याया निवेशने ॥ १३ ॥

इस समय पिता जी कहाँ हैं ? मुझे यह बतलाओ क्योंकि मैं उनके चरणयुगल में प्रणाम करूँगा । वे क्या मेरी माताओं में सब से गड़ी माना कौसल्या जी के घर में हैं ? ॥ १३ ॥

तं प्रत्युवाच कैकेयी १प्रियवद्वधोरमप्रियम् ।

अज्ञानन्तं २ प्रज्ञानन्ती राज्यलोभेन मोहिता ॥ १४ ॥

इन प्रश्नों के उत्तर में, सारा वृत्तान्त जानने वाली कैकेयी, राज्यप्राप्ति के लोभ में फँस, महाराज का वृत्तान्त न जानने वाले भरत से प्रियासवाद की तरह, घोर अप्रिय वचन बोली ॥ १४ ॥

या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः ।

राज्ञो महात्मा तेजस्वी यायजूकः सतांगतिम् ॥ १५ ॥

हे बेटी ! सब प्राणियों की जो गति होती है, उसी गति को तुम्हारे महात्मा तेजस्वी और मन्त्रियों के आश्रयस्थल पिता महाराज दशरथ प्राप्त हुए हैं ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं ३धर्माभिन्नवाञ्छुचिः ।

पपात सहसा भूमौ पितृशोकबलादितः ॥ १६ ॥

कैकेयी की यह बात सुनते ही, धर्मात्माओं के वश में उत्पन्न-निष्कपट भरत, पितृशोक से विकल हो, सहने पृथिवी पर गिर पड़े ॥ १६ ॥

हा हतोऽस्मीनि कृपणां दीनां वाचमुदीरयन् ।

निपपात महाबाहुर्बाहू विविप्य वीर्यवान् ॥ १७ ॥

१ प्रियवत्—प्रियमिव । (गो०) २ अज्ञानन्त—राजवृत्तान्तमज्ञानन्तं । (गो०) ३ धर्माभिन्नवान्—धर्मयुक्तवशवान् (रा०)

और गिरते समय, महाबाहु एवं महाबली भरत जी दोनों हाथ पृथिवी पर पटक "हाथ मैं मारा गया" कहकर, करुणापूर्ण वचन बोले ॥ १७ ॥

ततः शोकेन मंविग्नेः पितुर्मरणदुःखितः १ ।

विललाप महातेजा भ्रान्ता कुलितचेतनः ॥ १८ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी भरत, पिता के मरने का समाद सुनने के कारण, शोक होने के कारण से विकल हो गए, और विलाप करने लगे ॥ १८ ॥

एतत्सुरुचिरं माति पितुर्मे शयनं पुरा ।

शशितेवामलं रात्रौ गगनं तोयदात्यये ॥ १९ ॥

आदलों के बिदा होने पर अर्थात् शरदकाल में चन्द्रमा से आकाश की जैसी शोभा होती है, पहले वैसी ही शोभा मेरे पिता से इस सेज को थी ॥ १९ ॥

यदिदं न विभ्रात्यद्य विहीनं तेन धीमता ।

व्योमेव शशिना हीनं विशुष्क इव सागरः ॥ २० ॥

आज इन बुद्धिमान पिता जी के बिना चन्द्रहीन आकाश जलहीन सागर की तरह यह सेज मुझे बुरी मालूम पड़ती है ॥ २० ॥

वाष्पमुत्सृज्य कण्ठेन स्वार्तः परमपीडितः ।

प्रच्छाद्य वदनं श्रीमदस्त्रेण जयतांवरः २ ॥ २१ ॥

मरणदुःखितः—मरणध्वरेण सजातदुःख । (गो०) २ भ्रान्ता—  
अनवस्थिता । (गो०) ३ जयतांवरः भरतः । (शि०) ४ पाठान्तरे—  
"सवीतः" ।

इस प्रकार भरत अपना मुख वस्त्र से ढक आँसू उहाते, अत्यन्त व्यथित हो, गद्गद् कंठ से विलाप करने लगे ॥ २१ ॥

तमातं देवसङ्काश समीक्ष्य पतितं भुवि ।

निकृत्तमिव सालस्यं स्वन्यं परशुना वने ॥ २० ॥

जिस प्रकार वन में कुल्हाड़ी से कटा हुआ शालवृक्ष का गुदा गिर पड़ता है, उसी प्रकार देवता के समान भरत जी, पिता की मृत्यु से दुःखित हो, भूमि पर गिर पड़े ॥ २२ ॥

माता मातङ्गमङ्काशं चन्द्रार्कमदृशं भुवः ।

उत्थापयित्वा शोभातं वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

यह देव, कैकेयी चन्द्र, सूर्य और हाथी के समान तेजस्वी शोकाकुल अपने पुत्र को पृथिवी से उठाकर, उससे बोली ॥ २३ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे राजपुत्र महायशः ।

त्वद्विधा न हि शोचन्ति सन्तः सदसि सम्मताः १ ॥ २४ ॥

हे महायशस्वी राजकुमार ! उठो ! तुम जमीन पर क्यों पड़े हो ? तुम जैसे सज्जन और सभ्य लोग कभी शोक नहीं करते ॥ २४ ॥

दानयज्ञाधिकाराहि शीलं श्रुतिं वचोनुगा ।

बुद्धिस्ते बुद्धिसम्पन्न प्रमेवार्कस्य मन्दिरे ॥ २५ ॥

१ सदसिसमता—सभ्या इत्यर्थः (गो०) २ शील—सद्वृत्त । (गो०) ३ श्रुतिवचोवेदवास्य । (गो०) ४ बुद्धिः—अव्यवसाय । (गो०) ५ अर्कस्य प्रभामन्दिर इव—सूर्यप्रभायथास्वरूपानेनिश्चला भवति तपते बुद्धिर्निश्चलाभातीत्यर्थः । (गो०)

हे युद्धिमान् ! जिस प्रकार सूर्य की प्रभा अपने स्थान पर निश्चल होती है—उसी प्रकार तुम्हारा अध्ययसाय, दान, यज्ञ, सदाचरण और वेदवाक्यों का अनुसरण करने वाला है—निश्चल है ॥ २५ ॥

स रुदित्वा चिरं कालं भूमौ विपरिवृत्य च ।  
जननीं प्रत्यवाचेद् शोकैर्वहुभिरावृत ॥ २६ ॥

इस प्रकार माता के समभाने पर भी बहुत देर तक भूमि पर लोटते और रोते रहे । तदनन्तर अत्यन्त शोभाकुल हो माता से बोले ॥ २६ ॥

अभिपेक्ष्यति रामं नु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते ।  
इत्यहं कृतसङ्कल्पो हृष्टो यात्रामयासिपम् १ ॥ २७ ॥

हे अम्मा ! मैंने तो यह समझा था कि, महाराज श्रीराम को राज्य देंगे और स्वयं कोई यज्ञानुष्ठान करेंगे । इसीलिए मैं प्रसन्न हो, वहा से चला या ॥ २७ ॥

तदिदं ह्यन्यथाभूतं व्ययदीर्घं मनो मम ।  
पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम् ॥ २८ ॥

किन्तु इस समय उसके विपरीत देर मेरा मन दुकड़े दुकड़े हुआ जाता है । क्योंकि अब मैं अपने सदाहितपी पिता को नहीं देख पाता ॥ २८ ॥

अम्ब केनात्यगाद्राजा व्याधिना मर्यःनागते ।

धन्या रामादयः सर्वे यैः पिता संस्कृतः स्वयम् ॥२६॥

हे अम्मा ! महाराज को क्या बीमारी हुई थी कि, मेरे आने के पूर्व ही उन्होंने शरीर छोड़ दिया ? धन्य हैं श्रीराम आदि भाई जिन्होंने पिता की और्ध्वदेहिक क्रिया की होगी ॥ २६ ॥

न नूनं मां महाराजः प्राप्तं जानाति कीर्त्तिमान् ।

उपजिघ्रे द्वि मां मूर्ध्नि तातः सन्नम्य सत्वरम् ॥३०॥

निश्चय ही कीर्तिशाली महाराज को यह नहीं मालूम कि मैं यहाँ आ गया हूँ — नहीं तो वे अश्रय अपना मस्तक मुझा मेरे सिर को तुरन्त सूँघते ॥ ३० ॥

क स पाणिः सुखस्पर्शस्तातस्याक्लिष्टकर्मणः ।

येन मां रजसा ध्वस्तमभीक्ष्णं परिमार्जति ॥ ३१ ॥

आ हा ! महाराज का यह हाथ, जो अग से स्पर्श करते ही मुझे सुख दिया करता था और मेरे धूलधूमरित शरीर की धूल बार बार झाड़ता था, क हाँ गया गया ? ॥ ३१ ॥

यो मे भ्राता पिता वन्धुर्यस्य दासोऽस्मि धीमतः ।

तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ३२॥

अब जो मेरे भ्राता, पिता और वन्धु हैं और जिन बुद्धिमान् का मैं दास हूँ, उन श्रीरामचन्द्र का पता मुझे शीघ्र बतला कि वे कहाँ हैं ? ॥ ३२ ॥



पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्मभार्यस्य<sup>१</sup> जानतः ।

तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम ॥ ३३ ॥

क्योंकि धर्मज्ञ और विवेकी जन का जेठा भाई पिता के तुल्य होता है । अतः मैं उनके पैर पडूँगा । क्योंकि अब तो मुझे नहीं का महारा है ॥३३॥

धर्मपिद्धर्मनित्यश्च सत्यसन्धो दृढव्रतः ।

आर्यः किन्नरीद्राजा पिता मे सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥

हे माता ! धर्मज्ञ और धर्म में निरत रहने वाले, सत्यप्रतिज्ञ तथा दृढव्रत महाराज मेरे विषय में क्या आज्ञा कर गए हैं अथवा मेरे लिए क्या बह गए हैं ॥ ३४ ॥

पश्चिम साधु सन्देशमिच्छामि श्रोतुमात्मनः ।

इति पृष्टा यथात्त्वं कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

मैं अपने विषय में महाराज का श्रान्तम सन्देश सुनना चाहता हूँ भरत की कें ऐसा पूछने पर कैकेयी ने जो ठीक बात थी वही यही ॥ ३५ ॥

रामेति राजा विलपन् हा सीते लक्ष्मणेति च ।

स महात्मा परं लोकं गतो गतिमतां वरः ॥ ३६ ॥

(कैकेयी बोली भरते समय महाराज ने तुम्हारा तो नाम भी नदी लिखा) उत्तम गति को प्राप्न होने वालों में श्रेष्ठ महाराज,

१ धर्मभार्यस्यजानतः—धर्मजानत आर्यस्य श्रेष्ठस्य विवेकिन पुरुषस्य । (रा०) २ पश्चिम संदेश—अन्त्यबालिकम् । (रा०)

हा राम ! हा सीता ! हा लक्ष्मण ! कहते और त्रिलाप करते हुए,  
परलोक सिधारे हैं ॥ ३६ ॥

इमां तु परिचमां वाच व्याजहार पिता तत्र ।

कालधर्मपरिचितः<sup>१</sup> पाशेरिव महागजः ॥ ३७ ॥

बड़ा हाथी जिम प्रकार बघन में बाँधा जाता है, उसी प्रकार  
तुम्हारे पिता ने काल और धर्म के बश हो, नर, अन्तिम समय  
यह कहा था ॥ ३७ ॥

सिद्धार्थास्ते नरा राममागतं सीतया सह ।

लक्ष्मण च महानाहु द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥ ३८ ॥

कि, वे नर ही सफल मनोरथ होंगे, जो सीतासहित श्रीराम  
और लक्ष्मण वन से लौटा हुआ देखेंगे ॥ ३८ ॥

तच्छ्रुत्वा निपसादैव द्वितीयाप्रियशसनात् ।

निपणणप्रदो भूत्वा भूयः पप्रच्छ मातरम् ॥ ३९ ॥

जब बैकेयी ने यह दूसरी अप्रिय बात कही, तब भरत जी और  
भी अधिक उदास हुए और फिर माता से पूछने लगे ॥ ३९ ॥

क चेदानीं स धर्मात्मा कौसल्यानन्दप्रधनः ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा मीतया च समगतः ॥ ४० ॥

हे अम्मा ! ये धर्मात्मा और कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने  
वाले श्रीराम, इस समय सीता और लक्ष्मण के सहित कहाँ  
हैं ? ॥ ४० ॥

१ कालधर्मपरिचित - कालधर्मोंमें शरीरविकासादिमें परित्यक्त । (शि०)

तथा पृष्ठा यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ।

माताऽस्य १ युगपद्वाक्यं त्रिप्रियं प्रियशङ्कया ॥ ४१ ॥

इस प्रकार भरत जो के पूँछने पर उनकी माता कैकेयी ने ज्यों का त्यों समस्त घटना सुनानी आरम्भ की । उसने समना कि, उस दारुण अप्रिय घटना का वृत्तान्त सुन, भरत अवश्य प्रसन्न होंगे ॥ ४१ ॥

स हि राजसुतः पुत्र चीरवासा महाबनम् ।

दण्डकान् सह वैदेया लक्ष्मणानुचरो गतः ॥ ४२ ॥

हे वत्स ! वे राजकुमार चीर को धारण कर, सीता और लक्ष्मण के साथ दण्डक नामक महावन को चले गए हैं ॥ ४२ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतत्नस्तो भ्रातुरचारित्रशङ्कया ।

स्वस्य वंशस्य माहात्म्यात्प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ४६ ॥

कैकेयी के मुख से श्रीराम का वन जाना सुन—भरत जी के मन में भाई के चरित्र के विषय में सन्देह उत्पन्न हुआ और वे बहुत भयभीत हुए । क्योंकि वे अपने वंश की महिमा जानते थे । अतः उन्होंने माता से फिर पूँछा ॥ ४६ ॥

कश्चिन्न ब्राह्मणधनं हृतं रामेण कस्यचिन् ।

कश्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥ ४४ ॥

हे माता ! क्या राम ने किसी ब्राह्मण का धन छीना या ? अथवा बिना अपराध किसी घनाढ्य या दरिद्री की हत्या की थी ? ॥ ४४ ॥

कच्चिन्न परदारान्वा राजपुत्रोऽमिमन्यते ।

कस्मात्प्र दण्डकारण्ये भ्रूणहेव निवासितः ॥ ४५ ॥

अथवा किसी परस्त्री की ओर घुरी दृष्टि से देखा था ! किस अपराध के कारण वह श्रुताध्ययनमम्पत्र राम वन में भेजे गए ? ॥ ४५ ॥

अथास्य चपला माता तत्स्वकर्म यथातथम् ।

तेनैव स्त्रीस्वभावेन२ व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ ४६ ॥

तब भरत की चपल मति माता ने अपनी ज्यों की त्यों करनी, स्त्री-स्वभाव सुलभ चपलता-वश, पहनी आरम्भ की ॥ ४६ ॥

एवमुक्त्वा तु कैकेयी भरतेन महारमना ।

उवाच वचनं हृष्टा मृदा पण्डितमानिनी ॥ ४७ ॥

जब भरत ने कैकेयी से इस प्रकार पूँछा, तब वह मूर्ख और अपने को पण्डित समझने वाली, प्रसन्न हो, यह बोली ॥४७॥

न ब्राह्मणधनं किञ्चिद्धृतं रामेण धीमता ।

कश्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥ ४८ ॥

बेटा ! बुद्धिमान राम ने न तो किसी ब्राह्मण का धन छीना और न बिना अपराध किसी धनी अथवा निर्धन का वध ही किया था ॥ ४८ ॥

१ भ्रूण — श्रुताध्ययनमम्पत्र । (गो०) २ स्त्रीस्वभावेन—चपलेन । (गो०) धर्माधमाइताहितोचितापुनिसविवेकशून्यतारूपेण । (रा०)

न रामः परदोरांश्च चक्षुर्म्यामपि परयति ।

मया तु पुत्र श्रुत्वैव रामस्यैवाभिषेचनम् ॥ ४६ ॥

राम परछी को तो आँस उठाकर भी कभी नहीं देखता ।  
किन्तु हे पुत्र ! मैंने जब राम के राज्याभिषेक की बात  
सुनी, ॥ ४६ ॥

याचितस्ते पिता राज्यं रामस्य च विवासनम् ।

स स्ववृत्तिः समास्थाय पिता ते तत्तथाऽकरोत् ॥ ५० ॥

तब मैंने तुम्हारे पिता से तुम्हारे लिए राज्य और राम के  
लिए वनवास माँगा । अतः अपना सत्यप्रतिज्ञा को पूरी करने  
के लिए तुम्हारे पिता ने वैसा ही किया ॥ ५० ॥

रामश्च सहस्रीमित्रिः प्रेषितः सह सीतया ।

तमपश्यन्प्रियं पुत्रं महीपालो महायशाः ॥ ५१ ॥

उन्होंने रामचन्द्र को सीता और लक्ष्मण सहित वन में भेज  
दिया । महायशास्वी महाराज दशरथ प्रियपुत्र अपने राम को  
न देखने के कारण ॥ ५१ ॥

पुत्रशोकपरिधूनः पञ्चत्वमुपपेदिवान् ।

त्वया त्विदानीं धर्मज्ञ राजत्वमवलम्ब्यताम् ।

त्वत्कृते हि मया सर्वमिदमेवाविधं कृतम् ॥ ५२ ॥

पुत्रशोक से पीड़ित हो, पञ्चत्व को प्राप्त हुए ( मर गये ) ।  
हे धर्मज्ञ ! अब तुम राजकाज सँभालो, क्योंकि तुम्हारे ही लिए  
इस प्रकार मैंने ये सब काम किए हैं ॥ ५२ ॥

१ स्ववृत्ति—त्वप्रतिज्ञारूपवृत्ति । ( गो० )

मा शोकं मा च सन्तापं धैर्यमाश्रय पुत्रक ।

त्वदधीना हि नगरी राज्य चैतदनायकम् ॥ ५३ ॥

हे बत्स ! तुम दुःखी मत हो और न सन्ताप ही करो । तुम धीरज रहो । क्यों क यह अयो यापुरी और विना राजा का यह राज्य, अत्र तुम्हारे ही अधीन है ॥ ५३ ॥

तत्पुत्र शीघ्रं विधिना विधिवै-

र्चमिष्टमुर्यैः सहितो द्विजेन्द्रैः ।

सङ्कल्प्य राजानमदीनसत्त्व-

मात्मानमुर्व्यामभिपेचयस्व ॥ ५४ ॥

इति द्विसप्ततितमः सर्गः ॥

अतः तुम इस घड़ी विधि विधान जानने वाले वसिष्ठादि ब्राह्मणों के साथ शीघ्र यथाविधि महापराक्रमी अपने पिता की प्रेतक्रिया समाप्त कर, राज्यासन ग्रहण करो और अपने मन को हिरास मत करो ॥ ५४ ॥

अयोध्याका 'ड का उद्धारार्थ सर्ग पूरा हुआ ।

—:०—

## त्रिसप्ततितमः सर्गः

—:०—

श्रुत्वा तु पितरं घृत्तं आतरो च पिनामितौ ।

भरतो दुःखसन्तप्त इदं वचनमप्रणीत् ॥ १ ॥

पिता का मरण, और दोनों भाइयों के निकाले जाने का वृत्तान्त सुन, भरत दुःख से सन्तप्त हो, कैकेयी से कहने लगे ॥ १ ॥

किन्तु कार्यं हतस्येह मम राज्येन शोचतः ।

विहीनस्याथ पित्रा च भ्राता पितृसमेन च ॥ २ ॥

पिता और पिता के समान भाई से रहित होने के कारण, मेरा तो सर्वनाश हो गया । ऐसी शोन्य दृष्टा में, मैं राज्य ले कर करूँगा ही क्या ? ॥ २ ॥

दुःखे मे दुःखमकरोर्त्रणे चारमिवादधाः ।

राजान प्रेतभासस्थं कृत्वा रामं च तपसम् ॥ ३ ॥

तूने महाराज दशरथ का मार और राम का तपस्वी बनेा, मुझे दुःख क उर्पर दुःख दिखा, मानों घाव पर निमक छिड़का है ॥ ३ ॥

कुलस्य त्वमभावाय कालरात्रिरिनागता ।

अङ्गारमुपगृह्यक्षुत्वां पिता मे नामबुद्धवान् ॥ ४ ॥

तू वा भरात्रि, से समान इस कुल का मत् नाश करने की यहाँ आई है । मेरे पिता ने जलते हुए अंगारे की समान अनजाने तुम्हें घर में रखा ॥ ४ ॥

मृत्युमापादितो राजा त्वया मे पापदर्शिनी ।

सुख परिहृतं मोहात्कुलेऽस्मिन् कुलपांसिनी ॥ ५ ॥

अरी पापिष्टे ! तूने महाराज को मार डाला । अरी कुलनाशिनी ! तूने मोहवश हो, सहसा इस घराने का सारा सुख नष्ट कर डाला ॥ ५ ॥

त्वां प्राप्य हि पिता मेऽद्य सत्यसन्धो महायशाः ।

तीव्रदुःखाभिसन्तप्तो वृत्तो दशरथो नृपः ॥ ६ ॥

सत्यप्रतिज्ञ एव महायशस्वी मेरे पिता महाराज दशरथ ने तुम्हें पाकर, या तेरे कारण बड़ा दुःख और मन्नाप भोगा ॥६॥

विनाशितो महाराजः पिता मे धर्मवत्सलः ।

कस्मात् प्रव्राजितो रामः कस्मादेव वनं गतः ॥ ७ ॥

तूने क्यों उन धर्मवत्सल मेरे पिता महाराज दशरथ का मार डाला और क्यों राम को वनगाम दिलाया और वे तेरे कहने से क्यों वन को चले गए ? ॥ ७ ॥

कौमल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकाभिपीडिते ।

दुष्करं यदि जीवेतां प्राप्य त्वां जननीं मम ॥ ८ ॥

तुम्हें जैसा मरी जननी के साथ रह कर, कौमल्या और सुमित्रा का पुत्रशोक से पीड़ित हो कर, जीवित रहना अब बहुत कठिन है ॥ ८ ॥

ननु त्वाप्येऽपि धर्मात्मा त्वयि वृत्तिः मनुत्तमाम् ।

वर्तते गुरुवृत्तिज्ञो यथा मातरि वर्तते ॥ ९ ॥

मेरे ज्येष्ठ और धर्मात्मा भाई राम जो गुरुजनो की सेवा करना जानते हैं, तेरी भाता वैसी ही सेवा करते थे, जैसा कि वे अपनी जननी में लक्ष हो किया करते थे ॥ ९ ॥

तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौमल्या दीर्घदर्शिनी<sup>१</sup> ।

त्वयि धर्म समास्थाय भगिन्यामिव वर्तते ॥ १० ॥

१ वृत्ति—शुभ्र्या । (गो०) २ दीर्घदर्शिनी—दूरकालमाव्यर्षदर्शिनी । (गो०) ।



मेरी दही नाना जैनस्या भवती विरति दो जानने पर भी धर्मपूर्वक तरे माय मगी बहिन जैना व्यवहार करती थी ॥ १० ॥

तस्याः पुत्रं महत्तानं चीरदन्कलनासनम् ।

प्रस्थाप्य वनवानाय कथं पापे न शोचामि ॥ ११ ॥

संके महत्ताना पुत्र को चीर और बल्लक पहना कर, वृत्त वन में निजग दिजा । अरी पापिन ! तिन पर भी तुझे दुःख क्यों नहीं होता ? ॥ ११ ॥

अपारदर्शनं शूरं कृतात्मानं यशस्विनम् ।

प्रब्राज्य चीरवनं विन्दु पश्यामि कार्णम्\* ॥ १२ ॥

जिन श्रीरामचन्द्र ने कभी दुःख नहीं देखा, ऐसे शूर और यशस्वी श्रीरामचन्द्र को चीर पहना कर और वन में निजग कर, वृत्त जग फल पाया ? ॥ १२ ॥

लुब्धाया विदितो मन्ये न तेऽहं राघवं प्रति ।

तथा क्षनयो राज्यार्थं त्वयाऽऽनीतो महानयम् ॥ १३ ॥

मेरी श्रीरामचन्द्र ने कौनी भक्ति है—यह बात वृत्त न जानी । इनीसे वृत्त लालच में फँस, राज्य के लिए यह महावनर्य हर टाला ॥ १३ ॥

अहं हि पुरुषव्याघ्रात्पश्यन् रामलक्ष्मणौ ;

केन शक्तिप्रभावेन राज्यं रक्षितुमुत्सहे ॥ १४ ॥

मे जिन पुनर्गसह राम और लक्ष्मण को देखे बिना किस शक्ति के न्हारे या बल पर इस राज्य की रक्षा करसकूंगा ॥ १४ ॥

तं ह नित्यं महाराजो बलवन्तं महानलः ।

अपात्रितोऽभूद्धर्मात्मा मेरुर्मैरुनं यथा ॥ १५ ॥

मेरो तो गिनती ही किममे है, महाराज दशरथ जी उन्ही बलवान और महापराक्रमी राम का उसी प्रकार सदा भरोमा रखते थे जिम प्रकार मेरु पर्वत निकटस्थ वन पर भरोमा रखता है ॥ १५ ॥

मोऽहं कथमिमं भारं महाधुयसमुद्भूतम् ।

१टम्यो धुरमिवासाद्य वहेयं केन चीजसा ॥ १६ ॥

अतएव मैं क्यों कर और किमके भरोसे से इस बड़े भारी राज्यभार को उठा सकूँगा ? जिन भार को बड़ा बलवान वैज ग्रीष मरना है, उसे छोटी उम्र का बड़ड़ा क्यों कर ग्रीष सकता है ? ॥ १६ ॥

अथवा मेऽभवेन्द्राक्तः रयोगैर्बुद्धि बलेन२ वा ।

सकामां न करिष्यामि त्वामह पुत्रगर्धिनीम् ॥ १७ ॥

यदि मैं सामदानादि उपायों से अथवा बुद्धिवल से, इस राज्य भार को उठा भी सकूँ, तो भी पुत्र के राज्य की अभिजाया करने वाली तैरी यह कुत्मित साध, मैं कभी पूरा न होने दूँगा ॥ १७ ॥

न मे प्रिकाट्त्वा जायेत त्यक्तुं त्वां पापनिश्चयाम् ।

यदिरामस्य३ नापेत्वा त्वपि स्थान् मातृवत्सदा ॥ १८ ॥

१ टम्यः—नरुणवत्सह्य । (गो०) २ योगी—सामादानाद्युपाये ।

(गो०) ३ बुद्धिवलेन—महोपायान्पाद्युक्तबुद्धिवलेनच । (गो०)

४ पुत्रगर्धिनीम्—पुत्र प्रसन्ननाभिजायवतीम् (गो०)

० पाठान्तरे—“ नापेत्वा ” ।

यदि राम की तुममें माता के समान श्रद्धा न होती, तो मैं तुम्हें पापिन को अवश्य त्याग देता ॥ १८ ॥

उत्पन्ना तु कथं बुद्धिस्तुवंपं पापदर्शिनी ।

साधुचारित्रनिभ्रष्टे पूर्वेषां नो विगहिता ॥ १९ ॥

अरे पापदर्शिनी ! हमारे पूर्वजों की प्रथा को कलङ्कित करने वाली यह बुद्धि तुम्हें कैसे उत्पन्न हुई ? ॥ १९ ॥

अस्मिन् इले हि पूर्वेषां ज्येष्ठो राज्येऽभिपिच्यते ।

१ अपरे भ्रातरस्तस्मिन् प्रवर्तन्ते समाहिताः ॥२०॥

क्योंकि इस राजवंश में पीढ़ियों से यह चाल चली आती है कि, सत्र भाइयों में लो बड़ा होता है, वही राजगद्दी पर बैठता है और ( छोटे ) सत्र भाई उसके अधीन रहते हैं ॥ २० ॥

न हि मन्ये नृशंसे त्वं नराजधर्ममवेक्षसे ।

गतिं३ वा न विजानासि राजवृत्तस्य शाश्वतीम् ॥२१॥

अरे नृशंसे ! तेरी दृष्टि राजधर्म की ओर नहीं है और न तू राजधर्म के विविध सनातन प्रकारों ही को जानती है ॥ २१ ॥

सततं राजवृत्तेऽ हि ज्येष्ठो राज्येऽभिपिच्यते ।

रात्रामेतत्समं तत्स्यादिव्वाकृषां विशेषतः ॥ २२ ॥

राजधर्मानुसार जो ज्येष्ठ होता है, उसी का राज्याभिषेक होता है । यही प्रथा सत्र राजाओं में है । भूतिसमै भी इस्वाहुकुल में तो इसका विशेष आग्रह है ॥ २२ ॥

१ अपरे—कनिष्ठाभ्रातर । (गो०) २ राजधर्म—राजाविहित धर्म । (गो०) ३ गति—प्रकारवा । ४ राजवृत्ते—राजधर्म । (स०)

तेषां धर्मैकरक्षाणां कुलचारित्रःशोभिनाम् ।

अत्र चारित्रशौण्डीयं<sup>१</sup> त्वां प्राप्य विनिवर्तितम् ॥२३॥

आज तूने, धर्म प्रतिपालक एव अष्ट्रे चरित्र से मुशोभित इक्ष्वाकुवंश का मदावार सम्वन्धी गर्भ धून मे भिला दिआ ॥२३॥

तत्रापि सुमहाभागा<sup>२</sup> जनेन्द्राः<sup>३</sup> कुलपूर्वगाः<sup>४</sup> ।

बुद्धेमोहः कथमयं सम्भूतस्त्वयि गहितः ॥ २४ ॥

तेरा भी तो एन मुचरित्र कुलीन राजवरा मे जन्म हुआ है । फिर क्योंकर तेरी बुद्धि मे ऐसा गहित मोह उत्पन्न हुआ ? अर्थात् कैसे तेरी ऐसी दुष्टबुद्धि हो गई ॥ २४ ॥

न तु कामं करिष्यामि तवाहं पापनिश्चये ।

त्वया व्यसनमारुह्यं जीवितान्तकरं मम ॥ २५ ॥

हे पापिन ! याद रग्य, चाहे जो कुछ हो, मैं तेरी साध कभी पूरी न करूँगा । क्योंकि तूने मेरे प्राण लेने वाले प्रपञ्च का सुन-पात किआ है ॥ २५ ॥

एष त्विदानीमेवाहमप्रियार्थं तत्रानघम् ।

निवर्तयिष्यामि वनाद्भ्रातरं स्वजनप्रियम् ॥ २६ ॥

मैं तुम्हे विमाने क लिप हरजनों के प्यारे एव निदीप धड़े माई राम को अभां वन से लौटा लाता हूँ ॥ २६ ॥

१ कुलचारित्र—कुलक्रम गतचरित्र । (गो०) २ चारित्रशौण्डीयं—चरित्रगर्भितत्व । (गो०) ३ जनेन्द्राः—राजानः । (गो०) ४ कुलपूर्वगाः—कुलवधेयाः । (गो०)

निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः ।

दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना ॥ २७ ॥

मैं राम को केवल वन से लौटा ही न लाऊंगा, प्रत्युत उनका दास बन कर और मन लगा कर, उनकी सेवा भी करूँगा ॥ २७ ॥

इत्येवमुक्त्वा भरतो महात्मा

प्रियतरैः' वाक्यगणैस्तुदंस्वाम् ।

शोकातुरश्चापि ननाद भूयः

सिंहो यथा पर्वतगह्वरस्थः ॥ २८ ॥

इति सप्ततितमः सर्गः ॥

इस प्रकार भरत जी अनेक बठोर वचनों से कैकेयी को मर्माहत करते हुए और स्वयं शोक से कातर हो, मन्दराचल की कन्दरा में बैठे हुए सिंह की तरह पुनः गरज कर बोले ॥२८॥

श्रयोव्याकाण्डात् तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—: ❁ :—

चतुःसप्ततितमः सर्गः



तां तथा गर्हयित्वा तु मातरं भरतस्तदा ।

रोपेण महताविष्टः पुनरेवात्रवीद्वचः ॥ १ ॥

इस प्रकार भरत जी माता को विकार कर और अत्यन्त कुपित हो, फिर अपनी माता कैकेयी से कहने लगे ॥ १ ॥

राज्याद्भ्रंशस्य कैकेयि नृशंसे दुष्टचारिणि ।

परित्यक्ता च धर्मेण श्मामृतं रुदती भव ॥ २ ॥

हे निष्कृष्टः ! हे दुष्टे ! तू राज्यभ्रष्ट हो, ( अर्थात् तू भी वन में चली जा ) क्योंकि तू अधर्मिन है । अब मैं मरता हूँ, तू मेरे लिए रो अथवा तू पतिव्रताधर्म को जप त्याग ही चुभी, तब तुझे उचित है कि, तू मृगपति के लिए मत रो ॥ २ ॥

किन्नु तेऽप्यद्राजा रामो वाभृशधार्मिकः ।

ययोर्मृत्युर्विवासश्च त्वत्कृते तुल्य - मागता ॥ ३ ॥

भला बता तो, महागज ने और परमधार्मिक राम ने तेरा क्या शिखाड़ा था जो तूने एक ही समय में महाराज को ती मार डाला और राम को वन में निशान दिखा ॥ ३ ॥

अणहत्यामसि प्राप्ता कुलम्यास्य विनाशना ।

कैकेयि नरकं गच्छ मा च भर्तुः सलोकताम् ॥ ४ ॥

हे कैकेयी ! इस प्रकार वंश का नाश करने से तुझे गर्भस्थ बालक को मार डालने जैसा पाप लगा है ( गमं गिराने जैसा ) अतः तू नरक में गिर । क्योंकि तू मेरे पिता के लोक में जाने की अधिकारिणी नहीं है ॥ ४ ॥

१ श्मामृत रुदती भव—प्राणहानिकरकार्यकरणान्शामृतमत्वारोदन कुर्वित्यर्थः । यद्दामृत भर्तारं उद्दिश्य रुदती च मा भव पति भार्वाभाव-स्यगतत्वादिति भावः । (गो०) २ तुल्य—पुगपत् । (गो०)

यत्त्वया हीदृशं' पा ० वृत्तं घोरेण कर्मणा ।

सर्वलोकप्रियं हित्वा ममाप्यापादितं भयम् ॥ ५ ॥

क्योंकि तूने घोर कर्म कर ऐसा पाप कर्म किया है। तूने सर्व-लोक-प्रिय राम का त्याग कर, मेरे लिए केवल राज्य सम्पादन ही नहीं किया प्रत्युत भय भी उत्पन्न कर दिया है ॥ ५ ॥

त्वत्कृते मे पिता वृत्तो रामश्चारण्यमाश्रितः ।

अयशो जीवलोके च त्वयाहं प्रतिपादितः ॥ ६ ॥

तेरी ही करतूत से मेरे पिता की जात गई और मेरे भाई राम वनवामी हुए और इस संसार में (इस प्रकार) तूने मुझे बदनाम किया ॥ ६ ॥

मातृरूपे ममामित्रे नृशंसे राज्यकामुके ।

न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्धृत्ते पतिघातिनि ॥ ७ ॥

तू बड़े ही कठोर हृदय की है; तुझे राज्य का लालच है, तू मेरी माता नहीं, बल्कि माता के रूप में मेरी शत्रु है। अरा दुष्टा! अरी पतिघातिनि! तू मुझसे बोलने योग्य नहीं है अर्थात् मुझसे मत बोल ॥ ७ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या मम मातरः ।

दुःखेन महताविष्टास्त्वां प्राप्य कुलदूषणीम् ॥ ८ ॥

अरे कुल में चट्टा लगान वाली! तेरी ही करतूत से, कौमल्या, सुमित्रा तथा मेरी अन्य माताएँ, बड़े दुःख में पड़ी हुई हैं ॥ ८ ॥

न त्वमश्वपतेः<sup>१</sup> कन्या धर्मराजस्य<sup>२</sup> धीमतः ।

राक्षसी तत्र जातामि कुलप्रघ्नसिनी पितुः ॥ ६ ॥

तू दुर्द्धिमान् ण्य वर्मात्मा महाराज अश्वपति की कन्या कहलाने याग्य नही है । तू .नो मेरे पिता के कुल का (नाम) नारा करने के लिए अश्वपते के घर में राक्षसी पैदा हुई ॥ ६ ॥

यत्प्रया धामिको रामो नित्य सत्यपरायणः ।

वनं प्रस्थापितो दुःखात्पिता च त्रिदिवं गतः ॥१०॥

तूने उन धर्मात्मा राम को, जो सदा सत्य में तत्पर रहते हैं, वन में भिजवा दिया । और उनके वियोगजनित शोक से पीड़ित कर, पिता को परलोक भेज दिया ।

यत्प्रधानामि तत्पापं मयि पित्रा पिनाकृते ।

भ्रातृभ्यां च परित्यक्ते सर्वलोकस्य चाश्रिये ॥ ११ ॥

यह पापकर्म तो तूने किया और उसका फल भुगतना मुझको पड़ा कि, मैं पिताहीन हो गया, दोनों भाइयों से शिष्टुड गया और सब लोगों की दृष्टि से गिर गया ॥११॥

कौसल्यां धर्मसंयुक्तां त्रियुक्तां<sup>३</sup> पापनिश्चये ।

कृत्वा क प्राप्स्यसे त्वद्य लोक<sup>४</sup> निरयगाभिनि ॥१२॥

१ त्वमश्वपते कन्या—त कुलाधितकन्यानभवति (गो०) २ धर्म-  
राजस्य—धर्मप्रधानराजस्य । ( गो० ) ३ त्रियुक्ता—पतिपुत्रवियुक्ता ।  
( य० ) ४ कलोक—क नरकलोकम् । ( रा० )



अरी पापिन ! अरी नरक में जाने वाली, यह तो बनला कि  
(धर्मचारिणी कौन्त्या का पति और पुत्र से बिटोह करवा, नू  
अत्र किम नरक में गिनेगी ? ॥ १२ ॥

किं नामबुध्यसे क्रूरे नियतं वन्दुमंश्रयम् ॥

ज्येष्ठं पितृममं रामं कौस्तुभ्यायात्ममन्भवम् ॥ १३ ॥

अरे दुष्टा ! क्या तुझे यह नहीं मालूम था कि, राम वन्दु  
वान्श्यों के मद्रा आधात्मूत हैं तथा ज्येष्ठ भ्राता होने के कारण  
मेरे लिए पिता के ममान हैं और 'महारानी कौस्तुभ्या' के गर्भ से  
उत्पन्न हुए हैं ॥ १३ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गजः पुत्रो हृदयाच्चापि जायते ।

तस्मान्प्रियतमो मातुः प्रियत्वान्न तु बान्धवः ॥१४॥

यों तो देखा जाय तो वन्दुगान्धव सभी प्रिय होते हैं, किन्तु  
मनसे अधिक पुत्र हा माता को प्रिय होता है—न्योंकि वह माता  
के अङ्ग प्रत्यङ्ग से और हृदयकमल से भी जन्म ग्रहण करता है  
अर्थात् ऐसी परम वस्तु का वियोग एक माता के लिए कितना  
दुःखदायी होता है—सबे तूने जरा बिचारा होता ॥१४॥

[टिप्पणी—उक्त श्लोक में "अङ्गादङ्गात्मभवसि हृदयादपि जायते ।  
आत्मा वै पुत्र नामसि ।" श्रुति का ग्रंथं गभित है । ]

अन्यदाः किल धर्मज्ञा सुरभिः सुरमम्भता ५ ।

वहमानौः ददर्शोर्व्या पुत्रौ विगतचेतमौ ६ ॥१५॥

१ नियत—नितरा । ( शि० ) २ हृदयात्—हृदयपुरदरीकात्  
( गो० ) ३ अन्यदा—पूर्वकाले । ( गो० ) ४ सुरमम्भता—देवपूजिता ।  
५ वहमानौ—हलमिथिशेष । ( गो० ) ६ विगतचेतमौ—मूर्द्धिता  
वित्पर्य । ( गो० )

• पाठान्तरे—“बुद्धिसभया” ।

तवार्घदिवसे श्रान्तौ दृष्ट्वा पुत्रौ महीतले ।

रुरोद पुत्रशोकैः वाप्पपर्याकुलेक्षणा ॥ १६ ॥

किसी भी माता के लिए पुत्रशोक कितना दुःखदायी होता है, इसका दृष्टान्त भरत जी देते हैं ।) यह दृष्टान्त धर्मज्ञों का कहा हुआ है । पूर्वकाल में एक दिवस, देवताओं की पूज्या कामधेनु ने देखा कि, उनके दो पुत्र हल खींचते दोपहर के समय, थक जाने के कारण मूर्च्छित हो गए हैं । पुत्रों के दुःख से दुःखी कामधेनु आँसों से आँसू गिराती हुई, रोने लगी ॥ १५ ॥ १६ ॥

अधस्ताद्ब्रजतस्तस्याः सुरराज्ञो महात्मनः ।

विन्दवः पतिता गात्रे सूक्ष्माः सुरभिगन्धिनः ॥ १७ ॥

उसी समय किसी काम के लिए देवराज इन्द्र भूलोक में यात्रा कर रहे थे । उन समय उनके शरीर पर कामधेनु के सुगन्धित और सूक्ष्म आँसुओं की बूंदें पड़ीं ॥ १७ ॥

इन्द्रोप्यश्रुतिपातं तं स्वगात्रे पुण्यगन्धिनम् ।

सुरभिं मन्यते दृष्ट्वा भूयसीं तां सुरेश्वरः ॥ १८ ॥

इन्द्र के शरीर पर कामधेनु के जो आँसू गिरे थे, उनमें से सुगन्धि निकलती देख, इन्द्र ने जान लिया कि, कामधेनु मन से उत्तम है ॥ १८ ॥

निरीक्षमाणः शक्रस्तां ददर्श सुरभिं स्थिताम् ।

आकाशे त्रिष्टितां दीनां रदन्तीं भृशदुःखिताम् ॥ १९ ॥

तत्र चौक कर इन्द्र ने ऊपर की ओर देखा तो आकाश में सड़ी और अत्यन्त दुःखित हो रोता हुई विचारी कामधेनु को पाया ॥ १९ ॥

तां दृष्ट्वा शोकमन्तसां वज्रपाणिर्यशस्विनीम् ।

इन्द्रः प्राञ्जलिरुद्विग्नः सुरराजोऽत्रवीद्वचः ॥ २० ॥

उस यशस्विनी कामधेनु को शोकमन्तत देख, वज्रधारी सुरराज इन्द्र बहुत घनडाए और हाथ जोड़ कर कामधेनु से कहने लगे ॥ २० ॥

भयं कच्चिन्न चास्मासु कुतश्चिद्विद्यते महत् ।

कुतोनिमित्तः शोकस्ते ब्रूहि सर्वहितैपिणि ॥ २१ ॥

हे सब लोकों की हितैपिणी ! तू क्यों रो रही है ! क्या हम लोगों के ऊपर कोई महा विपत्ति पड़ने वाली है, जिससे तू इतना दुःखी हो रही है ! अपने दुःख का कारण तो बतला ॥ २१ ॥

एवमुक्त्वा तु सुरभिः सुरराजेन धीमता ।

प्रत्युवाच ततो धीरा वाक्यं वाक्यविशारदा ॥२२॥

बुद्धिमान इन्द्रराज ने जब ऐसा कहा, तब बात कहने में चतुर कामधेनु ने धीरे धर कर उत्तर दिया ॥ २२ ॥

शान्तं पापं न वः किञ्चित्कृतश्चिदमराधिप ।

अहं तु मग्नौ शोचामि स्वपुत्रौ विपमे स्थितौ ॥२३॥

हे देवराज ! नही नहीं, तुम लोगों के भय की कोई बात नहीं है । मुझे तो अपने इन दो पुत्रों को दुःखी देख, दुःख हो रहा है ॥ २३ ॥

एतौ दृष्ट्वा कृशौ दीनौ सूर्यरश्मिप्रतापितौ ।

अर्घ्यमानौ घलीवर्दी कर्षक्रेण सुराधिप ॥ २४ ॥

देगो ये दोनों बेल जैसे दुबले हा रह हैं, तिस पर भी सूर्य के ताप से मन्थत हा, ये बेबारे दीन हो रहे हैं । हे सुरराज ! किसान ने इन दोनों को मारा पीटा भी है ॥ २४ ॥

मम कायात्प्रसूतौ हि दुःखितौ भारपीडितौ ।

यौ दृष्ट्वा परितप्येऽह नास्ति पुत्रसमः प्रियः ॥ २५ ॥

ये दोनों मेरे शरीर में त्पत्र हुए हैं । अतः इनको दुःखी और हल में जुतने र भार से पीडित दर, मुझे बडा सन्ताप हो रहा है—क्योंकि माना क लिये अपने पुत्र से बढ कर, दूसरी कोई वस्तु प्रिय नहीं है ॥ २५ ॥

यस्याः पुत्रसहस्रैस्तु कृत्स्न व्याप्तमिदं जगत् ।

तां दृष्ट्वा रुदतीं शक्री न सुतान् मन्यते परम् ॥ २६ ॥

जिसके सहस्रा पुत्रों से यह समस्त जगत् भरा पडा है, उसे अपने दो पुत्रों क लिये रोते हुए दग्ग, इन्द्र ने जाना कि, माँ की पुत्र से बढ कर और कोई वस्तु प्यारी नहीं है ॥ २६ ॥

सदाऽप्रतिमनुचाया लोमधारणकाम्यया ।

श्रीमत्पारु गुणनित्यायाः स्वभावपरिवेषया ॥ २७ ॥

यस्याः पुत्रसहस्राणि माऽपि शोचति कामधुक् ।

किं पुनर्या त्रिना रामं कौसल्या वर्तयिष्यति ॥ २८ ॥

क मधेनु लोको के ऊपर अन्नग्रह धरने की इच्छा से मय के साथ एक सा यथांश करती है और मयके मनोरथ पूर्ण करने की सामर्थ्य भी रखती है, उसके अनन्त पुत्र रहते हुए भी, जब वह कामधेनु मातु-भ्य-भाव-मुलभ पुत्र-मेह-धरा को पुत्रों के दुःख से दुःखित हो गई तब हे कैशयी ! तबला तो, नौमल्या अपने एकमात्र पुत्र के जिना वरों कर जोधित रह सकेगा ? ॥ २७ ॥ २८ ॥

एकपुत्रा च साध्वी च मित्रसेयं त्वया कृता ।

तस्मात्त्व सतत दुःख प्रेत्य चेह च त्वन्वसे ॥२८॥

इस समय तूने एक पुत्र वाला एक साध्वी कौसल्या से उसके पुत्र का विछोह करा दिया है, अतः तू इस लोक और परलोक में सदा ही दुःख भोगेगी ॥ २८ ॥

अहं ह्यपचितिः आतुः पितुश्च सकलामिमाम् ।

वर्धनं यशमश्वापि करिष्यामि न मंशयः ॥ ३० ॥

मैं तो अत्र पिता का आँद-दाँदिक कृत्य कर और भाई की सेवा कर, निम्न-न्द-ह सम्पूर्ण रूप से उनका सम्मान करूँगा और उनके यश को बढ़ाऊँगा ॥ ३० ॥

आनाययित्वा तनयं कौसल्याया महाबलम् ।

स्वयमेव प्रवेक्ष्यामि वनं मुनिनिपेयितम् ॥ ३१ ॥

मैं उन महाबली नौमल्यानन्दन का वन से लौटा कर, स्वयं मुनिसेवित वन में जा कर रहूँगा ॥ ३१ ॥

न ह्यहं पापमङ्गल्ये पापे पापं त्वया कृतम् ।

शक्तो धारयितुं पौरश्रुक्णैर्नारीदितः ॥ ३२ ॥

क्योंकि हे दुष्ट विचारोंवाली पापिष्ठा ! जब पुराणों मेरी ओर आँसू भरे नेत्रों से देखेंगे, तब मैं तेरे इस पापपूरित कृत्य को कैसे सहन कर सकूँगा ? ॥ ३२ ॥

सा त्वमग्निं प्रविश ना स्वयं वा दण्डकान्विषा ।

रज्जुं बधान नाकण्ठे न हि तेऽन्यत्परायणम् ॥३३॥

अब तो तुझे यही उचित है कि, या तो तू अग्नि में गिरकर भस्म हो जा, या दण्डकान्वन में चली जा या गले में फाँसी लगा । क्योंकि बिना मेरे तेरे लिए और कोई गति नहीं है ॥ ३३ ॥

अहमप्यग्निं प्राप्ते रामे सत्यपराक्रमे ।

कृतकृत्यो भविष्यामि त्रिप्रयासितकृन्मपः ॥ ३४ ॥

मेरे मन की वसक वभी मिटेगी और मैं अपने को तभी कृतकृत्य मानूँगा, जब सत्यपराक्रमी राम लौट आयेगे ॥ ३४ ॥

इति नाग इवारण्ये तोमराङ्क शचोदितः ।

पपात भुवि संक्रुद्धो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ३५ ॥

भरत जी इस प्रकार विलाप करते करते तोमर और अंकुश के मारने से उत्पीड़ित हाथी की तरह, क्रोध में भर, पृथिवी पर गिर, मर्ष की तरह कुँफुट्टारने लगे ॥ ३५ ॥

संरक्तनेत्रः गिथिलाम्बरस्तथा

विधूतसर्गाभरणः परन्तपः ।

वभूव भूमौ पतितो नृपात्मजः

शचीपतेः केतुरिवोत्सवक्षये ॥ ३६ ॥

इति चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥

उस समय भरत के ( मारे क्रोध के ) नेत्र लाल हो गए। शरीर पर जो वस्त्र वे पहिने हुए थे, वे टूटने लगे। सब गहने खिसक पड़े। जिस प्रकार उत्सव के अन्त में इन्द्र की ध्वजा पृथिवी पर गिरती है, वैसे ही राजकुमार भरत पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ३६ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौदहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—०:०—

## पञ्चसप्ततितमः सर्गः

दीर्घकालात्समुत्थाय संज्ञां लब्ध्वा च वीर्यवान् ।

नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां दीनासृष्टीक्ष्य मातरम् ॥ १ ॥

तदनन्तर पराक्रमी भरत जी ने बहुत देर बाद सचेत हो, नेत्रों में आँसु भर तथा माता को दीन देख, ॥ १ ॥

सोशल्यमध्ये भरतो जननीमभ्यकुत्सयत् ।

राज्यं न कामये जातुः मन्त्रये नापि मातरम् ॥२॥

और मन्त्रियों के बीच बैठ, माता की निन्दा की, ( इसलिये कि मन्त्रियों को बतावे कि, उनकी माता ने जो क्रुद्ध किया उसने उनकी सम्मति नहीं थी)। वे बोले, मेरी तो कभी भी यह अभि-

लापा नहीं है कि, मैं राज्य करूँ और न इस विषय में कभी माता से मैंने परामर्श ही किया ( अथवा दिया ) ॥ २ ॥

अभिपेकं न जानामि योऽभूद्राज्ञा समीक्षितः ।

विप्रकृष्टे ह्यहं देशे शत्रुघ्नमहितोऽवसम् ॥ ३ ॥

न मुझे इसकी कुछ भी खबर थी कि, महाराज ने राम का अभिपेक करना विचारा था । क्योंकि मैं तो शत्रुघ्नसहित यहाँ से बहुत दूर पर ( अपनी ननिहाल में ) था ॥ ३ ॥

वनवासं न जानामि रामस्याहं महात्मनः ।

निवासनं वा सौमित्रेः सीतायाश्च यथाऽभवत् ॥४॥

अतः मुझे महात्मा श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता जी के वनवास का भी हाल न मिला कि, वह किस प्रकार से हुआ ॥ ४ ॥

तथैव क्रोशतस्तस्य भरतस्य महात्मनः ।

कौसल्या शब्दमाज्ञाय सुमित्रामिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

इस प्रकार रोते चिल्लाते हुए भरत जी का फण्टखर पहिचान कर कौसल्या ने सुमित्रा से कहा ॥ ५ ॥

आगतः क्रूरकार्यायाः कैकेय्या भरतः सुतः ।

तमहं द्रष्टुमिच्छामि भरतं दीर्घदर्शिनम् ॥ ६ ॥

जान पड़ता है—निष्ठुर कर्म करने वाली कैकेयी का पुत्र भरत आ गया है । मैं उसे देखना चाहती हूँ, क्योंकि वह बड़ा समझदार है ॥ ६ ॥



एवमुक्त्वा सुमित्रां सा विवर्णा मलिना कृशा ।

प्रतस्थे भरतो यत्र वेपमाना विचेतना ॥ ७ ॥

श्रीराम के विद्धोह के शोक में अति दुर्बल गात, चान्तिहीन मुख वाली कौसल्या धरधर कापती हुई और अचेत-सी भरत जी की ओर चली ॥ ७ ॥

स तु रामानुजरचापि शत्रुघ्नसहितस्तदा ।

प्रतस्थे भरतो यत्र कौसल्याया निवेशनम् ॥ ८ ॥

उधर श्रीराम के छोटे भाई भरत जी भी शत्रुघ्न को साथ ले, कौसल्या के भवन की ओर चले ॥ ८ ॥

ततः शत्रुघ्नभरतौ कौसल्यां प्रेक्ष्य दुःखितौ ।

पयध्वजेतां दुःखार्तां पतितां नष्टचेतनाम् ॥ ९ ॥

कौसल्या को दुःखी और दहकी दहकी देग दोनों भाई— भरत और शत्रुघ्न, अत्यन्त दुःखित हो, कौसल्या से लिपट कर रोने लगे ॥ ९ ॥

रुदन्तौ रुदतां दुःखार्त्समेत्यायाः मनस्विनीम् ।

भरतं प्रत्युवाचेदं कौसल्या भृशदुःखिता ॥ १० ॥

ज्येष्ठा माता कौसल्या उस समय अत्यन्त दुःखित हो, शोक के मारे रोते हुए भरत जी को लिपटाकर, उनसे कहने लगी ॥ १० ॥

इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम् ।

सम्प्राप्तं यत कैकेय्या शीघ्रं क्रूरेण कर्मणा ॥ ११ ॥

तुमने राज्य पाने की कामना की थीं सो कर कर्म करने वाली तुम्हारी माता ने निष्ठुर कर्म करके, तुम्हें निष्कण्टक राज्य दिला दिया ॥ ११ ॥

प्रस्थाप्य चीरवसनं पुत्रं मे वनवासिनम् ।

कैकेयी कं गुणं तत्र परयति क्रूरदर्शिनी ॥ १२ ॥

और मेरे पुत्र को चीर पहिना कर और वन भेज कर, इस क्रूरदर्शिनी ने क्या लाभ उठाया ? ( क्योंकि बिना ऐसा किए भी तो वह राज्य दिला सकती थी । ) ॥ १२ ॥

क्षिप्रं मामपि कैकेयी प्रस्थापयितुमर्हति ।

१ हिरण्यनाभो यत्रास्ते सुतो मे सुमहायशाः ॥ १३ ॥

कैकेयी को उचित है कि जहाँ मेरे सुवर्ण जैसे शरीर के रग-वाला महायशस्वी राम है, वहाँ मुझे भी तुरन्त भेज दे ॥ १३ ॥

अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुराम् ।

अग्निहोत्रं२ पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये यत्र राघवः ॥ १४ ॥

अथवा मैं स्वयं ही सुमित्रा को अपने साथ ले और अग्निहोत्र की आग को आगे कर, वहाँ चली जाऊँगी, जहाँ मेरा राम है ॥ १४ ॥

[ टिप्पणी—महाराज दशरथ अग्निहोत्र करते थे । महारानी कौसल्या उनको प्रधान अथवा ज्येष्ठा रानी थीं । अतः पति के साथ अग्निहोत्र करने का अधिकार उन्हीं को था । इसी से कौसल्या ने यह कहा कि, अग्निहोत्र करने की आग को ब्राह्मण के ऊपर रखवा, उसके पीछे मैं चली जाऊँगी । ]

१ हिरण्यनाभः—हिरण्यवस्त्रदृश्यायताभियुक्तः । नाभिप्रदण्ड शरीर-स्पोपलक्षण । (गो०) १ अग्निहोत्र—राजाग्निहोत्र । (गो०) अग्निहोत्र-स्वज्येष्ठा भार्याधानत्वात् दशरथेन भरतरास्कार प्रतिषेधात्पेतिभावः । (गो०) ।

क्षामं वा च्यमेवाद्य तत्र मां नेतुमर्हसि ।

यत्रामौ पुरुषव्याघ्रः पुत्रो मे तप्यते तपः ॥ १५ ॥

अथवा तू ही मुझे वहाँ कर आ, जहाँ पुरुषनिह नेरा दुत्र  
तप करवा या दुःख भोगता है ॥ १५ ॥

इदं हि तव विस्तीर्णं धनधान्यममाचितम् ।

हस्तयन्वरधनममूर्यं राज्यं नियातितं? तथा ॥ १६ ॥

तुझे तो कैकैया ने धनधान्य से परिपूर्ण तथा हाथी, घोड़ों  
और रथों से भरा पूरा राज्य दिलवा दिया है ॥ १६ ॥

इत्यादि बहुभिवाक्यैः क्रुरेः मम्मल्लितोऽनवः ।

विव्यथे भरतस्तीव्रं त्ररो तुद्येव वचिना ॥ १७ ॥

जब कौसल्या ने इस प्रकार के कठोर वचनों के ताने मारे  
तब भरत जी को वैसा ही बलेश हुआ, जैसा दि, घाव में लुई  
चुभने से होता है ॥ १७ ॥

टिप्पणी—कौसल्या की भरत के प्रति यह ठोके स्वभाव-कुलम  
मानसिक उपल पुसल का परिणाम है। भरत के स्वभाव से पूर्ण  
परिचित कौसल्या का भरत के प्रति क्रूर बलात् करना, किसी भी दृष्टि  
से उचित प्रथा नहीं होता।

पपात चरसौ तस्यास्तदा मम्रान्तपेवनः ।

विलप्य बहुधाऽमंत्रो लब्धसंज्ञन्ततःस्थितः ॥ १८ ॥

कौसल्या जी ने, यारों सुन, भरतजी का मन उद्विग्न हो गया  
अतः कर्षण्य विषयक ज्ञान न रहा। जब उन्हें चेत हुआ, तब  
श्रुत विलाप कर, वे कौसल्याजी के चरसों में गिर पड़े ॥ १८ ॥

एवं विलपमानां तां भरतः प्राञ्जलिस्तदा ।

कौसल्यां प्रत्युवाचेदं शोकैर्वहुमिरावृताम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई तथा महाशोकग्रस्त कौसल्या से वे हाथ जोड़ कर बोले ॥ १९ ॥

आर्ये कस्मादजानन्तं गर्हसे मामकिल्बिषम् ।

त्रिपुरां च मम प्रीतिं स्थिरां जानासि राघवे ॥ २० ॥

हे माता ! तुम तो जाननी ही हो कि, राम मे मेरी कितनी अधिक दृढ़ प्रीति है । मैं इस मामले में नितान्त अनभिज्ञ और निर्दोष हूँ । ऐसा होने पर भी, तुम मुझे क्यों दोषी ठहराती हो ॥ २० ॥

कृता शास्त्रानुगा बुद्धिर्मा भूतस्य कदाचन ।

सत्यमन्धः सर्वा श्रेष्ठो यस्यायोऽनुमते गतः ॥ २१ ॥

सत्यसन्ध और सज्जनों में श्रेष्ठ राम जिसकी सम्मति से वन भेजे गए हों, वह पड़े हुए शास्त्रों को भूल जाय । इसका भाव-व्यह है, कि यदि श्रीराम के वन भेजने में मेरी अनुमति रही हो, तो मेरा श्रुति स्मृति सत्यन्धी ज्ञान नष्ट हो जाय ॥ २१ ॥

प्रेष्यं पापीयमां यातु सूर्यं च प्रति मेहतु ।

हन्तु पादेन गां सुप्तां यस्यायोऽनुमते गतः ॥ २२ ॥

अथवा राम जिसकी अनुमति से वन भेजे गए हों, वह पापामा नीच जाति का सेवरु हो ; सूर्य की ओर मुग्न कर मल मूत्र त्याग करने का और सोता हुई गौ के लाल मारने का पाप उसे लगे ॥ २२ ॥

[ टिप्पणी—इससे किद्द होता है कि सूर्य की ओर मुग्न कर मल मूत्र विचर्जन न करे और गाय के लाल न मारे, जो ऐसा करते हैं, वे पाप के भागी होते हैं । ]

कारयित्वा महत्कर्म भर्ता भृत्यमनर्थकम् ।

अथर्मा योऽभ्य मोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २३ ॥

अथवा राम जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गए हों, उसे वह पाप लगे, जो बड़ी नेहनत का काम करा लेने पर भी, नौकर का वेतन न देने के कारण मालिक को होता है ॥ २३ ॥

परिपालयमानस्य राज्ञो भृतानि पुत्रवत् ।

सततं द्रुह्यतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २४ ॥

अथवा राम जिसकी अनुमति से वन भेजे गए हों, उसे वह पाप हो, जो पुत्र की तरह प्रजापालन करने वाले राजा से विद्रोह करने पर होता है ॥ २४ ॥

वलिपट्भागमुद्धृत्यः नृपस्यारक्षतः प्रजाः ।

अथर्मा योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २५ ॥

अथवा राम जिसकी अनुमति से वन भेजे गए हैं, उसे वह पाप हो, जो उस राजा को होता है, जो प्रजा से छठवाँ अंश कर का लेकर भी, प्रजा की रक्षा नहीं करता ॥ २५ ॥

संश्रुत्य च तपस्विभ्यः सत्रे वै यत्रदक्षिणाम् ।

तां विप्रस्तपसां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २६ ॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गए हों उसे वह पाप हो, जो पाप ऋषियों को दक्षिणा देने की प्रतिज्ञा कर, पीछे दक्षिणा न देने वाले को होता है ॥ २६ ॥

हस्त्यश्वरथमम्नाधे युद्धे शस्त्रसमाकुले ।

मा स्म कार्पीत्मतां धर्मं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २७ ॥

अथवा राम जिसकी अनुमति से वन भेजे गए हों, उसे वह पाप हो, जो हाथी घोड़ा और रथों सहित एवं शस्त्रायुक्त युद्धक्षेत्र में सहीरों का धर्म न पालने से योद्धाओं को होता है ॥ २७ ॥

उपदिष्टं सुमुद्गमार्थं शास्त्रं यत्नेन धीमताः ।

स नाशयतु दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २८ ॥

अथवा राम जिसकी अनुमति से वन भेजे गए हों, वह दुष्टात्मा, अच्छे बुद्धिमान् गुरु से परलोकसाधक एवं रहस्ययुक्त उपदिष्ट वेदान्तादि शास्त्रों को भूल जावे ॥ २८ ॥

मा च तं व्यूढवाह्वसं चन्द्राकसमतेजसम् ।

द्राक्षीद्राज्यस्यमासीनं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २९ ॥

अथवा राम जिसकी अनुमति से वन में भेजे गए हों, वह उन विशालवाहु और ऊँचे कंधों वाले तथा चन्द्र सूर्य के समान तेजस्वी राम का राज्याभिषेक न देख पावे । (अर्थात् तब तक वह जीवित न रहे, मर जाय) ॥ २९ ॥

पायसं कृसरं द्यागं वृथाः सोऽरनातु निर्घृणः ।

गुरुं व्याप्यवजानातु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३० ॥

• शास्त्र—वेदान्तादिविशिष्टार्थं । (गो०) २ यत्नेनोपदिष्ट—सुमुद्गमार्थं, परलोकसाधकरहस्यार्थं इत्युक्तं । (गो०) ३ धीमता—गुरुया । (गो०) ४ वृथाऽरनातु—देवताविप्रतिधिनिवेदनमन्तरेण मुस्तामित्यर्थः । (गो०) ५ अवजानातु—प्रत्युत्थानामिवादिनादिकनकरोत्वित्यर्थः । (गो०)

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गए हों, उसे वह पाप हो जो देवता, पितृ, अतिथि को निवेदन किए बिना रीर, तिल, चॉनल अथवा मांस खाने वाले को और गुरु को देख खडे न होने वाले तथा गुरु को प्रणाम न करने वाले को होता है ॥ ३० ॥

[ टिप्पणी—अर्थात् बिना देवता पितृ अतिथि को निवेदन किए कोई वस्तु खानी नहीं चाहिए । श्रामद्भगवद्गीता में लिखा है—“भुञ्जतेतेत्वपपाप ये पचन्त्यात्मकारणात्” अर्थात् जो अपने लिए रसोई बनाते हैं, वे अन्न नहीं, किन्तु पाप मक्षण करते हैं । ]

गाश्च स्पृशतु पादेन गुरुन्परिवदेत्स्वयम् ।

मित्रे द्रुह्येत सोऽत्यन्तं यस्मार्योऽनुमते गतः ॥ ३१ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन को भेजे गए हों, उसे वह पाप हो, जो पाप गौ को पैर से छूने, गुरु की निन्दा करने और मित्र से अत्यन्त द्रोह करने से होता है ॥३१॥

निरामात्कथित किञ्चित्परिवादं मिथः क्वचित् ।

विमृशोतु स दुष्टात्मा यस्मार्योऽनुमते गतः ॥ ३२ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन भेजे गए हों, उसे वह पाप हो, जो उस पुरुष को होता है, जिसका निराम कर उससे किसी का कोई दोष कहा जाय ( और साथ ही उससे उस दोष को प्रकट करने का निषेध भी कर दिया जाय और वह दुष्टात्मा तिस पर भी, उस दोष का टिडोरा पीट दे । ) अर्थात् जो पाप विरवासघाती को होता है, वह उसे हो, जिसने राम को वन में भेजने की सलाह दी हो ॥ ३२ ॥

अकर्ता ह्यकृतज्ञश्च त्यक्तात्मा<sup>१</sup> निरपत्रपः ।

लोके भवतु विद्वेष्यो यस्मार्योऽनुमते गतः ॥ ३३ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन गए हों उसे वह पाप हो, जो (उपकार के बदले में) उपकार न करने वाले, मन्त्रनों से त्यक्त, निर्लज्ज और सभसे बिर करने वाले को होता है ॥३३॥

पुत्रैर्दारैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः ।

स एको मृगमरनातु यस्मार्योऽनुमते गतः ॥ ३४ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन को भेजें गए हों, उसे वह पाप हो, जो उस मनुष्य को होता है, जो सामने बैठे हुए नौकर चाकर, स्त्री, पुत्रों को न देखे, स्वयं अकेले ही मिठाई खाने वाले को होता है । अथवा जो पाप स्वयं अच्छे पदार्थ खा कर, अपने आश्रित जनों को कदम गिलाने से होता है ॥३४॥

अप्राप्य सदृशान्<sup>२</sup> दाराननपत्यः प्रमीयताम् ।

अनप्राप्य क्रियां धर्म्यां<sup>३</sup> यस्मार्योऽनुमते गतः ॥३५॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन को भेजे गए हों, वह जन समान कुल की पत्नी न पावे, वह सन्ततिहीन हो, और अग्निहोत्रादि धर्म कर्म किए बिना ही मर जाय ॥ ३५ ॥

माऽऽत्मनः सन्ततिं द्राघीत्स्वेषु दारेषु दुःखितः ।

आयुः समग्रमप्राप्य यस्मार्योऽनुमते गतः ॥ ३६ ॥

१ त्यक्तात्मा—सद्भि परिहृत । (गो०) २ सदृशान्—समान कुलान् । (गो०) ३ धर्म्याक्रियाँ—अग्निहोत्रादिक च । (गो०)



अथवा जिसकी अनुमति से राम वन को भेजे गये हों, वह अपनी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न सन्तति को बिना देखे, दुःखी हो, पूर्णायु न पावे ॥ ३६ ॥

राजस्त्रीवालवृद्धानां वधे यत्पापमुच्यते ।

भृत्यत्यागे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ३७ ॥

जो पाप राजा, स्त्री, बालक और वृद्ध का वध करने से होता है अथवा जो पाप निरपराध ( स्वामि-भक्त ) नौकर को त्यागने से होता है; वह पाप उस पुरुष को हो, जिसकी सम्मति से राम वन को भेजे गए हों ॥ ३७ ॥

लाक्ष्या मधुमांसेन लोहेन च विषेण च ।

सदेव विभृयाद्भृत्यान् यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३८ ॥

अथवा जिसकी सम्मति से राम वन में भेजे गए हों, उसे वह पाप हों, जो मांस शहद अथवा मद्य, लाल, लोहा और विष की विक्री की आमदनी से अपने आश्रित जनों—घरवालों तथा नौकरों चाकरों का सदा पालन करने वाले को होता है ॥ ३८ ॥

[ टिप्पणी—माँस, मदिरा, लाल, लोहा और विष का व्यापार करना निषिद्ध है । स्मृतियों में भी लिखा है—

“लाक्षा लवण मासानि वर्जनीयानि विक्रये”

अर्थात् लाल, मीन माँस का बेचना वर्जित है । ]

संग्रामे समुपोटे<sup>१</sup> तु शत्रुपक्षभयङ्करे ।

पलायमानो वध्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३९ ॥

१ भृत्यान्—भर्तृव्यान् पुत्रादीन् । (शि०) २ समुपोटे—निकटे । (गो०) प्राप्तं । ( रा० ) • पाठान्तरे—“शतपत् १”

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन को भेजे गए हों, वह पुरुष, युद्ध में शत्रु का भयङ्कर सैन्यदल देख भागता हुआ मारा जाय । अर्थात् राम को वन भेजने की सलाह देने वाले को वह पाप लगे, जो युद्धक्षेत्र से शत्रु से डर कर भागनेवाले युद्ध भीरु को होता है अथवा भागे हुए शत्रु को मारने वाले को होता है ॥ ३६ ॥

[ टिप्पणी—युद्ध से डर कर भागना भी पाप है, और भागते हुए नि शस्त्र और अधीन हुए शत्रु का मारना भी पाप है । ]

कपालपाणिः पृथिवीमटतां चीरसंवृतः ।

मिच्छमाणो यथेन्मत्तो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४० ॥

अथवा जिसकी सम्मति से राम वन को भेजे गए हों, वह चिथड़े लपेटे, पागल की तरह मुँह को रोपड़ी हाथ में लिए द्वार द्वार भीख मागता हुआ, पृथिवी पर घूमे ॥ ४० ॥

[ टिप्पणी—इस श्लोक में अधोरियों और कपालिकों को निन्द्य ठहराया है । ]

मध्ये प्रसक्तो भवतु स्त्रीष्वक्षेषु च नित्यशः ।

कामक्रोधामिभूतस्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४१ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वनवासी हुए हों, वह पुरुष सदा मद्य पीने में, स्त्रामैथुन में और जुआ खेलने में अत्यन्त आसक्त हो और काम व क्रोध के कारण उसका सदा निरादर होता रहे अथवा वह काम व क्रोध से सदा मताया जाय ॥ ४१ ॥

मा स्म धर्मो मनो भूयाद्धर्मं स नियेयताम् ।

अपात्रवर्षा<sup>१</sup> भवतु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४२ ॥

१ अपात्रवर्षा—अपात्रे बहुदाया । (गा०) \*पाठान्तरे—‘पाने’ ।

अथवा जिसकी सलाह से श्रीरामचन्द्र जी वनवासी हुए हों—वह स्वधर्म में मन न लगाकर सदा अधर्म कार्य ही क्रिया करे और कुपात्र को बहुत सा दान दे। अथवा जिस मनुष्य की सलाह से राम वनवासी हुए हों, उसे वही पाप हो, जो स्वधर्म-त्यागी और अधर्म अनुरागी एव कुपात्र को बहुत दान देने वाले को होता है ॥ ४२ ॥

संचितान्यस्य वित्तानि विविधानि सहस्रशः ।

१दस्युभिर्विप्रलुप्यन्तां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४३ ॥

अथवा जिसकी सलाह से राम वनवासी हुए हों उसकी गादी कमायी का विपुल धन चोर चुरा ले जाय ॥ ४३ ॥

२उमे सन्ध्ये शयानम्य यत्पापं परिकल्प्यते ।

तच्च पापं भवेत्तस्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४४ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वनवासी हुए हों, उसे वह पाप लगे जो साँझ सवेरे सोने वाले को लगता है ॥ ४४ ॥

[ टिप्पणी—प्रातःसन्ध्या = रात बीतने और दिनारम्भ के समय; साय सन्ध्या = दिन ढूबने और रात्रि का आरम्भ होने के समय सोना निषिद्ध है—क्योंकि सन्ध्याओं में सोने से आयुक्षोण और पुण्यक्षय होते हैं। कहीं कहीं यह भी लिखा है—“सूर्योदये वास्तभिन्नशयानं, बहति लक्ष्मीपदिचरुपाणिः ]

यदाग्निदायके पापं यत्पातं गुरुतल्पगे ।

मित्रद्रोहे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ४५ ॥

अथवा जो पाप घर में आग लगाने वाले को, गुरु की स्त्री के साथ सम्भोग करने वाले को और मित्र से द्रोह करने वाले को होता है, वह पाप उस मनुष्य को लगे, जिसने राम को वन में भेजने की सलाह दी हो ॥४५॥

देवतानां पितृणां च मातापित्रोस्तथैव च ।

मा स्म कार्षीत्सि शुश्रूषां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥४६॥

अथवा जिसने राम के वनवासी होने की सम्मति दी हो, वह देवता, पितृ और माता पिता की पूजा, श्राद्ध और सेवा शुश्रूषा से वञ्चित हो । अथवा जो पाप—देवपूजन, पितृश्राद्ध और माता पिता की सेवा न करने वाले को लगता है, वह पाप राम को वन में भेजने की सलाह देने वाले को हो ॥४६॥

सर्ता लोकात्सर्ताः सक्तीर्त्याः सञ्जुष्टात्कर्मणस्तथा ।

अरयतु त्विप्रमघैव यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४७ ॥

अथवा जिसने राम को वन में भेजने की सलाह दी हो, वह पुरुष इसी घड़ी सज्जनों के लोक से, 'सज्जनों की धीर्ति से और सन्कर्मों से भ्रष्ट हो जाय । अर्थात् ऐसे पुरुष को न तो कोई ऐसा लोक प्राप्त हो, जैसा कि, सत्पुरुषों को मिलता है, न उसे वह धीर्निःदपलब्ध हो, जो साधु पुरुषों को मिलती है (अथवा उस पुण्य को साधु लोग प्रशंसा न करें) और न उसका मन उन कर्मों में लगे, जो साधुओं के लिए अनुष्ठेय हैं ॥४७॥

अपास्य मातृशुश्रूषामनर्थे सोऽवतिष्ठताम् ।

दीर्घनाहुर्महापदा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४८ ॥

१ सताकीर्त्यात्—सद्भिः क्रियमाणरत्नापनात् । (गो०)

● पाठान्तरे—“कार्षीत्सि शुश्रूषात्कर्मणस्तथा” ।

अथवा जिसकी सलाह से दीर्घमाहु और चौड़ो छाती वाले श्रीरामचन्द्र जी बनवासी हुए हों—वह माता की सेवा से विमुख हो, अधर्म कामों में लगे । अर्थात् उसे नाच सेवा विमुख होने तथा अधर्म कार्यों में रत होने का पाप हो ॥४८॥

बहुपुत्रो दरिद्रश्च ज्वररोगसमन्वितः ।

स भूयान्सततं क्लेशी यस्मार्योऽनुमते गतः ॥ ४९ ॥

अथवा जिसका सलाह से राम बन म गए हा, वह बहु सन्तति वाला होकर दरिद्रो हा, ज्वर रोग से पीड़ित हो और सदा क्लेश पावे ॥४९॥

[ टिप्पणी—बहुत सन्तान होना भी दरिद्रता का सूचक है । स्मृतिकारों के मतानुसार ज्येष्ठ पुत्र को छोड़ शेष सब सन्तान कामज माने जाते हैं । ]

आशामाशंसमानानां<sup>१</sup> दीनानामूर्ध्वचक्षुःपाम् ।

अर्थिनां पितृणां कुर्याद्यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५० ॥

अथवा जिसकी सलाह से राम बनवासी हुए हों, उसे वही पाप लगे, जो कुद्व प्राप्त जी आगा से प्राए हुए दीन याचकको कोरा जवाब दे और उसे हताश करने वाले अभिमानी धनी को लगता है ॥५०॥

मायया रमतां<sup>४</sup> नित्यं परुषः पिशुनोऽशुचिः<sup>३</sup> ।

राज्ञो भीतस्त्वधर्मात्मा यस्मार्योऽनुमते गतः ॥५१॥

१ आशामाशसमानाना—सुवता । (गो०) २ ऊर्ध्वचक्षुषा—उन्नता सनन्यदातृमुखनिरीक्षकाणा । (गो०) ३ मायया—वञ्जनया । (गो०)

४ रमता—सखीभवतु । (गो०)

अथवा जिसकी सलाह से राम वन में गए हों, वह पुरुष कपट-प्रिय, चुगलखोर—(इधर की उधर लगाने वाला) वैईमान और अधर्मी हो। वह सदा राजभय से ग्रस्त रहे ॥ ५१ ॥

ऋतुस्नार्ता सर्ती भार्यामृतुकालानुरोधिनीम् ।

अतिवर्तेत दुष्टारमा यस्यार्याऽनुमते गतः ॥ ५२ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन में गए हों, वह दुष्टात्मा ऋतुस्नाता (रजस्वला स्त्री के शुद्ध होने पर) तथा पतिव्रता स्त्री को, जो ऋतुस्नानानन्तर रतिदान की अभिलाषा से निकट आई हो, अङ्गीकार न करे। अथवा उसे वह पाप लगे जो ऋतुस्नाता पतिव्रता स्त्री को रतिदान न देने वाले को होता है ॥ ५२ ॥

[टिप्पणी—ऋतुमती पत्नी को विमुख करना पाप है।]

धमदारान् परित्यज्य परदारान्निषेवताम् ।

त्यक्तधर्मरतिर्मूढो यस्यार्याऽनुमते गतः ॥ ५३ ॥

अथवा जिसको अनुमति से राम वन में गए हों, उसे वही पाप हो, जो उस मूढ़ को होता है, जो धर्मानुराग को त्याग देता है और अपनी धर्मपत्नी को छोड़, पराई स्त्री के साथ मथुन करता है। अर्थात् जो पाप धर्मविचारशून्य व्यभिचारी पुरुष को होता है ॥ ५३ ॥

विप्रलुप्तप्रजातस्य<sup>१</sup> दुष्कृतं ब्राह्मणस्य यम् ।

तदेव प्रतिपद्येत यस्याऽनुमते गतः ॥ ५४ ॥

१ ऋतुकालानुरोधिनी—ऋतुस्नानदिवसेत्तरसनिदिता । (गो०) २ अति वर्तेत—सोकार्देनदुर्पात् । (गो०) ३ विप्रलुप्तप्रजातस्य—नष्टाश्वस्य, सन्ततिहीनस्येत्यर्थः । (गो०)

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन में गए हों उसे वह पाप लगे जो उस ब्राह्मण को लगता है, जिसके पुत्र मारे भूखों के मर जाँय और वह उनका पालन न कर सके ॥ ५४ ॥

पानीयद्रव्यके पापं तथैव विपदायके ।

यत्तदेकः<sup>१</sup> स लभतां यस्वार्योऽनुमते गतः ॥ ५५ ॥

अथवा जिसकी सम्मति<sup>१</sup>से राम वन में गए हों, उसे वही पाप हो, जो पाप पानी में विष आदि घोल कर विगाड़ देने से अथवा किसी को विष दे कर मार डालने से होता है । इन दोनों दुष्कर्मों का पापरूप फल उसे प्राप्त हो ॥ ५५ ॥

ब्राह्मणायोद्यतां पूजां विहन्तु कलुपेन्द्रियः ।

बालवत्सां च गां दोग्धु यस्वार्योऽनुमते गतः ॥ ५६ ॥

अथवा जिसकी सम्मति से राम वन में गए हों, उसकी सब इन्द्रियाँ कलुषित हो जायँ । उसे वही पाप हो, जो उस मनुष्य को होता है, जो किसी ब्राह्मण के होने वाले सत्कार को, उस ब्राह्मण की निन्दा कर, रुधवा दे तथा छोटे बछड़े वाली गौ का दूध दुहे ॥ ५६ ॥

[ टिप्पणी—ब्राह्मण के लाभ में भाजी मारना और अब तक बड़ा छोटा हो, तब तक गौ का दूध दुहना, पाप है । ]

तृपार्तं सति पानीये विप्रलम्भेन<sup>३</sup> योजयेत् ।

समेत तस्य यत्पापं यस्वार्योऽनुमते गतः ॥ ५७ ॥

१ यत्तदेकः—द्वयएको लभता । (रा०) २ ब्राह्मणायोद्यतापूजाविहन्तु—ब्राह्मणायोद्यतानेनचितपासिता पूजा सत्कृति विहन्तुब्राह्मणनिन्दादिना वारयितुः । (शि०) ३ विप्रलम्भेन—वञ्चनया । (गौ०)

अथवा त्रिमने श्रीरामचन्द्र को वन में भेजने की मन्मति दी हो, उसे वही पाप हो, जो जल के रहने भी, प्यासे आदमी को वदना कर, टाल देने वाले की होता है ॥ ५३ ॥

१ भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य परयतः २ ।

तस्य पापेन युज्येत यम्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५४ ॥

अथवा त्रिमने राम को वन में भेजने की सलाह दी हो, उसे वही पाप लगे जो उस मनुष्य को लगता है जो एक दूसरे को जीतने के उद्देश्य से शास्त्रीय विचार में प्रवृत्त दो विद्वानों का मध्यस्थ वन, पक्षपात में प्रेरित हो, अपने प्रियजन का पक्षपात करता है । अर्थात् जो पाद पक्षपात करने वाले मध्यस्थ को होता है । [रामाभिरामो टीकाकार ने इन श्लोक पर यह टीका की है कि जहाँ पर वैष्णव और शैवों में विष्णुपरत्व और शिवपरत्व के ऊपर विवाद होता है, उसे गान्ध न कर, उसे वदाने वाले को जो पाद होता है, वह पाप उनको लगे त्रिमने राम को वन में भेजने की सलाह दी हो ।] ॥ ५४ ॥

विहीनां पतिपुत्राम्यां कौमल्यां पायिवात्मजः ।

एवमाश्रवामपन्नेऽ दुःखार्तो निपपात ह ॥ ५६ ॥

राजपुत्र भरते इस प्रकार पतिपुत्रविहीन कौमल्या को समन्धाने और अन्नो मर्राई देने हुए, आने हो, पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ५६ ॥

तथा तु शपथैः कष्टैः शपमानमचेतनम् ।

मरुतं शोकमन्तनं कौमल्या वाक्यमत्रेवात् ॥ ६० ॥

१ भक्त्या—बनेराननभिर । (गो०) २ परयत—ब्रुवतत्तरत्  
पापेन युज्येतैविसम्बन्धः । (गो०)



तव भरत से जो इस प्रकार की कठिन शपथें खा कर, शोक से सन्तप्त हो, ज्ञानशून्य हो गए थे—कौसल्या जी बोली ॥ ६० ॥

मम दुःखमिदं पुत्र भूयः समुपजायते ।

शपथैः शपमानो हि प्राणानुपरुणत्सि मे ॥ ६१ ॥

हे वत्स ! तुम जो तरह तरह की शपथें खा रहे हो, सो इससे तो मुझ दुखियारी का दुःख और भी अधिक बढ़ता है ॥ ६१ ॥

दिष्ट्याः न चलितो धर्मादात्माः ते सहलक्ष्मणः ।

वत्स सत्यप्रतिज्ञो मे सर्वा लोकानवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥

यह सौभाग्य की बात है कि, तुम्हारा मन अपने बड़े भाई की ओर से चलाग्मान नहीं हुआ और तुम लक्ष्मण की तरह सत्य-प्रतिज्ञ हो । अतः तुम उस लोक को प्राप्त होगे, जिसे सञ्जन प्राप्त करते हैं ॥ ६२ ॥

इत्युक्त्वा चाङ्गमानीय भरतं भ्रातृवत्सलम् ।

परिष्वज्य महाबाहुं स्रोद भृशदुःखिता ॥ ६३ ॥

यह कह महारानी कौसल्या, महाबाहु भ्रातृवत्सल भरत को गोदी में ले और हृदय से लगा, अत्यन्त दुःखित हो, रोने लगी ॥ ६३ ॥

एवं विलपमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः ।

मोहाच्च शोकसंरोधाद्भव लुलितं मनः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार रोते हुए और दुःख से पीड़ित भरत का मन शोक समझने से उत्पन्न मोह के वशवर्ती हो, उद्विग्न हो गया ॥ ६४ ॥

१ दिष्ट्या—भाग्येन । (गो०) २ आत्मा—अन्तःकरण । (गो०)

३ धर्मात्—ज्येष्ठानुवर्तनधर्मात् । (गो०)

लालप्यमानस्य विधेयनस्य

प्रणष्टयुद्धेः पतितस्य भूमौ ।

मृदुर्मुहुर्निःश्वसतश्च धर्मं

सा तस्य शोकेन जगाम रात्रिः ॥ ६५ ॥

इति षट्सप्ततितमः सर्गः ॥

महारानी कौसल्यमा द्वारा लाड करि गय, बारवार विज्ञाप करते हुए, चेतनाशून्य, पृथिवी पर पड़े छटपटाते हुए, बारवार निश्वास लेते हुए और शोक करते हुए भरत ने वह रात बिताई ॥ ६५ ॥

अयोध्याकाण्ड का पञ्चहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



## षट्सप्ततितमः सर्गः

—:०:—

तमेवं शोकसन्तप्तं भरतं कैकेयीमुतम् ।

उवाच वदतां श्रेष्ठो वसिष्ठः श्रेष्ठवागृषिः ॥ १ ॥

कैकेयीमुत भरत जी को इस प्रकार शोकाकुल देख, बोलने वालों में श्रेष्ठ, ऋषि वसिष्ठ जी उनसे यह उत्तम वचन बोले ॥ १ ॥

अलं शोकेन भद्रं ते राजपुत्र महायशः ।

प्राप्तकालं नरपतेः कुरु संयानमुत्तमम् ॥ २ ॥

हे परम यशस्वी राजपुत्र ! तुम्हारा महज हो । बस, बहुत दुःखा, अब शोक मत करो । अब समय हो चुका है, अतः अब विधि विधान से महाराज की अन्त्येष्टि किया करो ॥ २ ॥

वसिष्ठस्य वचः श्रुत्वा भरतो धरणीं गतः ।

प्रेतकार्याणि सर्वाणि कारयामास धर्मवित् ॥ ३ ॥

पृथिवी पर पडे हुए धर्मात्मा भरत जी ने वसिष्ठ जी के वचन सुन, महाराज के समस्त प्रेतकर्म किए ॥ ३ ॥

उद्धत तेलसरोघात्स तु भूमौ निवेशितम् ।

आपीतवर्णमदनं प्रसुप्तमिव भूपतिम् ॥ ४ ॥

(लोगों ने) महाराज के शत्रु को तेल के ढडाह से निकाल कर जमीन पर लिटाया । यद्यपि कई दिनों तक तेल में पडे रहने से महाराज का शव पीला पड गया था, तथापि यही जान पड़ता था कि, मानों महाराज सो रहे हैं । (अर्थात् उनके मुख की चेष्टा दिग्गनी न थी ) ॥ ४ ॥

सवेश्य शयने चाद्ये नानारत्नपरिष्कृते ।

ततो दशरथं पुत्रो विललाप सुदुःखितः ॥ ५ ॥

अनन्तर शव को विविध रत्नजटित विस्तरों पर लिटा कर, अत्यन्त दुःखी हो, भरत जी महाराज के लिए विलाप करने लगे ॥ ५ ॥

किं ते व्यवसितं राजन् प्रोषिते मय्यनागते ।

विवास्य रामं धर्मज्ञं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ ६ ॥

हे राजन् ! न मालूम तुमने क्या सोचा, जो मेरे आने के पहले ही धर्मज्ञ राम और महाबली लक्ष्मण को वन में भेज दिया ॥ ६ ॥

कृ यास्यसि महाराज हित्वेमं दुःखितं जनम् ।

हीन पुरुषसिंहेन रामेणाविलष्टकर्मणा ॥ ७ ॥

हे महाराज ! अमानुषिक कर्मकर्त्ता पुन्यसिद्ध राम विहीन मुक्त दुःखिया को छोड़, तुम रुहौं जाते हो ॥ ७ ॥

योगक्षेमं तु ते राजन् कोऽस्मिन् कल्पयिता पुरे ।

त्वयि प्रयाते ऽस्वस्तात रामे च वनमाश्रिते ॥ ८ ॥

हे महाराज ! तुम्हारी इस पुरी की राज्यव्यवस्था, स्थिरचित्त से अब कौन सँभालेगा । क्योंकि तुम तो स्वर्गवासी हो और श्रीराम वनवासी हैं ॥ ८ ॥

विधवा पृथिवी राजंस्त्वया हीना न राजते ।

हीनचन्द्रेव रजनी नगरी प्रतिभाति माम् ॥ ९ ॥

हे महाराज ! तुम्हारे बिना, यह विधवा पृथिवी शोभा नहीं पाती । यह अयोध्यापुरी तो मुझे चन्द्रहीन रात्रि जैसी शोभाहीन जान पड़ती है ॥ ९ ॥

एवं विलपमानं तं भरतं दीनमानसम् ।

अत्रगीद्वचनं भूयो वसिष्ठस्तु महामुनिः ॥ १० ॥

भरत जी को इस प्रकार दीन मन से विलाप करते देख, महर्षि वसिष्ठ उनसे फिर बोले ॥ १० ॥

प्रेतकार्याणि यान्यस्य कर्तव्यानि निशापतेः ।

तान्यव्यग्रं महात्माहो क्रियन्तामविचारितम् ॥ ११ ॥

हे महात्माहो ! हे पृथिवीनाथ ! अब तुम व्यग्रता त्याग कर महाराज की अन्त्येष्टिक्रिया सम्बन्धी जो कर्म करने चाहिए, उन्हें करो । सोच विचार करने का यह समय नहीं है ॥ ११ ॥

तथेति भरतो वाक्यं वसिष्ठस्याभिपूज्य तत् ।

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यास्त्वरयामास । सर्वशः ॥ १२ ॥

तब भरत जी ने वसिष्ठ जी की वान मान ऋत्विज, पुरोहित और आचार्यों से महाराज के श्रेतकर्म करवाने के लिए शीघ्रता की ॥ १२ ॥

ये त्वग्नयो नरेन्द्रस्य चाग्न्यागाराद्वहिकृताः ।

ऋत्विग्भिर्याजकैश्चैव तेहूयन्ते ॥ यथाविधि ॥ १३ ॥

महाराज के अग्न्यागार में जो अग्नि स्थापित थी, उसे बाहिर निकाल कर, ऋत्विज और याचक उसमें यथाविधि होम करने लगे ॥ १३ ॥

शिविकायामथारोप्य राजानं गतचेतसम् ।

वाष्पकण्ठा विमनसस्तमूहुः परिचारकाः ॥ १४ ॥

तदनन्तर परिचारकगण महाराज के शय को पालकी में रख, अत्यन्त उदास और रोते हुए पालकी उठा कर चले ॥ १४ ॥

हिरण्यं च सुवर्णं च वासांसि विविधानि च ।

प्रकिरन्तो जना मार्गं नृपतेरग्रतो ययुः ॥ १५ ॥

लोग महाराज की पालकी के आगे आगे मोहरें, रुपये अथवा सोने चाँदी के कूज और तरह तरह के वस्त्र, सड़कों पर धरसाते हुए चले जाते थे । अर्थात् लुटाते हुए चले जाते थे ॥ १५ ॥

१चन्दनागरुनिर्यासान्सरलं२ पद्मकं तथा ।

देवदारूणि चाहृत्य क्षेपयन्ति तथा परे ॥ १६ ॥

१ चन्दनागरुनिर्यासान्—निर्यासोग्गुगुलः । (गो०) २ सरल—  
धूपसरल । (गो०) \* पाठान्तरे—“तेऽहूयन्त” “आहूयन्त” ।

कुट्ट लोग चन्दन, अगर, गुग्गुल की घूप ( पालकी के इधर धर ) जलाते जाते थे । जब पालकी सरयू तट पर पहुँची, तब देवदारु, पद्मक, चन्दन, अगर आदि सुगन्धित काष्ठ एकत्र कर चिता बनाई गई ॥ १६ ॥

गन्धानुच्चात्रचांश्रान्यांस्तत्र गत्वाऽथ भूमिपम् ।

ततः संवेशयामासुश्चितामध्ये तमृत्विजः ॥ १७ ॥

चिता में और भी अनेक प्रकार के सुगन्धित पदार्थ डाले गए । तदनन्तर ऋत्विजों ने चिता के ( पास पालकी ले जाकर तथा उसमें से महाराज के शव को निकाल, ) ऊपर शव को लिटा दिया ॥ १७ ॥

तथा हुताशनं दत्त्वा १ जेपुस्तस्य २ तमृत्विजः ।

जगुश्च ते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः ॥ १८ ॥

तदनन्तर ऋत्विज लोग महाराज की परमगति के लिए प्रेत्याग्नि में आहुति दे कर, वैतृमेधिक मंत्र विशेषों का जप करने लगे और सामगायी ब्राह्मणों ने साम गान किया ॥ १८ ॥

शिनिकामिथ यानैथ यथाहं तस्य योषितः ।

नगरान्निर्ययुस्तत्र वृद्धैः परिश्रुतास्तदा ॥ १९ ॥

महाराज की शोकसन्तप्त सत्र रानियों भी यथायोग्य पालकी, रथ आदि सवारियों में बैठ, वृद्ध रक्षकों के साथ, नगर के बाहिर, वहाँ महाराज की चिता बनाई गई थी, पहुँची ॥ १९ ॥

१ जेपु — वैतृमेधिकमंत्रविशेषानि विशेष । ( गो० ) २ अस्य परम गत्यर्थमिति शेष । ( गो० )

प्रसव्यं चापि तं चक्रुश्च त्विजोऽग्निचितं नृपम् ।

स्त्रियश्च शोकसन्तप्ताः कौसल्याप्रमुखास्तदा ॥ २० ॥

फिर ऋत्विजों ने और कौसल्यादि रानियों ने अत्यन्त शोक-सन्तप्त हो, जलते हुए महाराज के शव की प्रदक्षिणा की ॥२०॥

कौश्वीनामिव नारीणां निनादस्तत्र शुश्रुवे ।

आर्तानां करुणं काले क्रोशन्तीनां सहस्रशः ॥ २१ ॥

उस समय करुण स्वर से रोती हुईं और शोक से व्याकुल होने के कारण चिल्लाती हुईं, उन सहस्रों स्त्रियों का चिल्लाना सुनने से ऐसा जान पड़ता था, मानों कौंच पक्षी की मादाएँ चिल्ला रही हों ॥ २१ ॥

ततो रुदन्त्यो विवशा विलप्य च पुनः पुनः ।

यानेभ्यः सरयुतीरमवतेर्ष्वराङ्गनाः ॥ २२ ॥

तदनन्तर सब रानियों रोतीं और विलाप करती हुईं, अपनी अपनी सवारियों से उतर, सरयू नदी के तट पर पहुँचीं ॥२२॥

कृत्वोदकं ते भरतेन साधुं

नृपाङ्गना मन्त्रिपुरोहिताथ ।

पुरं प्रविश्याश्रुपरीतनेत्रा

भूमौ दशाहं व्यनयन्त दुःखम् ॥ २३ ॥

इति पट्सप्तवितमः सर्गः ॥

उन स्त्रियों ने भरत, मंत्री और पुरोहितों के साथ महाराज की जलाञ्जलि दी। तदनन्तर सब लोग आँसू बहाते हुए, नगर में

आए और दस दिन तक भूमि पर लेट कर, बड़े दुःख से समय बिताया ॥ २३॥

अयोध्याकाण्ड का द्विद्वत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—: ❁ :—

## सप्तसप्ततितमः सर्गः

—: ❁ :—

ततो दशाहेऽतिगते कृतशौचो नृपात्मजः ।

द्वादशेऽहनि मग्नास्ते श्राद्धकर्माण्यकारयत् ॥ १ ॥

दस दिन धीन जाने पर ११वें दिन, भरत जी शुद्ध हुए और बारहवें दिन उन्होंने सपिण्डी आदि कर्म किए ॥ १ ॥

ब्राह्मणेभ्यो ददौ रत्नं धनमन्नं च पुष्कलम् ।

वामांसि च महार्हाणि रत्नानि विविधानि च ॥ २ ॥

और ब्राह्मणों को बहुत से रत्न, बहुत सा धन और बहुत सा अन्न तथा बहुमूल्य वस्त्र एवं अन्य विविध उत्तम वस्तुएँ भी दी ॥ २ ॥

वास्तिकं<sup>१</sup> बहुशुक्लं<sup>२</sup> च गारचापि शतशस्त्वदा ।

दासीदासं च यानं च वैरमानि सुमहान्ति च ॥३॥

ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुत्रो राजस्तस्यौर्ध्वदेहिकम् ।

ततः प्रमातममये दिवसेऽथ त्रयोदशे ॥ ४ ॥

१ वास्तिकं—छागानासुरोवास्तिकं । (गो०) २ बहुशुक्लं—छाग-विरोप्य । ( गो० )



महाराज का स्मरण करते हुए, अचेत हो, भूमि पर गिर पड़े और अत्यन्त दुःखी होने के कारण वेसुध और उन्मत्त की तरह विलाप करने लगे ॥ १२ ॥

स्मृत्वा पितुर्गुणाङ्गानि तानि तानि तदा तदा ।

मन्थराप्रभवस्तीव्रः कैकेयीग्राहसङ्कुलः ॥ १३ ॥

वह पिता के गुणों का एक एक कर बरतान करते जाते थे । उस समय शत्रुघ्न जी कहने लगे कि, मन्थरा की करतूत से उत्पन्न, और कैकेयी रूपी, मगर से युक्त ॥ १३ ॥

वरदानमयोक्षोभ्योऽमज्जयच्छोकसागरः ।

सुकुमारं च बालं च सततं लालितं त्वया ॥ १४ ॥

वरदान रूपी स्थिर महासागर मे हम सब डूब गए । हे पिता जी ! जिस सुकुमार बालक का लाड़ प्यार आपने सदा किया था, ॥ १४ ॥

कृ तात, भरतं हित्वा विलपन्तं गतो भवान् ।

ननु भोज्येषु पानेषु वस्त्रेष्वभरणेषु च ॥ १५ ॥

उस विलाप करते हुए भरत को छोड़, आप कहाँ चल दिए ? भोजन के योग्य पदार्थ वस्त्र और आभूषण ॥ १५ ॥

प्रवारयसि नः सर्वास्तन्नः कोऽन्यः करिष्यति ।

अवदारणकाले तु पृथिवी नावदीर्यते ॥ १६ ॥

या मिहीना त्वया राज्ञा धर्मज्ञेन महात्मना ।

पितरि स्वर्गमापन्ने रामे चारण्यमाश्रिते ॥ १७ ॥

आप आप्रहपूर्वक इम लोगों को स्वयं दिखा करते थे—  
सो ये सब वस्तुएँ हमें अब कौन देगा । इस दारुण काल में,  
आप जैसे महात्मा और धर्मज्ञ महाराज से रहित होने पर, यह  
पृथिवी फट क्यों नहीं जाती । पिता जी तो स्वर्ग चले गए और  
राम वनवासी हो गए ॥ १६ ॥ १७ ॥

किं मे जीवितसामर्थ्यं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।

हीनो भ्रात्रा च पित्रा च शून्यामिक्ष्वाकुपालिताम् ॥१८॥

अब मैं किस प्रकार प्राण धारण करूँ । मैं तो अब अग्नि  
में कूद पड़ूँगा । अब मैं भाई और पिता से रहित इस इक्ष्वाकु-  
पालित एवं सूनी ॥ १८ ॥

अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि प्रवेक्ष्यामि तपोवनम् ।

तयोर्विलपितं श्रुत्वा व्यसनं चान्ववेक्ष्य तत् ॥१९॥

अयोध्या में न जा कर, तपोवन में जाऊँगा । इस प्रकार उन  
दोनों भाइयों का विलाप सुन, और उनका कष्ट देख, ॥ १९ ॥

भृशमार्ततरा भूयः सर्व एवानुगामिनः ।

ततो निपण्यौ श्लोचन्तौ शत्रुघ्नाभरतावुभौ ॥२०॥

सब नीकर चारुत बहुत दुःखी हुए । दोनों भाई भरत और  
शत्रुघ्न विपादयुक्त चिन्तापरायण एवं दुःखी थे ॥ २० ॥

धरण्यां संव्यचेष्टेतां१ भग्नभृङ्गाविवर्षमौ ।

ततः२ प्रकृतिमान्बैद्यः३ पितुरेषां पुरोहितः ॥२१॥

१ व्यचेष्टेता—व्यलुश्लेष्ता । ( गो० ) २ प्रकृतिमान्—प्रशस्तस्व-  
भावः । ( गो० ) ३ वैद्यः—वेदान्तविद्याधिगतपरावरतत्त्वयाथात्म्यविज्ञानः  
सर्वशक्तिपायत् । ( गो० ) • पाठान्तरे—“विभान्तौ,” “भान्तौच” ।

सौग कटे हुए बैल की तरह, वे पृथिवी पर गिर कर, छट-पटा रहे थे । उन नम्र प्रशन्न स्वभाव वाले मर्वाँझ और दोनों राजकुमारों के पिता के पुरोहित ॥ २१ ॥

त्रिसिष्ठो भरतं वाक्यमुत्थाप्य तमुवाच ह ।

त्रयोद्गोष्यं दिवसः पितुर्वृत्तम् : ते विभो ॥२२॥

त्रिसिष्ठ जी, भरत जी को उठा कर कहने लगे । हे विभो ! आपके पिता का अग्निमन्धार हुए, आज तेरह दिन हो चुके ॥ २२ ॥

सावशेषास्थितिचये किमिह त्वं विलम्बसे ।

त्रीणि द्वन्द्वानि भूतेषु प्रवृत्तान्यविशेषतः ॥२३॥

अतः अन्न भक्षण सहित अन्ध नञ्चयन करने में क्यों देर करते हो । अत्येक प्राणी में तीन द्वन्द्व ( जोड़े ) रहा करते हैं— अर्थात् ( १ ) मूत्र प्यास ( २ ) शोक मोह और ( ३ ) क्षय ( बुढ़ापा ) मरण ॥ २३ ॥

तेषु चापरिहार्येषु नैवं मवितुमर्हसि ।

सुमन्त्रश्चापि शत्रुघ्नमुत्थाप्याभिप्रसाद्य च ॥२४॥

इन छः को दूर करना सम्भव नहीं । अतएव तुमको इस प्रकार दुःखी होना उचित नहीं । ( त्रिसिष्ठ जी ने भरत को इस प्रकार मनान्नादा और ) सुमन्त्र ने शत्रुघ्न को उठा कर और हाँडस देवा उन्हें मन्त्र प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश के तन्त्र को समझाया ॥ २४ ॥

श्रावयामास तंस्वज्ञः सर्गभूतमवाभयौ ।  
उत्थितौ च नरव्याधौ प्रकाशेते यशस्विनौ ।  
वर्षातपपरिक्लिन्नौ पृथगिन्द्रघ्नजायिन ॥ २५ ॥

जब वे दोनों पुरुषसिंह एव यशम्भी दोनों भाई उठ कर  
खड़े हुए, तब वे ऐसे जान पड़, माना वर्षा और घाम के कारण  
मलिन भाव धारण किए हुए, दा इन्द्र की घनापण अलग अलग  
खड़ी हों ॥ २५ ॥

अश्रूणि परिमृद्नन्तौ रक्ताक्षौ दीनभाषिणौ ।  
अमात्यास्त्वरयन्ति स्म तनयौ चापराः क्रियाः ॥ २६ ॥

इति सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥

मत्रिगण इन दोनों भाइयों से, जिनकी आँखें रोते रोते लाल  
हो गई थीं और जो आँसुओं को पोंछ रहे थे तथा जा दान वचन  
बोल रहे थे, आगे के छूट्य वरानर करने को शीघ्रता करने  
लगे ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का सप्तदशवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

अष्टसप्ततितमः सर्गः -

—:०:—

अथ यात्रां समीहन्तं शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः ।  
मरुत शोरुमन्तप्तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

परिमृद्नन्तौ—मात्रंयन्तौ । (गो०)

भरत जी से, जो शोरमन्वन्त हो, श्रीरामचन्द्र जी के पास जाने का विचार कर रहे थे, लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न बोले ॥ १ ॥

गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः ।

स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राडितो वनम् ॥ २ ॥

भाई ! जो राम दुःख और सङ्घट ने प्राणिमात्र के एकमात्र अवलम्ब हैं और सामर्थ्ययुक्त हैं—वे ही जब स्त्रीसहित वन में निकाल दिए गए, तब हम अपने दुःखों की बात ही क्या कहें ॥ २ ॥

बलवान् वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ ।

किं न मोक्षयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम् ॥ ३ ॥

(यदि मान भी लिखा जाय कि, राम ने सङ्घोचवरा उस समय बुद्ध न कहा, तो) बलवान् और पराक्रमी लक्ष्मण ने पिता को रोक कर, राम को क्यों न बचाया ? ॥ ३ ॥

पूर्वमेव तु निग्राह्यः समवेक्ष्य नयानयौ ।

उत्पथं यः समाहूटो नार्या राजा वशं गतः ॥ ४ ॥

क्योंकि महाराज जय स्त्री के दशवर्गी हो, अथवा स्त्री के धामह से अन्याय करने को उत्पन्न हुए थे, तब ही लक्ष्मण को उचित था कि, नीति अनौचित्य का भली भाँति विचार कर, पहिले ही महाराज को इस कर्म करने से रोक देते ॥ ४ ॥

[टिप्पणी—लक्ष्मण शत्रुघ्न के सहोदर आता है, अतः उन पर अपना घनिष्ठ प्रेम दिखाते हुए-कर्तव्य बालन में उनकी उदासीनता का शत्रुघ्न भी यहाँ उल्लेख कर रहे हैं क्योंकि वे अपने को लक्ष्मण से बह एव करने का अधिकारी समझते हैं ।

इति सम्भाषमाणे तु शशुभे लक्ष्मणानुजे ।

प्राग्द्वारेऽभूत्तदा कुञ्जा सर्वाभरणभूषिता ॥ ५ ॥

लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न जी इस प्रकार भरत जी से बात चीत कर ही रहे थे कि, इतने ही में कुञ्जी मन्थरा सब गहने पहिने हुए पूर्व द्वार पर देख पड़ी ॥ ५ ॥

लिप्ता चन्दनसारेण १ राजवस्त्राणि २ चित्रती ।

विनिधं विनिधंस्तैस्तैर्भूषणैश्च विभूषिता ॥ ६ ॥

उस समय मन्थरा गाढ़े चन्दन से अपना शरीर पोते हुए थी, कैरेयी के दिए रानियों के पहनने योग्य वस्त्रों से सजी हुई थी और अनेक प्रकार के रानियों के पहिनने योग्य आभूषण धारण किए हुए थी ॥ ६ ॥

मेखलादामभिरिचत्रैरन्यैश्च शुभभूषणैः ।

वमासे बहुभिर्नद्धा रज्जुनद्धेव वानरी ॥ ७ ॥

उसकी कमर के ऊपर जड़ाऊ करधनी थी तथा अन्य अंगों पर भी बड़े बड़िया और सुन्दर अनेक जड़ाऊ आभूषण थे । (यद्यपि उसने अपने शरीर का शृङ्गार करने में कोई कोरकसर नहीं रखी थी, तथापि) वह अनेक आभूषणों को धारण किए हुए डोरी से बँधी हुई एक वानरी जैसी जान पड़ती थी ॥ ७ ॥

तां समीक्ष्य तदा द्वाःस्या ऋशं पापस्य कारिणीम् ।

गृहीत्वाऽकरुणां कुञ्जां शत्रुघ्नाय न्यवेदयत् ॥८॥

उस समय उस महागापिन मन्थरा को देख, द्वारपालों ने उसे निर्दयता पूर्वक पकड़, शत्रुघ्नजी को सौंप दिया ॥ ८ ॥

१ चन्दनसारेण—चन्दनपट्टेन । (गो०) २ राजवस्त्राणि—राजाहं-  
वस्त्राणि कैकेयोदत्तानि । (गो०) ३ पाठान्तरे—“शुभ्रं पापकारिणीम् ।”

यस्याः कृते वने रामो न्यस्तदेहश्च वः पिता ।

सेयं पापा नृशंसा च तस्याः कुरुः यथामति ॥ ९ ॥

और शत्रुघ्न से बोले जिसके कहने से श्रीरामचन्द्र वनवासी हुए, और आपके पिता को शरीर त्यागना पड़ा, वह यही पापिन और कसाइन है। सो जैसा तुम उचित समझो वैसा इसे दण्ड दो ॥ ९ ॥

शत्रुघ्नरच तदाज्ञाय वचनं भृशदुःखितः ।

अन्तःपुरचरान् सर्वानित्युवाच धृतव्रतः ॥ १० ॥

शत्रुघ्न जी यह बात सुन, अत्यन्त ही दुःखित हो तथा कर्त्तव्य कर्म निश्चय कर, सब अन्तःपुरचारियों से यह बोले ॥ १० ॥

तीव्रमुत्पादितं दुःखं भ्रातॄणां मे तथापितुः ।

यथा सेयं नृशंसस्य कर्मणः फलमश्नुताम् ॥ ११ ॥

जिसने मेरे सब भाइयों और पिता के लिए महान् दुःख उत्पन्न किया, यह वही घात करने वाली है—अतः यह अब अपने किये का फल भोगे ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा तु तेनाशु सखीजनसमावृता ।

गृहीता बलवत्कुब्जा सा तद्गृहमनादयत् ॥ १२ ॥

यह कह कर, शत्रुघ्न ने साँसियों से घिरी हुई मन्थरा को तुरन्त ऐसे जोर से पकड़ा कि, उसके चीत्कार से सारा भवन प्रतिध्वनित हो उठा ॥ १२ ॥

१ कुरुशिक्षामिति शेषः । (गो०) २ धृतव्रत.—कर्त्तव्यत्वेन अवधृतव्रतः । (गो०)

ततः सुभृशसन्तप्तस्तस्याः सर्पः मखीजनः ।

क्रुद्धमाज्ञाय शत्रुघ्नं विपलायत सर्पशः ॥ १३ ॥

मन्थरा ने यह दशा देत, उसरु साथ की सरियो बहुत सन्तप्त हुई और शत्रुघ्न को क्रुद्ध हुआ जान, वे सन इधर उधर भाग गई ॥ १३ ॥

ग्रामन्वयत कृन्न्थ तस्याः सर्पः सखीजनः ।

यथायं समुपक्रान्तो निःशेषात्रः करिष्यति ॥ १४ ॥

और दूर जाकर, मत्र आपम म कहने लगी कि इस समय शत्रुघ्न ने जैसा काय आरम्भ किया है, उससे तो यह जान पडता है कि, शत्रुघ्न हम सन को मार ही डालेंगे ॥ १४ ॥

मानुक्रोशां वदान्यां च धर्मजां च यशस्विनीम् ।

कौमल्यां गर्त्यां याम सा हि नोऽस्तु घृणा गतिः ॥ १५ ॥

अतएव इन समय हमे उन दयालु, परमोदार, धर्मज एवं यशस्विनी कौसल्या जी का आश्रय ग्रहण करना उचित है। क्यों कि वे ही हमको आश्रय देंगी अर्थात् हमे बचा सकेंगी ॥ १५ ॥

स च रोपेण ताम्राक्षः शत्रुघ्नः शत्रुतापनः ।

विचर्षुषु तदा बुद्ध्यां क्रोशन्तीं धरणीतले ॥ १६ ॥

उधर मारे क्रोश के लाल लाल आँसु छिप हुए शत्रुओं के दमन करने वाले शत्रुघ्न ने, धीकार करती हुई मन्थरा को, भूमि पर पटक कर फेंका ॥ १६ ॥

तस्याः क्षात्रुष्यमाणाया मन्यरायास्ततस्ततः ।

चित्रं बहुविधं भाण्डं पृथिव्यां तद्व्यशीर्यत ॥ १७ ॥



घसीटा घसाटी ने मन्धरा के सत्र गहने नितर नितर हो गए और टूट फूट कर चारों ओर विखर गए ॥ १७ ॥

तेन भाण्डेन संस्तीर्णं श्रीमद्राजनिवेशनम् ।

अशोभत तदा भूयः शारदं गगनं यथा ॥ १८ ॥

इस समय वह परम मन्दर राजभवन उन टूटे फूटे और चारों ओर विखरे हुए गहनों से उमरी प्रहार शोभित हुआ, जिस प्रकार शरद अतु को आनाशमण्डल तारागण से सुशोभित होता है ॥ १८ ॥

स बली बलवत्क्रोधान् गृहीत्वा पुरुषर्षभः ।

कैकेर्यामभिनिर्मत्स्यं वभाषे परुषं वचः ॥ १९ ॥

पुरुषश्रेष्ठ, बलवान् शत्रुघ्न जी, मन्धरा को अत्यन्त क्रुद्ध हो, पकड़े हुए थे। यह देख कैकेयी ने मन्धरा को छुड़ाना चाहा। इस पर शत्रुघ्न जी ने कैकेयी को भी अत्यन्त कड़वी बातें सुनाई ॥ १९ ॥

तैर्वान्येः परुषैर्दुःखैः कैकेयी भृशदुःखिता ।

शत्रुघ्नभयसञ्जस्ता पुत्रं शरयमागता ॥ २० ॥

शत्रुघ्न के उन कड़ुवे वचनों से कैकेयी अत्यन्त दुःखित हो और शत्रुघ्न से भयभीत हो, अपनी तथा मन्धरा की रक्षा के लिए अपने पुत्र भरत का आश्रय ग्रहण किया ॥ २० ॥

तां प्रेक्ष्य भरतः क्रुद्धं शत्रुघ्नमिदमवगीत् ।

अपघ्याः सरेभृतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति ॥ २१ ॥

तत्र शत्रुघ्न को कुपित देख, भरत ने उनसे यह कहा, भाई प्राणिमात्र के लिए स्त्रियाँ अवध्य हैं, अतएव अत्र इसे क्षमा करना चाहिए अर्थात् छोड़ देना चाहिए ॥ २१ ॥

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम् ।

यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन् मातृघातकम् ॥ २२ ॥

( यदि स्त्रियाँ अवध्य न होतीं और ) यदि धर्मात्मा श्रीराम मुझे मातृघाती ममक, मुक्त पर क्रुद्ध न होते, तो मैं तो इस पापिन दुष्टा कैकेयी को ( भी कभी का ) मार डालता ॥ २२ ॥

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः ।

त्वां च मां च हि धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम् ॥ २३ ॥

यदि इस कुब्जा का मारना कहीं राम जान पाए, तो वे धर्मात्मा निश्चय ही, तुमसे और मुझसे बात तक न करेंगे ॥ २३ ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः ।

न्यस्तत ततो रोषाचां मुमोच च मन्यराम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार भरत के कहने पर, लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न का क्रोध शान्त हुआ और उन्होंने मन्यरा को छोड़ दिया ॥ २४ ॥

सा पादमूले कैकेय्या मन्यरा निपपात ह ।

निःशसन्ती सुदुःखार्ता कृपणं विललाप च ॥ २५ ॥

तत्र मन्यरा जा कर कैकेयी के पैरों पर गिर पड़ी और अत्यन्त दुःखी हो श्वामें छोड़ती हुई, कृपण स्वर से विलाप करने लगी ॥ २५ ॥

शत्रुघ्नपिक्षेपनिमूढसंज्ञां

समोदय कुब्जां भरतस्य माता ।

शनैः समाश्नास्यदातरूपां

क्रौञ्चीं विलग्नामिव वीक्षमाणाम् ॥ २६ ॥

इति अष्टसप्ततितमः सर्गः ॥

शत्रुघ्न जी के कड़ोरने से अचेत और पीड़ित मन्थरा को, पाश में फँसी क्रौञ्ची पक्षिणी की तरह देख, भरतमाता कैकेयी ने धीरे धीरे उसे समझाया ॥२६॥

अयोध्याकाण्ड का अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



## एकोनाशीतितमः सर्गः

—:०:—

ततः प्रभातसमये दिवसे च चतुर्दशे ।

समेत्य राजकर्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन् ॥ १ ॥

धीदहवें दिन प्रातःकाल होने पर, राज-धर्मचारी लोग इकट्ठे हुए और भरत जी से कहने लगे ॥ १ ॥

गतो दशरथः स्वर्गं यो नो गुरुतरो गुरुः ।

रामं प्रव्राज्य वै ज्येष्ठं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ २ ॥

हमारे पूज्यों के भी पूज्य महाराज दशरथ, अपने ज्येष्ठ पुत्र राम और महाबलवान् लक्ष्मण को वन में भेज स्वयं स्वर्ग पधारें ॥ २ ॥

त्वमथ भव नो राजा राजपुत्र महायशः ।

सङ्गत्या नापराध्नोति सज्यमेतदनायकम् ॥ ३ ॥

अतएव हे महायशस्वी राजकुमार ! अत्र तुम हमारे राजा हो । क्योंकि यह राज्य पिता राजा का है और जब पिता तुमको यह राज दे गए हैं, तब इसे ग्रहण करना न तो तुम्हारे लिए असङ्गत है और न तुमको ऐसा करने से कोई दोष ही लग सकता है ॥ ३ ॥

अभिपेचनिकं सर्वमिदमादाय रावण ।

प्रतीक्षते त्वां स्वजनः<sup>१</sup> श्रेण्यश्च<sup>२</sup> नृपात्मज ॥ ४ ॥

हे रघुवंशमम्भूत राजकुमार ! यह कथन केवल हम राज-कर्मचारियों ही का नहीं है—सर्वत्र हमारे मंत्रीगण और पुरवासी लोग अभिपेक की सामग्री लिए तुम्हारी अनुमति की प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ ४ ॥

राज्यं गृहाण भरत पितृपैतामहं ध्रुवम् ।

अभिपेचय चात्मानं पाहि चास्मान्नरर्षभ ॥ ५ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! तुम अपने इस पिता-पितामह के राज्य को अवश्य ग्रहण करो और अपना अभिपेक करना, हम सब का पालन करो ॥ ५ ॥

[एवमुक्तः शुभं वाक्यं द्युतिमान् सत्यवाक्युचिः ।]

आभिपेचनिकं भाण्डं कृत्वा सर्वं प्रदक्षिणम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार उत्तम मंत्र का यह शुभ वचन, तेजस्वी, सत्यवादी एवं पवित्र भरत ने अभिपेक की सामग्री से भरे हुए मंत्र पाशों की प्रदक्षिणा की ॥ ६ ॥

१ स्वजनः—प्रमात्यादिः । (गो०) २ श्रेण्यश्च—पीताः । (रा०)

भरतस्तं जनं सर्वं प्रत्युवाच धृतव्रतः ।

ज्येष्ठस्य राजता नित्यमृचिता हि कुलस्य नः ॥ ७ ॥

तदनन्तर ब्रतधारी भगत जी उन सब लोगों मे बोले—देखिए हमारे कुल मे सदा ज्येष्ठ राजकुमार ही राजसिंहासन पर बैठता आया है ॥७॥

नैवं भवन्तो मां वक्तुमर्हन्ति कुराला जनाः ।

रामः पूर्वो हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः ॥ ८ ॥

अहं त्वरण्ये वत्स्यामि वर्षाणि नव पञ्च च ।

युज्यतां महती सेना चतुरङ्गमहाबला ॥ ९ ॥

अतः यह जान कर भो, आप लोग मुझसे ऐसी बात न कहिए। राम मेरे बड़े भाई है, वे ही राजा होंगे। मैं ( उनके बदले ) वन मे जाकर, चौदह वर्ष वनवास करूँगा। अतः चतुरङ्गिणी सेना तैयार कीजिए ॥ ८ ॥ ९ ॥

आनयिष्याम्यहं ज्येष्ठं भ्रातरं राघवं वनात् ।

आभिषेचनिकं चैव सर्वमेतदुपस्कृतम् ॥ १० ॥

मैं वन मे जा कर भाई राम को वहाँ लिवा लाऊँगा। यह जो अभिषेक सामग्री है ॥१०॥

पुरस्कृत्य गमिष्यामि रामहेतोर्वनं प्रति ।

तत्रैव तं नरव्याघ्रमभिषिच्य पुरस्कृतम् ॥ ११ ॥

उसको ले कर, मैं राम का अभिषेक करने को वन में जाऊँगा और वहाँ उनका अभिषेक कर, ॥ ११ ॥

आनेष्यामि तु वै रामं ह्यव्याहमिवाध्वरात् ।

न सकामां करिष्यामि स्वामिमां मातृगन्धिनीम् ॥ १२ ॥

मैं राम को यहाँ उसी प्रकार ले आऊँगा, जिस प्रकार यज्ञशाला में अग्नि लाया जाता है। मैं अपनी इस नाममात्र की माता की साव्य पूरी नहीं होने दूँगा ॥ १२ ॥

वने वत्स्याम्यहं दुर्गे रामो राजा भविष्यति ।

क्रियतां शिल्पिभिः पन्थाः समानि विपमाणि च ॥ १३ ॥

प्रत्युत मैं स्वयं दुर्गम वन में जा कर रहूँगा और राम राजा होंगे। इस लिए मैं आज्ञा देता हूँ कि, मद्रक की मरम्मत करने वाले कारीगर लोग (आगे जा कर) ऊँचे नीचे रास्ते को ठीक करें ॥ १३ ॥

रक्षिणश्चानुसंयान्तु पथि दुर्गत्रिचारकाः<sup>१</sup> ।

एवं संभाषमाणं तं रामहेतोर्नृपात्मजम् ।

प्रत्युनाच जनः सर्वः श्रीमद्वाक्यमनुत्तमम् ॥ १४ ॥

उनके पीछे रक्षक और दुर्गम मार्गों के शोधक भी लायें। इस प्रकार राजकुमार भरत ने राम के अभिप्रेत के लिए कहा, तब सब लोग भरत जी के मनोहर एवं प्रति उत्तम वचनों का समर्थन करने लगे ॥ १४ ॥

एवं ते भाषमाणस्य पद्मा श्रीरुण्तिष्ठताम् ।

यस्त्वं ज्येष्ठे नृपमुते पृथिवीं दातुमिच्छामि ॥ १५ ॥

आप इस पृथ्वी का राज्य ज्येष्ठ राजकुमार राम को देना चाहते हैं—आपका यह वचन मनोहर और बहुत ही ठीक है। अतः आपके समीप मदा पद्मासना लक्ष्मी देवी नियात करें (यह उन लोगों की भरत के प्रति शुभ कामना है) ॥ १५ ॥

अनुत्तमं तद्वचनं नृपात्मज-

प्रभाषितं सन्धवणे निशम्य च ।

प्रहर्षजास्तं प्रति वाष्पविन्द्वो

निपेतुरायोननेत्रसम्मवाः ॥ १६ ॥

उस समय वहाँ जितने साधुजन उपस्थित थे, वे सब भरत जी के कहे हुए उत्तम वचनों को सुन, नेत्रों से आनन्द के आँसू टपकाने लगे ॥ १६ ॥

ऊचुस्ते वचनमिदं निशम्य हृष्टाः

सामात्याः सपरिपदो वियातशोकाः ।

पन्थानं नरवर भक्तिमाज्जनश्च

व्यादिष्टास्तत्र वचनाच्च शिल्पिवर्गः ॥ १७ ॥

इति एकोनाशीतितमः सर्गः ॥

यह बात सुन, मंत्रिगण नौकरों चारुओं सहित प्रसन्न हो और शोक रहित हो, कहने लगे, हे नरश्रेष्ठ ! तुम्हारे कथनानुसार शिल्पियों को आज्ञा दे दी गई है ॥ १७ ॥

अयोध्याकाण्ड का उन्नीसवीं सर्ग समाप्त हुआ ।

## अशीतितमः सर्गः

— ०:—

अथ भूमिप्रदेशज्ञाः स्रक्कर्मविशारदाः १ ।

स्वकर्माभिरताः शूराः खनका यन्त्रकास्तथा २ ॥ १ ॥

कर्मान्तिकाः स्यपतयः पुरुषा यन्त्रकोविदाः ।

तथा वर्धकयश्चैव मार्गिणो वृक्षतक्षकाः ॥ २ ॥

कूपकाराः सुधाकारा वंशकर्मकृतस्तथा ।

समर्था ये च द्रष्टारः ७ पुरतस्ते प्रतस्वियरे ॥ ३ ॥

तदनन्तर भरत जी के आज्ञानुसार भूमि के भेदों के जानने वाले, देखते ही यह जान लेने वाले कि अमुक भूमि में जल कितनी दूर पर है अथवा है कि नहीं, अपने काम में सदा सावधान रहने वाले एव परिश्रमी बेलदार तथा जल को बांध कर रोकने वाले अथवा पुल बनाने वाले मजदूर, राजधवाई, निरीदक फल पुजों के जानने वाले, बढई, मार्गों के ज्ञाता और वृक्ष काटने वाले, कुआँ खोदने वाले, दीवारों पर अस्तर करने वाले, घंसफोडा, अन्य कामों के करने में समर्थ और वे लोग जो उन मार्गों को पहिले से देखे हुए थे, वे सब लोग आगे ही चल दिए ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

१ विशारदाः—समर्थाः । (गो०) २ स्वकर्माभिरताः स्वकर्मसाधनाः (गो०) ३ यन्त्रका.—छलप्रवाहादिवन्त्याय . समर्थाः । (गो०) ४ पुरुषा—अप्यक्षराजपुरुषाः । (गो०) ५ सुधाकारा—प्रसादस्थल-क्षिप्पादिलेपनकरा । (गो०) ६ समर्थाः—कार्यान्तरेणसमर्थाः । (गो०) ७ द्रष्टारः—पूर्वाभूतनागाः—मार्गप्रदर्शकाः । (गो०)



स तु हर्षात्तमुद्देशं जनौवो विपुलः प्रयान् ।  
अशोभत महावेगः समुद्र इव पर्वणि ॥ ४ ॥

इन लोगों के मुँड जो प्रसन्न होते हुए चले जाते थे, ऐसे शोभायमान जान पड़ते थे, जैसे पूर्णमासी के दिन समुद्र शोभायमान देख पड़ता है। अर्थात् जैसे समुद्र उमड़ता है, वैसे ही मनुष्यों की भीड़ उमड़ो हुई जा रही थी ॥ ४ ॥

ते स्ववारं समास्थाय वर्त्मकर्मणि कौविदाः ।  
करणैर्विविधोपेतैः पुरस्तात्संप्रतस्थिरे ॥ ५ ॥

मार्ग बनाने में चतुरलोग अपने दल में मिल कर, फावड़े कुल्हाड़ी इत्यादि बहुत सा उपयोगी सामान साथ ले, आगे आगे चले ॥ ५ ॥

लता वल्लीश्च गुल्मांश्च स्थाणूनश्मन एव च ।  
जनास्ते चक्रिरे मार्गं छिन्दन्तो विविधान् द्रुमान् ॥ ६ ॥

वे लोग रास्ता साफ करने के अभिप्राय से लता, घल्ली, माड़, खूँटी, पत्थर और अनेक प्रकार के वृक्षों को, जो रास्ते में पड़ते थे, काटकूट कर, रास्ता बनाते जाते थे ॥ ६ ॥

अवृक्षेषु च देशेषु केचिद्वृक्षानरोपयन् ।  
केचित्कुलारैश्चैरुच दारैश्छिन्दन् क्वचित्क्वचित् ॥ ७ ॥

जहाँ कहीं वृक्ष नहीं लगे थे, वहाँ वृक्ष लगाते जाते थे और जहाँ कहीं वृक्षों की घनो ढालियाँ रास्ता रोके हुए थीं, उनको कुल्हाड़ी फरसे आदि से काटकूट कर एक सा करते जाते थे ॥ ७ ॥

अपरे शीरुस्तम्भान् ब्रह्मलिनीषलमत्तराः ।

विधमन्ति ३ स्म दुर्गाणि ४ स्थलानि च ततस्ततः ॥ ८ ॥

कुद्र बलवान लागों न अत्यन्त मज्जून ठूठों को, जो उखाड़े नहीं उखाड़ सकने थे, जना कर साफ कर दिया और जितने ऊँचे नीचे रास्ते और दुर्गम स्थान थे, उन मन को ठीक पीट कर तथा मिट्टी से पाट कर ठीक कर दिया ॥ ८ ॥

अपरेऽपूरयन् कूपान् पांसुभिः शश्रमायतम् ।

निम्नमागांस्ततः केचित्ममांश्चक्रुः समन्ततः ॥ ९ ॥

कुद्र लोग बीच रास्ते में जो कुएँ और गड्ढे आते उनको मिट्टी से पाटते और नीची भूमि को मिट्टी से भर, दरावर करते चले जाते थे ॥ ९ ॥

यवन्धुश्चैव नीयांश्च ६ चोदनीयांश्च चुक्षुदुः ७ ।

विभिदुर्भेदनीयांश्च तांस्तान् देशान् नरास्तदा ॥ १० ॥

वे लोग, रास्ते की छाँटी नदियों या नालों पर पुल बनाते जाते थे, जहाँ कहीं गोखरू या ककड़ी आदि पाते, उनको बटोर कर फेंक देते थे, जहाँ कहीं जल के आने में रुकावट देखते, वहाँ के बाँध को तोड़ कर जल निकाल देने थे ॥ १० ॥

अचिरेणैव कालेन परिवाहान्वहूदकान् ।

चक्रुर्बहुविधाकारान् सागरप्रतिमान् रहन् ॥ ११ ॥

१ वीरुस्तम्भान्—वीरुवृणकापदान् (गो०) २ क्षिनित्—म्ह-मूलान् । (गो०) ३ विधमन्तिस्म—अहन् । (गो०) ४ दुर्गाणि—गन्धमयकूपानि । (गो०) ५ चैव नीयांश्च—बल-प्रदेशान् (गो०) ६ चोदनीयान्—शकंसाभूयिष्ठप्रदेशान् । (गो०)

७ पाठान्तरे—“चोदान्बहुस्तदा”

बहुत जल्द ही उन लोगों ने थोड़े पानी के सोतों का जल रोकने के लिए घाँघ घाँघ दिए और कई एक जगहों के तालाबों को सोद कर सागर की तरह अगाध जलयुक्त कर दिया ॥ ११ ॥

निर्जलेषु च देशेषु खानयामासुरुत्तमान्

१उदपानान् बहुविधान् वेदिकापरिमण्डितान् ॥ १२ ॥

और जहाँ जल का अभाव था, वहाँ अनेक नए कुएँ और तालाब सोदे और उनके समीप लोगों के विश्राम करने के लिए चबूतरे बना दिए ॥ १२ ॥

स सुधाकुट्टिमत्तलः प्रपृष्वितमहीरुहः ।

मत्तोद्गुष्टद्विजगणः पताकाभिरलंकृतः ॥ १३ ॥

उन शिल्पियों ने सेना के जाने के रास्ते को चूने की गंधों से ठीक कर, सड़क के इधर उधर ऐसे वृक्ष लगा दिए, जिन पर पत्ती घोला करते थे और जगह जगह सड़कों के दोनों ओर पताकाएँ सुशोभित हो रही थीं ॥ १३ ॥

चन्दनीदकमंसिक्तो नानाकुसुमभृषितः ।

बहुशोभत सेनायाः पन्थाः सुरपथोपमः ॥ १४ ॥

चन्दन के जल के छिड़काव और अनेक प्रकार की फूली हुई लताओं से वह सेना का रास्ता देवमार्ग की तरह सजा दिया गया था ॥ १४ ॥

आज्ञाप्याथ यथाज्ञप्तिं युक्तास्तेऽधिकृताः नराः

रमणीयेषु देशेषु बहुस्वादुफलेषु च ॥ १५ ॥

१ उदपानान्—कूपान् । ( गो० ) २ यथाज्ञप्ति—यथामति । ३ अधिकृताः—मार्गशिविरादिकरयेनियुक्ताः । ( गो० )

जो लोग पडावों पर शिविर आदि बनाने के लिए नियुक्त किए गए थे, उन लोगों ने यथामति रमणीय और अच्यन्त स्वाष्टि फल वाले वृक्षों से युक्त जगहों पर ॥१५॥

यो निवेशस्त्वभिमतोऽभरतस्य महात्मनः ।

भूयस्त शोभयामासुर्भूपाभिर्भूषणोपमम् ॥ १६ ॥

सेना व बनरन व लिए वैसे ही स्थान बना दिए जैसे कि महात्मा भरत जी चाहत थे । फिर उन स्थानों को अनेक प्रकार की सामग्री से सजा भी दिखा ॥१६॥

नक्षत्रेषु प्रशस्तेषु मूर्द्धतेषु च तद्विदः १ ।

निवेशान्<sup>२</sup>स्थापयामासुर्भरतस्य महात्मनः ॥१७॥

वातुशास्त्र ( मन्त्रान बनान व शास्त्र व ) ज्ञाताओं ने शुभ नक्षत्र युक्त मुहूर्त्त म महात्मा भरत । लए शिविर बनाए ॥१७॥

बहुपांसुचयाश्चापि परिखापरिवारिताः ।

तवेन्द्रनीलप्रतिमाः प्रतोलीश्वरशोभिताः ॥ १८ ॥

शिविर, इन्द्रनाल पत्रत का तरह ऊंचे रत ल धुस्सों से तथा चलसुक्त खादिया से घिरना दिए गए थे और जगह जगह रास्त बना दिए गए थे ॥ १८ ॥

प्रासादमालान्विताः सौधः प्राकारसंवृताः ।

पताशाशोभिताः सर्वे सुनिर्मितमहापयाः ॥ १९ ॥

१ तद्विद — वास्तुशास्त्रज्ञ । (गो०) २ निवेशान्—शिविराणि । (गो०)  
बहुपांसुचया — पांसुचन्देनासुचमविकृता उच्यन्ते । (गो०) ४ प्रतोली—  
पीपि । (गो०) ५ सौधा—राश्रयहाणि यक्षमुषाधवलितानि । (गो०)

● पाठातरे—“अभिप्रेतो ।”

सफेद रंग के बड़े ऊँचे-ऊँचे देवगृहों के नदरा मकानों की पंक्ति बनाई गई थी। जितने रास्ते थे, वे नव पताराओं से सुशोभित किए गए थे ॥ १६ ॥

विसर्पाद्भिरिवाकाशे विटङ्काग्रविमानकैः ।

समुच्छ्रितैर्निवेशास्ते वभुः शक्रपुरोपमाः ॥ २० ॥

वहाँ पर सतखने गृहों के ऊपर जो अटारियाँ थीं, वे च्यूतरों के बैठने की छतरी की तरह ऊँची थीं। ऊँचे ऊँचे भवनों को देखने से ऐसा जान पड़ता था, मानों आकाश में देवताओं के आवासस्थान देने हों। उन समय उन पहाड़ों की शोभा उन्द्र की अमरावती पुरी की शोभा जैसी हो रही थी ॥ २० ॥

जाह्नवीं तु समामाद्यरिविविधद्रुमकाननाम् ।

शीतलामलपानीयां महार्मीनसमाकुलाम् ॥ २१ ॥

भरत जी के लिए, (अयोध्या से लेकर) निर्मल श्व शीतल जल वाली उस गङ्गा तक, जिसमें बड़ी बड़ी महलियाँ रहती हैं, जो मार्ग बनाया गया था, उनके अगल बगल तरह तरह के वृक्षों से युक्त अनेक कानन थे। अर्थात् यह मार्ग जङ्गलों में हो कर गया था ॥ २१ ॥

सचन्द्रतारागणमण्डितं यथा

नभः क्षपायाममलं विराजते ।

नरेन्द्रमार्गः स तथा व्यराजत

क्रमेण रम्यः शुभशिल्पिनिर्मितः ॥ २२ ॥

इति अशीतितमः सर्गः ॥

चतुर शिल्पियों द्वारा बनाए गए उन रमणीक राजमार्ग की सी ही शोभा हो रही थी, जैसा रात में निमल आकाश की चन्द्रमासहित तारागण से होती है ॥ २२ ॥

( अयोध्यागण्ड का अस्मीर्षा मर्ग पूरा हुआ )

—००—

## एकाशीतितमः सर्गः

—०—

ततो नन्दीमुखीः रात्रिं भरतं सूतमागधाः ।

तुष्टुयुराग्निशंपत्राः स्तर्यमङ्गलमंहितैः ॥ १ ॥

[ अत्र नरि अशोभा का वृत्तान्त आदिकवि वर्णन करते हैं ]

जब वह आनन्दमयी ( इसलिये कि राम को लौटाने का उद्योग आरम्भ हुआ था ) रात, थोड़ी बानी रही, तब मागधों ने माङ्गलिक स्तुतियों से भरत की स्तुति करनी आरम्भ की ॥ १ ॥

स्मुर्यकोणाभिहतः प्राणदद्यामदुन्दुभिः ।

दध्मुः शह्वांश्च शतशो नादांरचोगाचम्बरान् ॥ २ ॥

पहर भर रात रहने पर जो नाडे बजाए जाते थे, वे मोने की चोशों ( डंशों ) से बजाए जाने लगे । शह्वा बनि होने लगे और नाना स्वरों से युक्त सैरुशों बाजे बजने लग ॥ २ ॥

म तूयघोषः सुमहान् नदिरमापूर्यन्निव ।

भरत शोरुमन्तसं भूयः शोकैर्गर्थयन् ॥ ३ ॥

१ नान्दामुखी—समानरनान्दुदयप्रारम्भयुक्ता । (ग०) २ सुवर्णशेषः

—सुवर्णशण्डः । (ग०) ३ प्राणत्—नरतिग्म (गं०) ६५८ नदरे—

‘शोकैर-भ्रमत्’ ।

उन बाजों के बजने का शब्द, आकाश में व्याप्त हो, शोक से सन्तप्त भरत जी के शोक को और भी अधिक बढ़ाने लगा ॥३॥

ततः प्रबुद्धो भरतस्तं शोपं सन्निवर्त्य च ।

नाहं राजेति चाप्युक्त्वा शत्रुममिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

भरत जी उम शब्द को सुन जागे और यह कह कर कि, मैं राजा नहीं हूँ, उन बाजों का बजना बंद करवाया और शत्रुत्र से यह बोले ॥ ४ ॥

पश्य शत्रुम कैकेय्या लोकन्यापकृतं महत् ।

विसृज्य मयि दुःखानि राजा दशरथो गतः ॥ ५ ॥

हे शत्रुत्र ! देखो, कैकेयी के कहने से इन सूत भाग्यों ने कैसा अनुचित काम किया है, अथवा हे शत्रुत्र ! देखो, कैकेयी ने इस लोक का बड़ा अपकार किया है कि, जो महाराज दशरथ मुझे दुःख में डाल, आप स्वयं स्वर्गवासी हो गए, ॥५॥

तस्यैषा धर्मराजस्य धर्ममूला महात्मनः ।

परिभ्रमति राजश्रीर्नारिवाकणिका जले ॥ ६ ॥

इन महात्मा धर्मराज की यह धर्ममूलक राजलक्ष्मी, इन समय मानीहीन नाव की तरह समुद्र में इधर उधर नागी मारी फिर रही है ॥ ६ ॥

यो हि नः सुमहात्मायः सोऽपि प्रव्राजितो वनम् ।

अनया धर्ममुत्सृज्य मात्रा मे राधवः स्वयम् ॥७॥

१ कैकेय्या हेतुभूतया वापमानलोकस्य सूतनागधादिः । ( गो० )

१ अपहृतं--अनुचित कर्म ( गो० )

पिता की वह दशा हुई, तिम पर, मेरे जो बड़े रक्ष श्रीराम थे, उनको भी इमने दस (कैकेयी ने) धर्मावर्म का कुछ भी विचार न कर वन में भिजवा दिया ॥ ७ ॥

इत्येवं भरतं प्रेक्ष्य विलपन्तं विचेतनम् ।

कृपणं रुरुदुः सर्वाः सस्वरं योषितस्तदा ॥ ८ ॥

इस प्रकार भरत को चैनहारहित प्रभाव करते दस, मग स्त्रियाँ वरुण पर से रोने लगी ॥ ८ ॥

तथा तस्मिन् विलपति वसिष्ठो राजधर्मपितृ ।

समामिच्छाकुनाथस्य प्रप्रिवेश महायशाः ॥ ९ ॥

इस प्रकार से विलाप हो रहा था कि, इतने में राजधर्म के ज्ञाता ( राजनीतिज्ञ ) महायशस्वा वसिष्ठ मुनि इन्द्राकुनाथ की सभा में आए ॥ ९ ॥

शातकुम्भमयीं<sup>१</sup> रम्यां मणिरत्नममाकुलाम् ।

सुधर्माभिर धर्मात्मा सगणः<sup>२</sup> प्रत्यपद्यत ॥ १० ॥

उस सभाभवन में सुन्दर सुन्दर नकशाशी का काम किया हुआ था । और जगह जगह पद्मगगति मणियाँ जड़ी हुई थीं । जिस प्रकार सुधर्मा नाम के सभाभवन में इन्द्र अपने अनुयायियों सहित प्रवेश करते हैं, उमा प्रकार इन्द्राकुनाथ की सभा के भवन में, वसिष्ठ जो न अपने अनुयायी शिष्यों सहित प्रवेश किया ॥ १० ॥

स काञ्चनमयं पीठं ॐ श्राध्यास्तरणामृतम् ।

अध्यास्त सवेदज्ञो दूताननुशशास च ॥ ११ ॥

१ शातकुम्भमयी—स्वर्णमयी । (गो०) २ सगण—सहिष्णुगण । (गो०) \* पाठान्तरे—“सुधास्तरणामृतम्” ।



और वहाँ सोने के एक मिहामन पर, जिस शस्त्रिकाकार अर्थात् गुदगुदा आमन पडा था, जा बैठे, और दूतों को आवा दी ॥ ११ ॥

ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यान्मात्यान् गरुवल्लभान् १ ।

क्षिप्रमानयताव्यग्राः कृत्यमात्ययिकं हि नः ॥ १२ ॥

कि तुम लोग जाकर, बहुत शीघ्र ब्राह्मण, क्षत्रियों, मत्रियों तथा सेनापतिया को लिवा लाओ। क्योंकि एक दंड उररी काम है ॥ १० ॥

म राजभृत्यं शत्रुध्नं भरतं च यशस्विनम् ।

युधाजितं सुमन्त्रं च ये च तत्र हिता जनाः ॥१३॥

यशस्वी भरत और शत्रुघ्न को उनके निज के नौकरों सहित, युधाजित सुमन्त्र आदि मन्त्रियों को तथा और जो कोई वहाँ हित हों, उनको भी शीघ्र बुला लाओ ॥ १३ ॥

ततो हलहलाशब्दः सुमहान् ममपद्यत ।

रथैरश्वैर्गर्जन्थापि जनानामुपगच्छताम् ॥ १४ ॥

कुछ ही देर में दूतों के बुलाए लोग रथों, घोड़ों और हाथियों पर सवार होकर, आने लगे उनकी मधारियों के आने का एक प्रकार का महाशब्द उत्पन्न हुआ ॥ १४ ॥

ततो भरतमायान्तं शतक्रतुमिवामराः ।

प्रन्यनन्दन्प्रकृतयो यथा दशरथं तथा ॥ १५ ॥

१ गरुवल्लभान्—गरुष्वृणान् । (गो०) २ सरात्रभृत्य—सरात्रन्त रत्नभृत्य सहित । (गो०) ३ युधाजित—युधाजिदिति विवशाल्यम विरो नामान्तरसुभवशब्दकारणत्वात् । (गो०)

देवता जिस प्रकार इन्द्र को देव्य प्रमत्त होते हैं, उसी प्रकार भरत को आते देव्य, मत्री आदि ऐसे प्रमत्त हुए, मानों वे महाराज दशरथ के सभाप्रवेश पर प्रमत्तता प्रकट कर रहे हों ॥१५॥

हृदः इव तिमिनागमंनृतः

स्तिमितजलो मणिशङ्खशर्करः ।

दशरथमुत्तशोभिता समा

सदशरथेन वमी यथा पुरा ॥ १६ ॥

इति पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥

उस समय भरत की उपस्थिति से वह राजसभा उसी प्रकार जोभित हुई, जिस प्रकार समुद्र का स्थिर जल बड़े बड़े मच्छों नावों, मणियों शङ्ख और बालू से सुशोभित होता है। उस समय ऐसा मालूम पड़ना था, मानों महाराज दशरथ स्वयं सभा में आकर बैठे हों ॥ १६ ॥

अयोध्याकांड का इक्यामीर्थां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:००:—

द्व्यशीतितमः सर्गः

—:ॐ:—

तामार्यगणसम्पूणां भरतः प्रग्रहां३ समाप् ।

ददर्श बुद्धिमन्पन्नः पूर्णचन्द्रो निशामिन् ॥ १ ॥

१ हृदरव—समुद्रमणोरथ । ( गा० ) २ शङ्खशङ्खेनाः स्थूल-  
बालुका उन्नेने । ( गो० ) ३ प्रग्रहा—नियन्त्रणी । ( गो० )  
घनाशये शरदि । ( य० )

वसिष्ठादि श्रेष्ठ पुत्रों से मरी, भरत द्वारा नियमित सभा को, बुद्धिसम्पन्न भरत जी ने देखा कि वह पूर्णमासी की रात की तरह शोभायमान है ॥ १ ॥

आसनानि यथान्योपमार्याणां विशतां तदा ।

वस्त्राङ्गरागप्रभया द्योतिता सा सभोत्तमा ॥ २ ॥

यथायोग्य आसनों पर बैठ हुए तथा अगराग लगाए और चमकीली भटकीली पोशाकें पहिने हुए श्रेष्ठ जनों से, वह श्रेष्ठ सभा चमक रही थी । अर्थात् सुशोभित थी ॥ २ ॥

सा विद्वज्जनसम्पूर्णा सभा सुरुचिरा तदा ।

अदृश्यत घनापाये पूर्णचन्द्रेव शर्वरी ॥ ३ ॥

शरद ऋतु में जिस प्रकार पूर्णमासी के चन्द्रमा से रात्रि सुशोभित होती है, उसी प्रकार विद्वज्जनों के सम्मिलित होने से वह सभा परम शोभायुक्त दिग्गलाई पड़ती थी ॥ ३ ॥

राज्ञस्तु प्रवृत्तीः सर्वाः समग्राः प्रेक्ष्य धर्मवित् ।

इदं पुरोहितो वाक्यं भरत मृदु चाब्रवीत् ॥ ४ ॥

उस समय धर्मज्ञ राजपुरोहित वसिष्ठ जी ने, महाराज के मन मन्त्रीआदि प्रधानों को देख, भरत जी से ये मधुर वचन कहे ॥ ४ ॥

तात राजा दशरथः स्वर्गतो धर्ममाचरन् ।

। धनधान्यवर्ता स्फीता प्रदाय पृथिर्वी तन ॥ ५ ॥

हे वत्स ! इस वन धान्ययुक्त और समृद्धशालिनी पृथिवी का राज्य तुम्हें दे कर, महाराज दशरथ धर्माचरण पूर्वक स्वर्ग सिंघार गए ॥ ५ ॥

रामस्तथा सत्यवृत्तिः सतां१ धर्ममनुस्मरन् ।

नालहात्पितुरादेशं शशी ज्योत्स्नामिषोदितः ॥ ६ ॥

सत्यव्रतधारी राम ने पितृ आज्ञाकारी सज्जनों के पितृ वचन पालन रूपी धर्म का पालन कर, महाराज की आज्ञा का त्याग कैसे ही नहीं किया जैसे चन्द्रमा चाँदनी का त्याग नहीं करता ॥ ६ ॥

[ टिप्पणी—पुत्रको पुत्रता नीचे के श्लोक में बतलाई गयी है—

“जीवतोर्वाक्यकरणात् प्रत्यन्दभूरिमोजनात् ।

गयाया पिएडदानाच्च पिभिः पुत्रस्य पुत्रता ॥”

अर्थात् पुत्रोत्पादन करने की आवश्यकता यही है कि, ( १ ) जब तक पिता जीवित रहे तब तक पुत्र अपने पिता की आज्ञा माने ( २ ) पिता के मरने पर प्रतिवर्ष पिता को मरणतिथि को पिएडदान कर अनेक ब्राह्मणों को भोजन करावे और ( ३ ) गया में जा कर पिएड दे कर, पिता का उद्धार करे । पुत्र के ये ही तीन मुख्य कर्त्तव्य हैं ।]

पित्रा भ्रात्रा च ते दत्तं राज्यं निहतकण्टकम् ।

तद्भुङ्क्ष्व मुदितामात्यः क्षिप्रमेवाभिपेचय ॥ ७ ॥

अतएव पिता और भ्राता के दिये हुए इस निःकण्टक राज्य को तुम भोगो और तुरन्त अपना अभिपेक करवा, अपने मंत्रियों को प्रसन्न करो ॥ ७ ॥

उदीच्याश्च प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च केवलाः३ ।

कोट्यापरान्ताः४ सामुद्रा रत्नान्यभिहरन्तु ते ॥ ८ ॥

१ सता—पितृनिदेशवार्त्तिताम् । ( गो० ) २ धर्म—पितृवचनपरिपालन रूपं । ( गो० ) ३ केवला.—सिंहासनादिरहिता इत्यपरान्तादि विशेषणं ४ अपरान्ताः—अपरान्तदेशवाकिनोपवनाः । ( गो० )

उत्तर पश्चिम और दक्षिण देशवासी राजा तथा अन्ध  
वेतिनक के जमींदार तथा पश्चिमान्त सीमावासी यमनादि  
तथा द्वीपान्तरों के राजा लोग, तुमको करोड़ों रत्न भेंट  
करेंगे ॥ ८ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं शोक्रेनाभिपरिप्लुतः ।

जगाम मनसा रामं १ धर्मज्ञी २ धर्मज्ञाद्दृष्टया ३ ॥ ९ ॥

भरत जी गुरु बसिष्ठ के ये वचन सुन, बहुत दुःखी हुए ।  
'शपरम्परागत ज्येष्ठ राजकुमार ही राजा होता है—इस कुल  
धर्म को जानने वाले भरत जी ने, बड़े भाई का अनुगमन करने  
की आज्ञा से, राम का स्मरण किया ॥ ९ ॥

स वाष्पकलया वाचा झलहंसस्वरो युवा ।

पिललाप सभामध्ये जगहँ च पुरोहितम् ॥ १० ॥

उस समय कलहम की तरह स्वर वाले युवा भरत का गला  
भर आया, वे विलाप करने लगे और उन्होंने कुलपुरोहित  
बसिष्ठ जी के कथन को सर्वथा अनुचित बतलाया ॥ १० ॥

४ चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य ५ धीमतः ६ ।

धर्म ७ प्रयतमानस्य को राज्यं मद्दिघो ८ हरेत् ॥ ११ ॥

१ राममनसा जगाम—समारेत्वर्यं । (गो०) २ धर्मज्ञ—ब्रह्म-  
मागत ज्येष्ठाभिप्रेचनरूपधर्मज्ञः । (गो०) ३ धर्मज्ञाद्दृष्टया—ज्येष्ठानु-  
वर्तन रूप धर्मलिप्सया । (गो०) ४ चरितब्रह्मचर्यस्य—अनुष्ठितगुरु-  
कुलवासस्य । (गो०) ५ विद्यास्नातस्य—निखिलवेदाध्ययनानन्तरभाति  
स्नानकर्मयुक्तरथ । (गो०) ६ धीमत—तदर्थज्ञस्य । (गो०) ७ धर्मप्रयत-  
मानस्य—तदर्थानुष्ठानवतः । (गो०) ८ मद्दिघो—शास्त्रपरमोनाद्यु ।  
(गो०)

भरत जी कहने लगे—हे ब्रह्मन् ! जो राम गुम्बुल में रह कर, निखिल साङ्गोपाङ्ग वेदों को पढ़ हुए हैं और उनका अर्थ भी भली भाँति जानते हैं और तन्नुसार अनुष्ठान भी करत रहते हैं, उन राम का राज्य भला मुझ जैसे शास्त्र के मत का जानने वाला, क्योंकर छीन सकता है ॥ ११ ॥

[टिप्पणी—शिरोमणि टीकाकार ने धर्मप्रयतमानस्य का अर्थ विश्रा है—‘ पितृपतिज्ञा पालने प्रयतमानस्य ’ ]

कर्यं दशरथाज्जातो भवेद्राज्यापहारकः ।

राज्यं चाह च रामस्य धर्मं वस्तुमिहार्हमि ॥ १२ ॥

महाराज दशरथ से उत्पन्न कोई क्याकर धर्मानुमोदित दूसरे के राज्याधिकार को अपन्त कर सकता है ? केवल यह माग राज्य ही नहीं, बल्कि मैं स्वयं भी, राम का ही हूँ। हे पुरोहित जी ! आप जो कुछ कहें, मो धर्मानुमोदित ही कहें ॥ १२ ॥

ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च धर्मात्मा दिलीपनहुषोपमः ।

लब्धुमर्हति काकुत्स्थो राज्य दशरथो यथा ॥ १३ ॥

दिलीप और नहुष की तरह जैसे महाराज दशरथ, इस राज्य के अधिकारी थे, वैसे ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ धर्मात्मा राम का इस राज्य को पाने के अधिकारी है ॥ १३ ॥

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं कुर्यां पापमहं यदि ।

इच्छाकृणामहं लोके भवेयं बुलपांसनः ॥ १४ ॥

यदि मैं ( आपके कथनानुसार ) इस राज्य को ग्रहण कर, असाधुसेवित और स्वर्गविरोधी यह महापाप कर्म करूँ तो सब लोग मुझे इच्छाकृण-कुल के नाम को बतलावेंगे ॥ १४ ॥

यद्धि मात्रा कृतं पापं नाहं तदपि रोचये ।

इहस्थो वनदुर्गस्थं नमस्यामि कृताञ्जलिः ॥ १५ ॥

मेरी माता जो पापदर्म कर बैठे है—वह भी मुझे पसन्द नहीं है। मैं (इसके लिए) वन में बैठे हुए राम को हाथ जोड़ कर प्रणाम करता हूँ—अर्थात् माता के अनुचित कर्म के विरोधना माँगता हूँ ॥ १५ ॥

राममेवानुगच्छामि न राज्ञा द्विपदांबरः ।

त्रयाराममि लोद्धानां राज्यमहति राववः ॥ १६ ॥

और उनका अनुगामी होता हूँ। नरों में श्रेष्ठ वे ही राजा हैं। वे तीनों लोकों का राज्यशान्त करने योग्य हैं, उनके लिए इस पृथिवी का राज्यशान्त करना कौन दबो दात है ॥ १६ ॥

तद्वाक्यं धर्मनयुक्तं श्रुत्वा नर्वे नमात्तदः ।

हपोन् मुहुर्भूरश्रुति रामे निहितचित्तः ॥ १७ ॥

भरत जी के ऐसे धर्मानुमोदित बचन सुन, मर के मर सन्तानद जिनका मत श्रीरामचन्द्र जी में लगा हुआ था, अनन्त के श्रान्तु गिराने लगे ॥ १७ ॥

यदि त्वार्यं न शक्यामि विनिवर्तयितुं वनात् ।

वने त्वेव शक्यामि व्यथार्थे लक्ष्मणस्तथा ॥ १८ ॥

भरत जी फिर कहने लगे—यदि मैं राम को वन से न लौटा सकूँगा, तो मैं वन में रहके रात्र लक्ष्मण जी को तरह करूँगा ॥ १८ ॥

सर्वोपायं च वर्तिष्ये त्रिनिवर्तयितुं वनात् ॥

समक्षमार्यमिथाणां साधूनां गुणवर्तिनाम् ॥ १६ ॥

मैं राम को वन से लौटाने के लिए (आप सब) सभासदों और अच्छे गुण वाले साधु जनों की -पस्थिति ही में, सब प्रकार के उपाय करूँगा। (अर्थात् आप लोग मेरे साथ चले और देखें कि, मैं श्रीरामचन्द्र जी को लौटाने के लिए उपाय करने में कोई कोरकमर नहीं करता) ॥ १६ ॥

रविष्टिकर्मान्तिकाः सर्वे मार्गशोधस्तक्षणाः ।

प्रस्थापिता मया पूर्ण यात्राऽपि मम रोचते ॥ २० ॥

मैंने पहिले ही अत्रैतनिक तथा पारिश्रमिक लेकर काम करने वाले चतुर मार्गशोधकों और दृढियों को, रास्ता ठीक करने के लिए भेज दिया है। मैं तो राम के पास जाना ही पसन्द करता हूँ ॥ २० ॥

एतमुक्त्वा तु धर्मात्मा भरतो ब्राह्मणत्मलः ।

ममीपस्थमुवाचेऽहं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥ २१ ॥

यह कह ब्राह्मणत्मल एवं धर्मात्मा भरत ने सलाह देने में चतुर और पास बैठ हुए सुमन्त्र से कहा ॥ २१ ॥

तूणमुत्थाय गच्छ त्वं सुमन्त्रं मम शर्मिणात् ।

यात्रामाज्ञापय त्विप्रं बलं चैव समानय ॥ २२ ॥

तुम उठ कर शीघ्र जाओ और सेना को यह जना कर कि, मेरे आज्ञानुसार इनको यहाँ से प्रस्थान करना होगा, तुरन्त अपने साथ लिये लाओ ॥ २२ ॥

१ आर्यमिथाणां—सदस्याना। (गो०) २ विष्टिकर्मान्तिकाइति—विष्टयो भृतिमन्तरेण धनपदेभ्य उमान्नीता कर्मकरा। (गो०) पाठान्तरे—“बलात्”।



एवमुक्तः सुमन्त्रस्तु भरतेन महात्मना ।

प्रहृष्टः सोऽदिशत्सर्वं यथासंदिष्टमिष्टवत् ॥ २३ ॥

महात्मा भरत जी के ये वचन सुन, सुमन्त्र ने प्रसन्न हो भरत जी के आज्ञानुसार मन नाम किया ॥ २३ ॥

ताः प्रहृष्टाः प्रकृतयो बलाध्यक्षा बलम्य च ।

श्रुत्वा यात्रां समाज्ञप्तां राघवस्य निवर्तने ॥ २४ ॥

भरत जा की इस आज्ञा को कि, राम को लौटाने के लिए चलना होगा, सुन कर प्रजाजन तथा सेना के सेनापति बहुत प्रसन्न हुए ॥ २४ ॥

ततो योधाङ्गनाः सर्वा भर्तुं नृ मर्मान् गृहे गृहे ।

यात्रागमनमाज्ञाय त्वरयन्ति स्म हर्षिताः ॥ २५ ॥

घर घर, योद्धाओं की स्त्रियाँ, हर्षित हो कर, अपने अपने पतियों से, राम को लौटा लाने के लिए बन में जाने की, जल्दी मचाने लगी ॥ २५ ॥

ते हयैर्गोरथैः शीघ्रैः स्यन्दनैश्च महाजवैः ।

सह योर्ध्वलाध्यक्षा बलं सर्वमचोदयन् ॥ २६ ॥

मन सेनाध्यक्षा ने घोड़ों और बैलों से खींचे जाने वाले और तेज चलने वाले रथों पर सवार हो, समस्त सेना को शीघ्र चलने की आज्ञा दी ॥ २६ ॥

सज्जं तु तद्वलं दृष्ट्वा भरतो गुरुमग्निवी ।

रथं मे त्वरयन्वेति सुमन्त्रं पार्ष्वतोऽब्रवीत् ॥ २७ ॥

सेना को चारा के लिए तैयार देग, भरत ने गुरुवमिष्ट की मन्त्रिधि में और अपने बगल में बैठ हुए सुमत्र से कहा कि, मेरा रथ तुरन्त लाओ ॥ २७ ॥

भरतस्य तु तस्याज्ञां प्रतिगृह्य च हपितः ।

रथं गृहीत्वा प्रययौ युक्तं परमराजिभिः ॥ २८ ॥

• सुमत्र जी "जो आज्ञा" वह और वन में आदेशानुसार प्रसन्न होते हुए गए और बड़े अच्छे घोड़े जोत कर, एक रथ भरत जी के सामने ला गया किया ॥ २८ ॥

म राधनः सत्यवृत्तिः१ प्रतापवान्

ब्रुवन् मुयुक्तं२ दृढसत्यविक्रमः ।

• गुरुं महारण्यगत यशस्विन

प्रसादयिष्यन् भरतोऽनृपीत्तदा ॥ २९ ॥

वे धैर्यवान्, प्रताप, दृढप्रतिज्ञ और सत्यपराक्रमी भरत जी, महावन में गए हुए यशस्वी राम को प्रसन्न कर, लौटा लाने का विचार कर, सुमत्र जी से बोले ॥ २९ ॥

तूर्णं समुत्थाय सुमन्त्र गच्छ

बलस्य योगाय बलप्रधानान् ।

श्रानेतुमिच्छामि हि तं वनस्यं

प्रसाद्य राम जगतो हिताय ॥ ३० ॥

१ सत्यवृत्ति — अप्रच्युतर्ध । ( १० ) २ मुयुक्तान् वन् — गुरु -  
३ सादयिष्यन् । ( गा० )

हे सुमंत्र ! तुम तुरन्त सेनानायकादि, सुहृदों तथा अन्य मुख्य मुख्य प्रजाजनों को तैयार होने की आज्ञा दो। मैं जगत् के कल्याण के लिए राम को वन से लौटाने के लिए वन जाना चाहता हूँ ॥ ३० ॥

स सूतपुत्रो भरतेन सम्य-

गाज्ञापितः सम्परिपूर्णकामः ।

शशाम सर्वान् प्रकृतिप्रवानान्

बलस्य मुख्यांश्च सुहृज्जनं च ॥ ३१ ॥

भरत जी के वचन सुन, पूषमान सूत सुमंत्र ने प्रजा के मुखियों, सेनाव्युक्तों तथा सुहृद्द जनों से, भरत जी की आज्ञा समझा कर, कह दो ॥ ३१ ॥

ततः समुत्थाय कुलेः कुले ते

राजन्यवैश्या वृपलादचः पित्राः ।

अयूयुजन् उपद्रथान् खरांश्च

नागान् हयांश्चैव कुलप्रसूतान् ॥ ३२ ॥

इति द्विंशोऽशोतितमः सर्गः ॥

अनन्तर घर घर में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने अपने ऊँटों, रथों, सज्जों और अच्छे जाति के हाथियों और घोड़ों को तैयार करने लगे ॥ ३२ ॥

अयोध्याकाण्ड का व्यासीर्वा सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

## त्र्यशीतितमः सर्गः

— ० —

ततः समुत्थितः कान्यमास्याय स्यन्दनोत्तमम् ।  
प्रययौ भरतः शीनं रामदर्शनकाङ्क्षया ॥ १ ॥

तदनन्तर सपेरा होते ही भरत जी उठ थोर हुन्दर रथ पर  
भवार होकर, राम क दर्शन की कामना किए हुए शीघ्रता  
से रवाना हुए ॥ १ ॥

अग्रतः प्रययुस्तस्य सर्वे मन्त्रिपुरोधमः ।  
अधिष्ठ ह्यर्पुक्तान् रथान् सूर्यरथापमान् ॥ २ ॥

भरत जी के रथ में आगे आगे सब मन्त्रि और पुरोहित  
घोड़ों के रथों में, जो सूर्य नारायण के रथ के समान चमकीले  
थे, बैठ कर चले ॥ २ ॥

नमनागसहस्राणि कल्पितानि यथापिपि ।  
अन्वयुर्भरत यान्तमिदवाकुडुलनन्दनम् ॥ ३ ॥

और अन्धी तरह मजे हुए १ हजार हाथी, इत्वाकुडुल-  
नन्दन भरत जी के रथ के पीछे चले ॥ ३ ॥

पथी रथसहस्राणि धन्विनी पिपिवापुषाः ।  
अन्वयुर्भरतं यान्तं राजपुत्र यशस्विनम् ॥ ४ ॥

और साठ हजार रथों में बैठ कर विविध अन्धधारी, धनुद्धर  
यशस्वी राजकुमार भरत जी के पीछे चले ॥ ४ ॥

शतं सहस्राण्यरानां समारूढानि राघवम् ।

अन्वयुर्भरत यान्तु सन्यमन्ध जितेन्द्रियम् ॥ ५ ॥

श्रीरघोशों पर चड हुए, एक लाख घुडसवार नितेन्द्रिय  
यव सत्यप्रतिज्ञ भरत जी के साथ चले ॥ ५ ॥

कैकेयी च सुमित्रा च शौमल्या च यशस्विनी ।

रामानयनसहृष्टा ययुपनिन भास्वता ॥ ६ ॥

कैकेयी, सुमित्रा और यशस्विनी कीसल्ला जी श्रीरामचन्द्र  
जी को लौटा लान के लिए प्रसन्न हो, परम दीतमान् रघों पर  
चड कर चली ॥ ६ ॥

प्रयातारचार्यसद्भावाः रामद्रष्टुं सलदमराम् ।

तस्यैव च कथाश्चित्राः कुर्वाणा ह्यमाननाः ॥ ७ ॥

द्विजातियों के झुण्ड के झुण्ड श्रीरामचन्द्र जी को देखने के  
लिए (अयोध्या से) रवाना हुए। वे लोग (रास्ते भर)  
आपस में श्रीरामचन्द्र जी ही का चित्र वृत्तान्त कहते सुनते  
और प्रमन्न होते हुए चल जाते थे ॥ ७ ॥

मेघरयामं महाराहुं स्थिरसत्त्वं दृढप्रतम् ।

यदा द्रक्ष्यामहे राम जगतः शोकनाशनम् ॥ ८ ॥

वे कहते थे कि, हम लोग उन मेघराम, महाबाहु, दृढप्रत,  
स्थिरव्यवसायी और जगत का शोक नाश करने वाले श्रीराम-  
चन्द्र को कब देखेंगे ॥ ८ ॥

दृष्ट एव हि नः शोकमपनेष्यति राघवः ।

तमः सर्वस्य लारुस्य समुद्यन्निव भास्करः ॥ ६ ॥

जैसे सूर्य उदय होते ही त्रिभुवन क अन्यकार को नाश कर देते हैं, वैसे ही श्रीरामचन्द्र जी महाराज अपने दर्शन मात्र से हम लोगों के शोक को दूर करेंगे ॥ ६ ॥

इत्येवं कथयन्तस्ते संप्रहृष्टाः कथाः शुभाः ।

परिष्वजानाश्चान्योन्यं ययुर्नागरिका जनाः ॥ १० ॥

उस समय नगर क रहने वाले, सब लोग आपस में इस प्रकार शुभ वार्तालाप करते और मारे हर्ष के एक दूसरे के गले से भेटते हुए, चने जाते थे ॥ १० ॥

ये च तत्रापरे मर्ये सम्मताः ये च नैगमाः ।

रामं प्रतिययुहृष्टाः सर्वाः प्रकृतयस्तथा ॥ ११ ॥

जिन प्रसिद्ध अयोव्यावासी बनियों ( व्यापारियों ) को भरत जी ने चलने की आज्ञा दी थी और जिनको आज्ञा नहीं दी थी, वे भी बनिये तथा अन्य सब प्रजाजन प्रसन्न मन से श्रीरामदर्शनार्थ चले जाते थे ॥ ११ ॥

मणिकाराश्च ये केचित्कुम्भकारारच शोभनाः ३ ।

ध्वजकर्मकृतर्चय ये च शस्त्रोपजीविनः ॥ १२ ॥

प्रजाजनो म से कोई चतुर जडिया थे, कोई चतुर कुम्हार थे, कोई कपड़ा बनाने वाले कौरी थे और कोई हथियार बनाने वाले कारीगर थे ॥ १२ ॥

१ समता.—प्रसिद्धा । ( रा० ) २ प्रकृतय — भेष्य । ( रा० )

३ शोभना — स्वकार्यदक्षा । ( षो० ) ४ ध्वजकर्मकृत — तन्त्रुसापादय । ( गो० )

• मायूरकाः क्राकचिका रोचका' वेधकास्तथा ।

दन्तकाराः सुधाकारास्तथा गन्धोपजीविनः ॥ १३ ॥

कोई मोरपट्टी बनाने वाले, कोई आरी से लकड़ी चीरने वाले और कोई कलईगर थे, अथवा कोई काच की शीशी बनाने वाले, कोई मणियों और मोतियों को बेचने वाले, कोई हाथी दाँत का काम बनाने वाले, कोई अस्तरकारी करने वाले, और कोई गंध थे ॥ १३ ॥

सुवर्णकाराः प्रख्यातास्तथा कन्दलधावकाः ।

स्नापकाच्छादका वैद्या धूपकाः शौण्डिकास्तथा ॥ १४ ॥

कोई प्रसिद्ध स्नानर थे, कोई कदल बनाने वाले या बोन वाले थे, कोई शगर में तेल उड़ान कर गर्म जल से स्नान कराने वाले थे, कोई पगचप्पी ( पैर दबाने वाले ) थे, कोई बैरा थे, कोई घर में धूप दे कर घर का चायु शुद्ध करने वाले थे और कोई कलार ( शराब बेचने वाले ) थे ॥ १४ ॥

रजकास्तुन्नवायाश्च ५ ग्रामघोषमहत्तराः ।

शैलूपाश्च ६ सह स्त्रीभिर्ययुः कर्त्तृकास्तथा ॥ १५ ॥

उनमें कोई धोबी थे, कोई दर्जी थे, कोई गाँवों के मुखिया थे, कोई अहीरों के मुखिया थे, कोई नट अपनी स्त्रियों सहित

१ रोचकाः - काचकुप्यादिकर्तारः इति कतकः । २ स्नापकाः—  
तैलाम्पद्भ्यादिस्नानकारेणः । (गो०) ३ उच्छादकाः—अद्भमर्षकाः । (गो०)  
४ तुन्नवायाः—सूचना सीवनकर्तारः । (रा०) ५ ग्रामघोषमहत्तराः—ग्राम  
महत्तराः घोषमहत्तराश्च । (गो०) ६ शैलूपाः—भूमिवाधारिणः स्त्री-  
जीविनो वा । (गो०)

ये ( ये नट स्त्री जोषी होने के कारण ही स्त्रियों सहित गये थे )  
और कोई मल्लाह थे ॥ १५ ॥

१समाहिता वेदविदो ब्राह्मणा वृत्तमम्मताः ।

गौरथैर्भरतं यान्तमनुजग्मुः सहस्रशः ॥ १६ ॥

सहस्रां मदाचारी वेदपाठा ब्रह्मण जिनसा मन श्रीराम में  
लगा था, छकड़ों पर बैठ भरत जी के पीछे हो निघ थे ॥ १६ ॥

सुवेपाः शुद्धवमनास्ताम्रमृष्टानुनेपनाः ।

सर्वे ते विविधैर्यानिः शर्नैर्भरतमन्ययुः ॥ १७ ॥

मन ही सुन्दरवेश बनाये, सुन्दर वस्त्र पहिने और लाल  
चन्द्रन लगाये और तरह तरह की मदारियों पर सवार,  
धीरे धीरे भरत जी के पीछे चले जाते थे ॥ १७ ॥

प्रहृष्टमुद्रिता सेना मान्वयात्केकर्यामुत्तम् ।

भ्रातुरानयने यान्तं भरतं भ्रातृवत्सलम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार जब कैकेयीनन्दन एव भ्रातृवत्सल भरत, श्रीराम-  
चन्द्र को लौटा लाने के लिये चले, तब मैत्रिक लोग भी हर्षित  
होते हुए भरत जी के साथ चले आते थे ॥ १८ ॥

ते गत्वा दूरमघ्यानं रथयानाश्चक्रुर्ज्वरैः ।

समासेदुस्ततो गङ्गां मृद्धिवेरपुरं प्रति । १९ ॥

वे लोग रथों, पालकियों छकड़ों आदि मदारियों तथा घोड़ों  
और हाथियों पर सवार हो, बहुत दूर चलने के बाद, मृद्धिवेरपुर  
में गङ्गा जी के तट पर पहुँचे ॥ १९ ॥

१ समाहिता.—उमावेशतचित्ताः । (शि०) २ गौरथैः—शकटैः ।  
( गो० )



यत्र राममखो वीरो गुहो जातिगर्षावृतः ।  
निवसत्यप्रमादंन देशं तं परिपालयन् ॥ २० ॥

जहाँ पर श्रीरामचन्द्र जी का मित्र गुह, अपनी जाति के लोगों के साथ, मावधानी के साथ, उस देश का पालन करता हुआ निवास करता था ॥ २० ॥

उपेत्य तीरं गङ्गायाश्चक्रवाकैरलंकृतम् ।  
व्यवातिष्ठत् सा सेना भरतस्यानुयायिनी ॥ २१ ॥

भरत जी के पीछे चलने वाली वह सेना चक्रवाकों से सुशोभित भागीरथी गङ्गा के तट पर पहुँच कर, वहीं टिक रही ॥ २१ ॥

निरीक्ष्यानुगतां सेनां तां च गङ्गां शिवोदकाम् ।  
भरतः सचिवान् सर्वान्ब्रवीद्वाक्यकोविदः ॥ २२ ॥

बचल बोलने में चतुर भरतजी अपनेमाथ चलने वाली सेना को टिभी हुई देख व सुन्दर गङ्गाजल को निहार, सब मन्त्रियों से कहने लगे ॥ २२ ॥

निवेशयत मे सैन्यमभिप्रायेण मर्वतः ।  
विश्रान्ताः प्रतरिष्यामः श्वइदानीमिमानदीम् ॥ २३ ॥

मैं चाहता हूँ कि, मेरी सेना आज यहीं पर अपने लिए अनुकूल स्थानों की देख टिके, कल हम सब इस नदी को पार करेंगे ॥ २३ ॥

दातुं च तामदिच्छामि स्वर्गतस्य महीपतेः ।  
श्रौर्ध्वदंहनिमित्तार्थमवतीर्योदकं नदीम् ॥ २४ ॥

मैं चाहता हूँ कि, मैं स्वर्गगामा महाराज दशरथ को, उनकी श्रीहृद्देहिक क्रिया के निमित्त, कल इम नदी को पार करने के समय जल दूँ अर्थात् गङ्गानल से तपण करूँ ॥ २४ ॥

[ टिप्पणी—श्रीराम जी के समय भी अर्थात् आज से कई लाख वर्षों पूर्व, प्रेता युग में भी लाकान्तरवासी आत्मीयों का जल से तपण करने की प्रथा प्रचलित थी । ]

तस्यैवं ब्रुवतोऽमात्यास्तथेत्युक्त्वा ममाहिताः ।

न्यवेशयस्तांश्चन्द्रेण स्वेन स्वेन पृथक्पृथक् ॥ २५ ॥

जब भरत जी ने इस प्रकार कहा, तब मन्त्रियों ने “जा आज्ञा” कह, उड़ी मात्र गनी से सब लोगों को उनकी पसन्द के अलग अलग टिकामरे बता दिए ॥ २५ ॥

निवेशय गङ्गामनु तां महानदीं

चमू विधानैः परिवर्हशोभिनीम् २ ।

उवाच रामस्य तदा महात्मनो

विचिन्तयानो भरतो निवर्तनम् ॥ २६ ॥

इति त्रयशीतितम सर्ग

महा मा भरत जी, महानदी गङ्गा के तट पर यथाविधान पात्रौपयुक्त ( अथवा तट, गामा में ) अपनी सेना को टिका, श्रीरामचन्द्र जी के लौटान का चिन्ता करते हुए, यहाँ टिके ॥ २६ ॥

अयोध्याराज्य का निरामीयों मार्ग ममाप्त हुआ ।

— ० —

१ छन्द्रेण—इन्द्रिया । ( गा० ) २ परिवर्हशाभिनीम्—परिवर्हशाभिनी पयुक्तपटपरमाद्युपकरण । ( गा० )

## चतुरशीतितमःसर्गः

- ०:-

उतो निविष्टां ध्वजिनीं<sup>१</sup> गङ्गामन्वाश्रितां नदीम् ।

निपादराजो दृष्टैव ज्ञातीन् सन्त्वररितोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

भरत जी की चतुरङ्गिनी सेना को गङ्गा जी के किनारे टिकी हुई देस और सशङ्कित हो गुह ने अपनी बात बालों से कहा ॥ १ ॥

महतीऽयमितः सेना मागराभा प्रदृश्यते ।

ऋतस्यान्तं नाधिगच्छामि मनसाऽपि विचिन्तयन् ॥२॥

यहाँ पर यह वहा सेना समुद्र के समान पड़ी हुई देस पडती है । मैं कल्पना करके भा इमका अन्त नहीं पा सकता अर्थान् गणना नहीं कर सकता ॥ २ ॥

टिप्पणी—प्रश्न उठता है कि भरत जी की यात्रा का उद्देश्य राम को बन से लौटा लाना मात्र था । अतः इतनी बड़ी सेना साथ ले जाने की आवश्यकता क्या थी । इस प्रश्न के उत्तर में कहना पड़ता है कि अयोध्यावासी प्रजावनों की सख्या कम न थी । अतः उनकी रक्षा के लिए पुलिस का काम करने को साथ में सेना का होना अनिवार्य था ।

यथा तु रज्जु दुर्बुद्धिर्भरतः स्वयमागतः ।

स एष हि महाकायः कोविदारघ्वजो रथे ॥ ३ ॥

मैं ममभता हूँ कि, निश्चय ही भरत घुरे विचार से स्वयं आए हैं, क्योंकि इम महाकाय रथ पर, कोविदार (कचनारामर) इक्ष्वाकुकुल की ध्वजा, पहारा रही है ॥ ३ ॥

वन्धयिष्यति वा दाशानथ<sup>२</sup> वाऽस्मान् वधिष्यति ।

अथ<sup>४</sup> दाशरथिं रामं पित्रा राज्याद्विवासितम्<sup>५</sup> ॥४॥

१ ध्वजिनी—मेना । ( गी० ) २ संत्वरितः—ससन्नमः । ( गी० )

३ दाशानथान् । ( गी० ) ४ अथ—अथवा । ( गी० ) ५ विवासितं—दुर्वल । ( गी० ) ६ पाठान्तरे—“नास्यान्तमधिगच्छामि” ।

अतः या तो भरत जी मुझे गिरफ्तार करेंगे अथवा मेरा वध करेंगे । अथवा पिता के राज्य से निकाले हुए अमहाय दुर्लभ श्रीरामचन्द्र जी का वध करेंगे ॥ ४ ॥

सम्पन्नां त्रियमन्विच्छंस्तस्य गतः सुदुर्लभाम् ।

भरतः कैकयीपुत्रो हन्तुं तमुपगच्छति ॥ ५ ॥

मो क्या कैकयी का पुत्र भरत परमदुर्लभ राजश्री की भली भोंति अपने अधिकार में कर लेने के विचार से कहीं श्रीरामचन्द्र जी को मार डालने के लिए तो नहीं जा रहा है ॥ ५ ॥

भर्ता चैव सरसा चैव रामो दाशगयिर्मम ।

तस्यार्थकामाः मन्त्रज्ञाः गङ्गानूपं प्रतिष्ठत ॥ ६ ॥

परन्तु वह दशरथनन्दन श्रीराम, मेरे स्वामी अथवा मन्ना-  
मभी कुछ है, अनएव तुम मय लोग श्रीराम की रक्षा के लिए,  
कवच पहिन और हथियार ले, गङ्गा के बन्दार में तैयार  
रहो ॥ ६ ॥

तिष्ठन्तु सर्वे दाशाश्च गङ्गामन्वाश्रिता नदीम् ।

वल्लयुक्ताः नदीरक्षा मांसमूलफलाशनाः ॥ ७ ॥

मेरे अधीन के सब नौकर, सेनासहित, फल, मूल एवं  
मांस खाते हुए, गङ्गा जी के पास उतारे के घाटों को रक्षा करते  
रहें ॥ ७ ॥

नारां गतानां पञ्चानां कैरतानां गतं गतम् ।

सन्नदानां तथा यूनां तिष्ठन्वित्यभ्यसोदयत् ॥ ८ ॥

१ अर्थकामा—अथवा न सिद्धिविषयकेन्द्रावन्तः । ( शि० ) २  
संनदा—धृतसंबन्धा । ( शि० ) ३ वल्लयुक्ता—मेनायुक्ता ( गी० ) । ४  
नदीरक्षा—नदीतरणमार्गरक्षन्तः । ( गी० )

घातों की रम्गाली के लिए गुह ने कहा कि, पाँच सौ नाव  
रहें और उनमें से प्रत्येक नाव पर सौ सौ जवान मल्लाह कबच  
पहिन और हथियार ले, तैयार रहें ॥ ८ ॥

यदा तुष्टस्तु भरतो रामस्येह भविष्यति ।

सेय स्वस्तिमती सेना गङ्गामद्य तरिष्यति ॥ ९ ॥

याद भरत, श्रीरामचन्द्र क विषय में मुझे सन्तुष्ट कर  
सके, तभी वे और उनकी सेना, सकुशाच गङ्गा को पार कर  
सकेंगी ॥ ९ ॥

इत्युक्त्वोपायन गृह्य मत्स्यमांममधूनि च ।

अभिचक्राम भरत निपादाधिपतिर्गुहः ॥ १० ॥

इस तरह अपने नौकरों और सैनिकों को सावधान कर,  
निपादपति गुह भरत का भेद लेने को स्वयं मद्दलियाँ, मांस,  
और शहद भरत जी को भेट करने के लिए अपने साथ लेकर,  
चला ॥ १० ॥

तमायान्त तु मग्नेज्य सूतपुत्रः प्रतापवान् ।

भरतायाचक्षेऽथ विनयज्ञो विनीतवत् ॥ ११ ॥

प्रतापी और विनीत सुमन्त्र ने निपाद को आते देख, विनीत  
भाव से भरत जी से कहा ॥ ११ ॥

एष ज्ञातिमहस्रेण स्थपतिः१ परिवारितः ।

कुगलो दण्डकारण्ये२ वृद्धो आतुश्च ते मया ॥ १२ ॥

यह गुह यहाँ का राजा है और अपने सहस्रों पिरादरी के लोगों  
को साथ लिए हुए आता है । यह वृद्ध गुह दण्डकारण्य में घूमने

१ स्थपात — प्रभु । ( गा० ) २ दण्डकारण्ये कुगल — तत्रसञ्चरत्य  
समर्थदत्तयं ( गा० )

फिरने वाला होने के कारण, वहाँ का रची-रची हाल जानता है और तुम्हारे भाई श्रीरामचन्द्र का मित्र है ॥ १० ॥

तस्मात्पश्यतु काकुत्स्थ त्वां निपादाविषो गुहः ।

असंशयं विजानीते यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

अतः हे काकुत्स्थ ! तुम निपादों के राजा गुह से भेंट करो । क्योंकि निश्चय ही यह यह स्थान जानता है, जहाँ वे दोनों श्रीराम और लक्ष्मण वन में निवास करते हैं ॥ १३ ॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा सुमन्त्राद्भरतः शुभम् ।

उचाप वचनं शीघ्रं गुहः पश्यतु मामिति ॥ १४ ॥

सुमन्त्र से ये शुभ वचन सुन, भरत बोले कि, अच्छा, गुह से तुरन्त जा कर कहो कि, वः सुमन्त्रे मिले ॥ १४ ॥

लब्ध्वाभ्यनुज्ञां संहृष्टो ज्ञातिभिः परिवारितः ।

आगम्य भरतं प्रहो गुहो वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

भरत की आज्ञा पा, गुह अपने ज्ञाति धिगदरी के लोगों के साथ, (अकेला नहीं) भरत जी के पास जा और प्रमत्त होना हुआ बोला ॥ १५ ॥

निष्कुश्रैव' देशोऽयं वञ्चिताथापि ते वपम् ।

निवेदयामस्ते सर्वे सके दामदुले वम ॥ १६ ॥

हे प्रभो ! यह देश आपके घर की यादिका (नजरयाग) के तुल्य है । तुमने अपने अग्नि की मूचना हमें नहीं दी; अतः

१ निष्कुट—हरणमभूत् । (गो०) ० वञ्चिता—अत्र गमनानि वेदनेन वञ्चिता इत्यर्थः । (गो०)

हम लोग आपका ययाविधि स्वागत करने से बञ्चित रहे। यह सम्पूर्ण राज्य आरक्ष है और हम मर भी आपके हैं। अरु आज आप अपने दाम के घर में बाम वीकिम् ॥ १६ ॥

अस्मि मूलं फलं चैव निपादेः ममुपाहृतम् ।

आर्द्रं च मांसं शुष्कं च पन्यं चोचावचं महत् ॥१७॥

निपाट लोगों के लिए हुए फल मूल, ताजे और सूखे मांस तथा घन में स्तन्न होते वाली अन्य थोड़ी बहुत भक्ष्य वस्तुओं के उपस्थित हैं ॥ १७ ॥

आशंसैः स्वाशिता सेना वत्स्यतीमां विभावरीम् ।

अचितो विविधैः कामैः श्वः नमैन्यो गमिष्यमि ॥१८॥

इति चतुरस्रोत्तमः सर्गः ॥

मेरी प्रार्थना है कि, आज सेना मेरे यहाँ अच्छी तरह (मेरे अर्पण किए हुए) भोजन कर, रात भर यहाँ रहे और हम लोग आप लोगों की यहाँ हर तरह से सेवा करें। तदनन्तर आप सेनामहित कल यात्रा करें ॥ १८ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौदावीं सर्ग समाप्त हुआ ।

—: ❁ :—

पञ्चाशीतितमः सर्गः

—: ❁ :—

एवमुक्तस्तु भरता निपादाधिपतिं गुहम् ।

प्रतुवाच महाप्राज्ञो वाक्यं हेत्वर्यमहितम् ॥ १ ॥

निपादाधिपति गुह के वचन सुन, महाप्राज्ञ भरत ने अपना अभिप्राय जनाने के लिए युक्तियुक्त वचन बहे ॥ १ ॥

ऊर्जितः खलु ते कामः कृतो मम गुगेः मये ।

यो मे त्वमीदृशीं सेनामेकोऽभ्यर्चितुमिच्छामि ॥ २ ॥

हे ज्येष्ठ भ्राता क मित्र ! तुम जो अकेले ही मेरी इतनी बड़ी सेना की पहुनाई करना चाहते हो—सा यह तो निश्चय ही तुम्हारा बड़ा भारी मनोरथ है । ( अर्थात् तुम्हारे इस आदर से ही हम अपने को सत्कारित मानते हैं ) ॥ २ ॥

इत्पुक्त्वा तु महातेजा गुहं वचनमुत्तमम् ।

अत्रवीद्भरतः श्रीमान्निपादाधिपति पुनः ॥ ३ ॥

परम तेजस्वी श्रामान भरत जी गुह से इस प्रकार श्रष्ट वचनों से वार्तालाप का सिलसिला आरम्भ कर, फिर बोले ॥३॥

कतरेण? गमिष्यामि भरद्वाजाश्रमं गुह ।

गहनोऽयं भृश? देशो गङ्गानूपो? दुरत्ययः ॥ ४ ॥

हे निपादराज ! भला यह ता बतलाओ कि, हम इस माग से भरद्वाज के आश्रम को जायें । क्योंकि हम देखते हैं कि, यह गङ्गा का जलप्रायदेश अत्यन्त दुष्प्रवेश अथवा दुर्गम है ॥ ४ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः ।

अत्रवीत्प्राञ्जलिर्नाक्यं गुहां गहनगोचरः ॥ ५ ॥

१ कतरेण—केन मार्गेण । ( गो० ) २ भृशगहन—अत्यन्त-दुष्प्रवेश । ( गो० ) ३ अङ्गानूपोदेश—जलप्रायोदेश । ( गो० )



बुद्धिमान राजकुमार भरत का यह प्रश्न सुन, सब दुर्गम स्थानों का रास्ता जानने वाला गुह, हाथ जोड़ कर, भरत जा से बोला ॥ ५ ॥

दाशास्त्वानुगमिष्यन्ति धन्विनः सुममाहिताः ।

अह त्वानुगमिष्यामि राजपुत्र महायशः ॥ ६ ॥

हे महायशस्वी राजकुमार ! आप इसके लिए कुछ भी चिन्ता न करें । जो लोग इस भ्रान्त का रत्ती रत्ती हान जानते हैं, वे आपकी रखवाली के लिए घनुष बाण ले, बड़ी सावधानता पूर्वक, आपके साथ जायेंगे और मैं स्वयं भी आपके पीछे पीछे चलूंगा ॥ ६ ॥

क्वचिन्न दुष्टो व्रजसि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।

इयं ते महती सेना शङ्कां जनयतीव मे ॥ ७ ॥

किन्तु आपकी इस विशाल सेना को देख, मेरे मन में यह सन्देह उत्पन्न हो गया है कि कहीं आप अक्लिष्टकर्मा श्रीराम के पास किसी दुष्ट अभिप्राय से तो नहीं जा रहे ॥ ७ ॥

तमेवमभिभाषन्तमाकाश इव निर्मलः ।

भरतः श्लक्ष्णया वाचा गुह वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

गुह के ऐसा स्पष्ट कहने पर, आकाश की तरह निर्मल स्वभाव के भरत जी (नवाद से) (ऐसा सन्देह करने के लिए नाराज हो कर कड़ वचन नहीं बोले, प्रयुक्त) मधुर वचन बोले ॥ ८ ॥

मा भूत्स कालो यत्कष्टं न मां शङ्कितुमर्हमि ।

राघवः स हि मे भ्राता ज्येष्ठः पितृसमी मतः ॥ ९ ॥

हे गुह ! वह बुरा समय न आवे, जब मेरी ऐसी दुष्ट बुद्धि हो जाय । तुम भी मेरे सम्बन्ध में ऐसा सन्देह करना उचित नहीं । क्योंकि मैं तो अपने ज्येष्ठ भ्राताराम की अपने पिता के तुल्य मानता हूँ ॥ ९ ॥

तं निरतयितुं यामि काकुत्स्थ वनवापिनम् ।

बुद्धिरन्या न ते कार्या गुह मत्य व्रणीमि ने ॥ १० ॥

हे गुह मैं तो वनवासी राम को लौटाने के लिए जा रहा हूँ । इस सम्बन्ध में तुम्हें अन्यथा न समझना चाहिए । मैं यह बात तुमसे सत्य कह रहा हूँ ॥ १० ॥

स तु संहृष्टदनः श्रुत्वा भरतभाषितम् ।

पुनरेवावधीक्षाक्यं भरतं प्रति हर्षितः ॥ ११ ॥

भरत जी के यह ब्यक्तन सुन, गुह प्रसन्न हो गया और प्रसन्न हो, पुनः भरत जी से कहने लगा ॥ ११ ॥

घन्यस्त्रं न तस्या तुल्यं पश्यामि जगतीतले ।

अयत्नादागतं राज्यं यस्त्य त्यक्तुमिहेच्छामि ॥ १२ ॥

हे भरत ! आप घन्य हैं । आपके समान इस पराधाम पर मुझे दूसरा कोई मनुष्य नहीं देख पड़ता । क्योंकि, आप बिना प्रयत्न किए हाथ लगे हुए राज्य का त्याग करना चाहते हैं ॥ १२ ॥

शारवती खलु ते कीर्त्तिलांशाननुचरिष्यति ।

यस्त्रं कृच्छ्रगतं रामं प्रन्यायितुमिच्छामि ॥ १३ ॥

निरचय ही आपकी यह कीर्त्ति मदा इम लोर में बनी रहेगी । क्योंकि आप कष्ट पाते हुए धीराम को लौटा लाना चाहते हैं ॥ १३ ॥

एवं सम्भाषमाणस्य गुह्यस्य भरतं तदा ।

वमौ नष्टप्रभः सूर्यो रजनी चाम्यवर्तत ॥ १४ ॥

इम प्रकार गुह्य की भरत से बात चीत हो रही थी कि, इतने में सूर्य का प्रनाश मन्द पड गया ( अर्थात् सूर्य अस्त हो गए ) और रात हो गई ॥ १४ ॥

मन्निवेश्य स तां सेनां गुहेन परितोपितः ।

शत्रुघ्नेन सह श्रीमाञ्छयनं पुनरागमत् ॥ १५ ॥

गुह्य की बातचीत और स्फूर्तिरदारी से मन्तुष्ट हो भरत जी, अपनी सेना को टिका कर, शत्रुघ्न सहित पुनः लेटने को चले गए ॥ १५ ॥

[ टिप्पणी—“शयन पुनरागमत्” से जान पड़ता है कि, गुह्य से भेट करने के पूर्व भी भरत जी लेटे हुए आराम कर रहे थे । ]

रामचिन्तामयः शोको भगतस्य महात्मनः<sup>१</sup> ।

उपस्थितो ह्यनर्हस्यः<sup>२</sup> धर्मप्रेक्षस्य<sup>३</sup> तादृशः<sup>४</sup> ॥ १६ ॥

परन्तु दुःखी न होने के योग्य उन भरत जी को भी, जो बड़े धैर्यवान थे तथा शोकमूलक पाप ( अर्थात् ऐसा बुरा काम जिनके करने पर शोक हो ) से शून्य थे, राम के चिन्तारूपी अर्थात् दुःमह शोकानि घेर लिआ ॥ १६ ॥

अन्तर्दहिन दहनः सन्तापयति राघवम् ।

वनदाहाभिमन्तप्तं<sup>५</sup> गूढोऽग्निरिव<sup>६</sup> पादपम् ॥ १७ ॥

१ महात्मनः—महाधीरस्वापि । ( गो० ) २अनर्हस्य—नशोक-योग्यस्य । ( शि० ) ३ धर्मप्रेक्षस्य—शोकमूलपापशून्यस्य । ( गो० ) ४ तादृशः—अतिदुस्सहः । ( शि० ) ५ सन्तप्त—शुष्क । ( गो० ) ६ गूढोऽग्निरिव—नेटराग्निरिव । ( गो० )

और वह शोररूपी आग भरत जी को भीतर ही भीतर उमा प्रकार दग्ध करने लगी, जिस प्रकार सूर्ये पेटों को उनके खोडर का वनाग्नि दग्ध करता है ॥ १७ ॥

प्रसृतः सर्वागात्रेभ्यः स्वेदं गोकृग्निसम्भयम् ।

यथा सूर्याशुमन्तप्री हिमगान् प्रसृतो हिमम् ॥ १८ ॥

शोकाग्नि से उत्पन्न पसाना, भरत जी न मारे शरीर स उसी प्रकार निकलने लगा, जिस प्रकार सूर्य की गर्मा से पिघल कर हिमालय से वर्षा गिरता है ॥ १८ ॥

[ आदि कवि ने भरत के शोक की उपमा पद्यत स दी है—व कहते हैं ]

ध्याननिर्दरशेलेन विनिःश्वसितधातुना ।

दैन्यपादपसङ्गेन शोकायासाधिभृङ्गिणा ॥ १९ ॥

भरत व शोक रूपी पद्यत की, श्रीरामचन्द्र जी का उत्सुकता पूर्वक ध्यान हो मानों छिद्ररहित शिलाएँ हैं, बारम्बार लिये हुए दीर्घ श्वास मानों गेरू आदि की धाराएँ हैं, दीनता मानों पेटों का समूह है और शोक से उत्पन्न हुई मन की थकावट, मानों उस पर्वत न शृङ्ग ( चोटिया ) हैं ॥ १९ ॥

प्रमोहानन्तसत्त्वेन सन्तापौषधिरेषुना ।

आक्रान्तो दुःखशेलेन महता कैरुथीसुतः ॥ २० ॥

और अत्यन्त माह ही मानों अनेक घनेले जीव जन्तु हैं तथा मन्ताप उस पर्वत की औषधियाँ तथा घाँस हैं । ऐसे दुःखरूपी पर्वत के नीचे कैरुथीमन्दन भरत दय गए ॥ २० ॥

१ शोकायासाधि—शोकनाशितप्रान्तय । ( २० ) २ अनन्त सत्त्वानि—वन्यप्राणिना यस्मिन्शेलेन । ( २० )

विनिःश्वसन्त्रै भृशदुर्मनास्ततः

प्रमूढसंज्ञः परमापदं गतः ।

शमं न लेभे हृदयज्वरादितो

नरर्षभो यूथगतो यद्यर्षभः ॥ २१ ॥

इस प्रकार भरत जी के ऊपर बड़ी भारी विपत्ति आई है। वे ऊँची साँसें लेने लगे और बहुत उद्विग्न हो गए। उनको अपने शरीर की सुध न रही। वे मानसिक शोकज्वर से अत्यन्त पीड़ित थे। वे, अपनी हेड़ से बिट्टुड़े हुए बेल की तरह, किमी प्रकार भी शान्ति न पा सके ॥ २१ ॥

१ गुहेन सार्धं भरतः समागतो

महानुभावः सजनः२ समाहितः३ ।

सुदुर्मनास्तं भरतं तदा पुनः

गुहः समाश्वासयदग्रजं प्रति ॥ २२ ॥

दतिः४पञ्चाशीनितमः सर्गः ॥

गुह से आलगन किए हुए भरत को, जो श्रीरामचन्द्र जी के वनगमन के कारण बहुत उदास थे, अपने भाईबंदों महित एकाप्रचित्त हो, गुह ने पुनः धीरे धीरे ममकाया ॥ २२ ॥

अयोध्याकाण्ड का पचासीवा सर्ग समाप्त हुआ ।

—:•:—

१ गुहेनसार्धं समागत — गुहेनआलिङ्गितोनाभरतः । ( रि० )  
 सजनः — सरस्वतः । ( गो० ) २ समाहित. — एकाप्रचित्त. । ( गो० )

## षडशीतितमः सर्गः

—१०—

आचक्षुःस्थ सद्भावं लक्ष्मणस्य महात्मनः ।

भरतायाप्रमेयाय गुहो गहनगोचरः ॥ १ ॥

अनन्तर दुर्गम वन में रहने वाले गुह, अमित गुणशाली भरत जी से, श्रीरामचन्द्र जी के प्रति महात्मा लक्ष्मण जी का जो सद्भाव ( प्रीति ) था वह कहने लगे ॥ १ ॥

तं जाग्रतं गुणैर्युक्तं वरचापेपुधारिणम् ।

भ्रातृगुप्त्यर्थमत्यन्तमहं लक्ष्मणमब्रवम् ॥ २ ॥

हे प्रभो !, जब भाई की रगवाली के लिए तीर और कमान लेकर, भ्रातृभक्त लक्ष्मण जाग कर पहरा दे रहे थे, तब मैंने उनसे कहा था ॥ २ ॥

इयं तावत् सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता ।

प्रत्यारवसिहि शेष्वास्यां सुरां गघवनन्दन ॥ ३ ॥

हे तावत् ! आपके सोने के लिए यह सुख की देने वाली सेज तैयार है, हे राघवनन्दन ! आप सुरा से हम पर सोइए ॥ ३ ॥

उचितोऽयं जनः सर्वो दुःखानां त्वं सुखोचितः ।

धर्मात्मंस्तस्य गुप्त्यर्थं जागरिष्यामहे वयम् ॥ ४ ॥

आप तो सुख पाने के योग्य हैं । दुःख तो महान योग्य हम लोग हैं । सो हम लोग श्रीरामचन्द्र की रगवाली के लिए जागते रहेंगे ॥ ४ ॥

१ गुणैः—भ्रातृभक्त्यादिगुणैः । ( गो० )

न हि रामात्प्रियतगे ममास्ति भुवि कश्चन ।

मोत्सुकोऽभूर्त्रयीभ्येतदप्यसत्यं तवाग्रतः ॥ ५ ॥

( यह मत समझना कि, हमारा ग्यवाली करने में असाध्यानी करेंगे, क्योंकि ) इस संसार में श्रीरामचन्द्र जी से बढ़ कर प्रिय मेरे लिए और दूसरा कोई नहीं है । मैं आपके सामने यह बात सत्य ही कहता हूँ । आप श्रीरामचन्द्र का ग्यवाली के लिए जरासी भी किसी बात की चिन्ता न करें ॥ ५ ॥

अस्य प्रसादादाशंसै लोकेऽस्मिन् सुमहद्यशः ।

धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थावाप्तिं च केवलाम् ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र ही की कृपा से मैं इस लोक में बड़े यश की और विपुल धर्म तथा धन पाने की आशा करता हूँ ॥ ६ ॥

मोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया ।

रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वैः स्वैर्जातिभिः सह ॥७॥

अतः हे लक्ष्मण ! मैं धनुष लेकर अपने प्रिय मत्ता श्रीरामचन्द्र जी की, जो मीठा सहित सो रहे हैं, अपनी विरादरी के साथ रक्षा करूँगा ॥ ७ ॥

न हि मेऽविदितं किञ्चिद्वनेऽस्मिन् शरतः सदा ।

चतुरङ्गं ह्यपि बलं प्रमहेम वयं युधि ॥ ८ ॥

इन प्रान्त का रत्ती रत्ती हाल मुझे मालूम है । क्योंकि मैं यहाँ के वन में सदा घूमा फिरा ही करता हूँ । कदाचित् श्रीराम के

उपर आत्मण करने को चतुरङ्गिणी सेना भी आ जाय, तो भी मैं युद्ध में एक बार उसे रोक नसता ॥ ८ ॥

एवमस्माद्विरुक्तेन लक्ष्मणेन महात्मना ।

अनुनीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपरयता ॥ ९ ॥

हे प्रभो ! मेरी ये बातें सुन, हम म निष्ठा रखत हुए महात्मा लक्ष्मण जी, हम सब से यह निश्चयाने लगे ॥ ९ ॥

कथं दाशरथी भूर्मा गयाने सह मीतया ।

शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा ॥ १० ॥

जब दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी, मीताजी सहित पृथिवी पर पड़े मो रहे हैं, तब मैं किस तरह इन सुखसेज पर मो सकता हूँ । मैं प्राणों को कैसे रख सकता हूँ (और प्राणों को सुख देने) वाले सुगों को कैसे भोग सकता हूँ ? ॥ १० ॥

यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रमहितुं पृथि ।

तं पश्य गुह मंत्रिषु तृणेषु मह मीतया ॥ ११ ॥

देवो न तिन श्रीरामचन्द्र के मामने युद्ध में क्या देवता और क्या असुर कोई भी नहीं ठहर सधन, ये ही श्रीराम, मीता महित घामभ्रम के गिम्तरे पर पड़े हैं ॥ ११ ॥

महता तपसा लब्धो विविधैश्च परिश्रमैः ।

एको दशरथस्यैव पुत्रः मद्यलक्ष्मणः ॥ १२ ॥

बड़ी तपस्या करने के बाद और विविध प्रयत्न करके महाराज दशरथ ने अपने जैसे लक्ष्मणों वाला यह एकमात्र पुत्र पाया है ॥ १२ ॥



अस्मिन् प्रवाजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति ।

विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ १३ ॥

अतएव मैं यह सफ़ता हूँ कि, इनको वन में भेज, महाराज बहुत दिनों जीवित न रह सकेगे और निश्चय ही यह पृथिवी शीघ्र विधवा हो जायगी ॥ १३ ॥

विनय सुमहानादं श्रमैणोपरताः स्त्रियः ।

निर्घोषोपरतं नूनमद्य राज निवेशनम् ॥ १४ ॥

स्त्रियों उच्चस्वर से रोते रोते थक कर अब चुप हो गई होंगी और अब राजभवन में मन्नाटा छाया होगा ॥ १४ ॥

कौमल्या चैव राजा च तथैव जननी मम ।

नाशंसे यदि जीवेयुः सर्वे ते शर्वरीमिमाम् ॥ १५ ॥

मुझे आशा नहीं कि, महाराज, कौसल्या और मेरी माता आज की रात में जीती बच जाँय ॥ १५ ॥

जीवेदपि च मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया ।

दुःखिता या तु कौसल्या वीरसृष्टिनशिष्यति ॥ १६ ॥

सम्भव है शत्रुघ्न के आने की प्रतीक्षा करती हुई मेरी माता जीती रहे, परन्तु वीरप्रसविनी माता कौसल्या का इस दुःख से जीवित रहना असम्भव है ॥ १६ ॥

अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम् ।

राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥ १७ ॥

महाराज पिता जी का क्लिने ही दिनों से मनाग्य था कि, श्रीरामचन्द्र का राज्य सिंहासन पर बैठाये, किन्तु अब उनका यह मनोरथ उनके मन ही में चना नायगा ॥ १७ ॥

विद्वार्याः पितरं वृत्तं तस्मिन् काले व्युपस्थिते ।

प्रेतकार्येषु मर्येषु सम्कल्प्यन्ति भूमिपम् ॥ १८ ॥

जब मेरे पिता जी पागलपान देंगे, तब जो इनक शय को दूर करेगे, वे अपना जन्म मफल करेगे ॥ १ ॥

रम्यचत्वरमंस्थानां सुविभक्तमहापथाम् ।

हर्म्यप्रामादमम्पन्नां मर्यरत्नभिभूषिताम् १९ ॥

जिम पुरी के चतुरे और बैठके गडे सुन्दर बन हैं, जिममे मनोहर राजमार्ग है और जिममे अच्छे अच्छे ऊँचे महान सुशोभित हैं और जो मरप्रकार क रत्ना से भूषित है ॥ १९ ॥

गजाश्वगन्धमग्नावां तूर्यनादपिनादिताम् ।

सरीकन्याणामम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुनाम् ॥ २० ॥

जो हाथियों, घोड़ों और रथों से परिपूर्ण है, जिममे विविध भानि के तुरही भेरा आदि बाजे बजा करते हैं और जिममें सब प्रकार का सुग है और जो हृष्टपुष्ट जनो में भरी पूरी है ॥ २० ॥

आगमोद्यानमम्पर्वां ममाजोत्सवशानिनीम् ।

मुखिता विनगिप्यन्ति गजधानीं पितुर्मम ॥ २१ ॥

जो बाटिमार्गों और उपवनो से भूषित है, ममार्य और उत्सव जहाँ मदा होते हैं रहते हैं—देमी मेरे पिता की राज गानो में, जो लोग सुनी हो कर विचरेंगे, वे ही लोग धन्य हैं ॥ २१ ॥

अपि सत्यप्रतिज्ञेन नाधं कुशलिना वयम् ।

निवृत्ते समये ह्यस्मिन् सुखिताः प्रविशेमहि ॥ २२ ॥

हे गुरु ! चौदहवर्ष वीतने पर इस व्रत को पालन कर, क्या हम लोग भी सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्र के नाथ कुशलपूर्वक अयोध्यापुरी में सुगम से प्रवेश कर सकेंगे ? ॥ २२ ॥

परिदेवयमानस्य तस्यैवं सुमहात्मनः ।

तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत ॥ २३ ॥

गुरु ने कहा—हे भरत ! राजकुमार महात्मा लक्ष्मण तीर कमान हाथ में लें रात भर गूटे गूडे पहरा देते रहे। अतः इस प्रकार विलाप करते ही करते और गूडे ही सड़े सवेरा हो गया ॥ २३ ॥

प्रभाते विमले सूर्ये कारयित्वा जटा उभौ ।

अस्मिन् भागीरथीतीरे सुखं सन्तारितौ मया ॥ २४ ॥

प्रातःकाल सूर्य के उदय होते पर दोनों भाइयों ने, इन्हीं भागीरथी के तट पर, जटा बनाई। तब मैंने बड़े आराम से उनको पार उतारा ॥ २४ ॥

जटाधरौ तौ द्रुमचीरवाससौ

महाबलौ कुञ्जरयूधपोपमौ ।

वरेपुचापासिधरौ परन्तपौ

व्यवेत्तमाणौ सह सीतया गतौ ॥ २५ ॥

इति एकाशीतितमः सर्गः

महाबली, तीर की ओर शत्रुओं के दमन करने वाले वे दोनों भाई, सीता को नाथ ले और मन्तर पर जटा बनाए, वृत्त के

द्विलकों के बखर पहिने हुए, तरफस और धनुष धारण किए हुए तथा मेरी ओर देगते हुए गजराज की तरह चले गए ॥ २५ ॥

अयोध्यानाण्ड का द्वियामीचा मर्ग पूरा हुआ ।

— \* —

## सप्ताशीतितमः सर्गः

— - —

गुहस्य वचन श्रुत्वा भरतो भृशमप्रियम् ।

ध्यान जगाम तत्रैव यत्र तच्छ्रुतमप्रियम् ॥ १ ॥

भरत जी ने ज्योंही गुह के मेमे हुए प्रद वचन सुने, त्योंही वे श्रीरामचन्द्र जी का ध्यान करने लगे ॥ १ ॥

सुकुमारो महामत्तवः मिहस्कन्धो महाभुजः ।

पुण्डरीकपिशालाक्षस्तरणः प्रियदर्शनः ॥ २ ॥

तदनन्तर सुकुमार, बडी भुजाओं वाले, केहरी के समान कंधे वाले, महापर्यवान्, कमलनयन, तमगा और मनोहर दर्शन वाले ॥ २ ॥

प्रत्याशनस्य मुहूर्तं तु कालं परमदुर्मनाः ।

पपात सहस्रा तोत्रैर्क्षितिभिद् इव द्विपः ॥ ३ ॥

भरत जी, जब दो घड़ी बाद मचेत हुए, तब बहुत उदाम हो, हृदय मे अकुश ग्राण हाथी की तरह, अचानक मूर्छित हो, प्रथिवी पर गिर पड़े ॥ ३ ॥

१ यत्रतत्रैव—यत्रतत्रैवप्रिय भुत तत्रैवेत्यर्थ । (गो०) २ तोत्रै—  
अक्षरौ । (ग०) ३ द्विपि—हृदयदेशे (रा०)

तदवस्थं तु भरतं शत्रुघ्नोऽ१ नन्तरस्थितः ।

परिष्वज्य स्नातोच्चैर्विमत्रः शोककण्ठितः ॥ ४ ॥

भरत जी की पत्नी दशा देव, निरन्तर भरत जी के पान रहने वाले शत्रुघ्न जी अत्यन्त दुःखित एवं मज्जाहीन हो, भरत जी के शरीर न निपट कर, उन्चम्बर में विलाप करते हुए राने लगे ॥ ४ ॥

ततः सर्वाः समापेतुर्मातरो भगवस्य ताः ।

उपवामकृशा दीना भर्तुर्जामिनकण्ठिताः ॥ ५ ॥

तब भरत जी का मर माताएँ, जो उपवाम करने के कारण शरीर से कृश और पति की मृत्यु होने से शोकातुर हो रही थीं, (भरत जी को मूर्छित हुआ सुन) उनके पान दौड़ी हुईं गयीं ॥ ५ ॥

ताश्च तं पतितं भूमौ रुदन्त्यः पर्यवारयन् ।

कौमल्या त्वनुमृत्येनं दुर्मेनाः परिपस्वजे ॥ ६ ॥

और भरत जी को भूमि पर (मूर्छित) पड़ा देव, वे उनको चारों ओर से घेर कर, गद्दी हो गईं । कौमल्या ने भरत जी के निकट जा और अधिक पिक्कल हो, भरत जी को टछा कर अपने हृदय से लगा लिया ॥ ६ ॥

वत्सला स्वं यथा वत्समुपगृह्य तपस्विनी ।

परिपप्रच्छ भगवं रुदन्ती शोककण्ठिता ॥ ७ ॥

१—अनन्तरस्थित —निरन्तर समानेस्थितः । (रा०) २ अनुमृत्यु—  
समर प्राप्य । ( गो० ) ३ उपगृह्य—परिष्वज्य । ( ने० )

तदनन्तर पुत्रयस्मला एव तपस्विनी मौसल्या, अपने निज गर्भजात पुत्र के समान, भरत जा को अपने हृदय से लगा, शोकाकुन हो, रो रो कर पूछने लगी ॥ ७ ॥

पुत्रं व्याधिर्न ते कश्चिच्छरीरं परिवाधते ।

अथ राजकुलस्यास्य त्वदधीनं हि जीवितम् ॥ ८ ॥

बेटा ! क्या तुम्हारे शरीर में कोई बीमारा चूठ पड़ी हुई है ? देखो, अब इस राजकुल का जीना भरना तुम्हारे ही ऊपर निर्भर है ॥ ८ ॥

त्वां दृष्ट्वा पुत्रं जीयामि रामे सभ्रातृके गते ।

वृत्ते दशरथे रात्रिं नाथ एकस्त्वमथ नः ॥ ९ ॥

हे वत्स ! लक्ष्मण जी को साथ ले राम तो वन में चला ही गया, अब तो मैं तेरा ही सुख दुःख कर जी रही हूँ । अब महा राज दशरथ के रात, एक तू ही हम लोगों का रक्षक है ॥ ९ ॥

कश्चिन्न लक्ष्मणे पुत्रं श्रुतं ते किञ्चिदप्रियम् ।

पुत्रे वा ह्यकपुत्रायाः महभार्ये वनं गते ॥ १० ॥

हे बेटा ! लक्ष्मण जी के बारे में तो तुमने कोई अप्रिय समाचार नहीं सुना ? यद्यपि मेरा एकमात्र पुत्र, जो श्री माहित वन में गया है, उसके अप्रिय में तो कोई अमङ्गल समाचार नहीं सुना ? ॥ १० ॥

संभृतात्समावस्यच्छ रुदन्नेन महायशाः ।

कौसल्यां परिसान्त्वयेदं गृहं वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥

महायशास्वी भरत जी को घड़ी रात में चेत हुए । तब उन्होंने रुदन करती हुई कौसल्या को धीरज बधाया और गृह से कहने लगे ॥ ११ ॥

● गाथा-परे—'संभृतं समावस्य' ।

आता मे कावसद्रात्रौ क सीता क च लक्ष्मणः ।

अस्वपच्छयने कस्मिन् क भुक्त्वा गुह शंस मे ॥ १२ ॥

हे गुह ! मेरे भाई श्रीराम ने रात कहाँ बिताई थी, उन्होंने भोजन क्या किया था और किस बिछौने पर वे सोए थे; सीता और लक्ष्मण कहाँ रहे थे ? तुम ये सर्व वृत्तान्त मुझसे कहो ॥ १२ ॥

सोऽब्रवीद्धरतं हृष्टो<sup>१</sup> निपादाधिपतिर्गुहः ।

यद्विधं<sup>२</sup> प्रतिपेदे<sup>३</sup> च रामे प्रियहितेऽतिथौ<sup>४</sup> ॥ १३ ॥

निपादराज गुह ने, प्रसन्न हो, ( प्रमन्न इसलिए कि उसे श्रीराम जी के गुणगान करने का अवसर प्राप्त हुआ ) श्रीराम जैसे प्रिय और हितैषी अतिथि का जैसा सन्धार किया था—सो कहा ॥ १३ ॥

अन्नमुच्चावचं<sup>५</sup> भवाः फलानि विविधानि च ।

रामायाम्यवहारार्थं बहु चोपहृतं मया ॥ १४ ॥

हे भरत ! मैंने तरह तरह के अन्न, भक्ष्य और बहुत से फल मूल ला कर भोजन करने के लिए श्रीराम के आगे रखे थे ॥ १४ ॥

तत्सर्वं<sup>६</sup> प्रत्यनुज्ञासीद्रामः सत्यपराक्रमः ।

न तु तत्प्रत्यगृह्णात्स क्षत्रधर्म<sup>६</sup>मनुस्मरन् ॥ १५ ॥

१ गुहः हृष्टः—रामवृत्तान्तकीर्तनस्यावकाशोलब्धइतिसन्भावदर्पःसन् । ( गो० ) २ रामे यद्विधं—यादृशमुपचारदिकं । ( गो० ) ३ प्रतिपेदे—अकरोदिति । ( गो० ) ४ उच्चावचं—अनेकविध । ( शि० ) ५ प्रत्यनुज्ञासीत्—भदनुग्रहार्थंकेवलमङ्गीकृत्यपुनर्मन्त्रमेवदत्तवान् । ( रा० ) ६ क्षत्रधर्मं—मागीरभीतीर तपयो भर्गः अन्यदीयवस्तुग्रहणान्निवृत्तिर्त्तं । ( शी० )

किन्तु सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र ने मुझ पर अनुग्रह करने के लिए मद्य चीजें वचन मात्र से ग्रहण की और मुझे क्षत्रिय धर्म का स्मरण करा कर ( कि गङ्गा के तट पर क्षत्रियों को किमी की दी हुई वस्तु ग्रहण करना अनुचित है ) वे सब वस्तुएँ मुझी को लौटा दी ॥ १५ ॥

[ टिप्पणी—किसी किसी टीकाकार का मत है कि, श्रीरामचन्द्र के उपवास करने का कारण तीर्थविधि का पालन था—अर्थात् तीर्थ में जा कर प्रथम दिन उपवास करना चाहिए । इसी लिए उन्होने गुह की भेंट ग्रहण नहीं की थी । किन्तु आगे के श्लोक से यह अनुमान समर्थन नहीं होता । ]

न ह्यस्माभिः प्रतिग्राह्यं सखे देयं तु सर्वदा ।

इति तेन वयं राजन्नः नुनीता महात्मना ॥ १६ ॥

हे राजन ! और महात्मा श्रीराम ने मुझसे कहा—हे सखे ! हम क्षत्रिय हैं, हमारा धर्म है कि, सदा सब को मद्य कुछ दिया तो करें, किन्तु लें कुछ भी नहीं ॥ १६ ॥

लक्ष्मणेन समीनीतं पीत्वा वारि महामनाः ॥

श्रौपयास्यं तदाऽकार्षीद्राघवः सह मीतया ॥ १७ ॥

महामना श्रीराम, लक्ष्मण जी का लाया हुआ जल, सीता सहित पी कर, उम रात उपवास करके रह गए ॥ १७ ॥

ततस्तु जलशेषण लक्ष्मणोऽप्यकरोत्तदा ।

खाग्यतास्ते त्रयः सन्ध्यां ३ समुपासत संहिताः ४ ॥ १८ ॥

१ अनुनीता—ऽत्युक्ता । ( शि० ) २ वाग्यतः—नियतवाचः । ( गो० ) ३ सीतापात्रापिसन्ध्यावाष्यानञ्जपादिकमस्त्येव । ( गो० ) ४ संहिताः—समाहिताः । ( गो० ) ० पाठान्तरे—“महाययः” ।



तदनन्तर लक्ष्मण जी ने भी, जो जल बच रहा था, सो पी लिया, तदनन्तर तीनों ने भीन और एकाग्रचित्त हो, मन्थ्याबन्दन किया ॥ १८ ॥

[ टिप्पणी—तानों ने मन्थ्यापासन किया। तान का मन्थ्या में क्या क्या ने ता आराम, लक्ष्मण और मुमत्र का गग्ना का है, और क्या ने आराम, लक्ष्मण और साता का। जिस प्रकार सूतजातीय होने के कारण मुमत्र का शास्त्र वैदिक मन्थ्यापासन करने का निषेध हो सकता है, उसी प्रकार स्वाज्ञाति का होने के कारण साता जो भा वैदिक मन्थ्यापासन करने का अधिकारिणा नहीं है। अतः जो समाधान मुमत्र के लिए है, वही जानका का न लिए भा। श्रीगोविन्दराज जी का मत है कि, साता ने जो मन्थ्यापासन किया उसमें केवल परमात्मा का ध्यान और उनके नाम का जप मात्र था। स्त्रियों तथा शूद्रों के लिए परमात्मा का ध्यान करने और उनका नाम जपने का निषेध नहीं है। यहाँ पर एक शङ्का और उठती है। वह यह कि, जलमान के बाद मन्थ्यापासन क्या! इसका समाधान भूषणदास में इस प्रकार किया गया है कि गुह ने भरत के इस प्रश्न के उत्तर में कि, आराम ने क्या खाया था? कहा, मेरा लाये हुए पलाटिक को लीय-लक्ष्मण के लिए हुए जल को पी कर, आराम रहे। यह प्रसङ्गानुसार प्रश्न का उत्तर है। इसमें यह न समझना चाहिए कि, जल पाने के अनन्तर आरामचन्द्र ने मन्थ्यापासन किया था। ]

सौमित्रिस्तु ततः पश्चाद्करोत्स्वास्तरं शुभम् ।

स्वयमानीयं यहाँपि क्षिप्रं राघवकारणात् ॥ १९ ॥

तदनन्तर महात्मा लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र के सोने के लिए तुरन्त कुशा ला कर बिछा दिए ॥ १९ ॥

तस्मिन् समाशिशद्रामः स्वास्तरे मह मीतया ।

प्रक्षान्य च तयोः पादापचक्राम लक्ष्मणः ॥ २० ॥

और जन उन पर श्रीरामचंद्र जी मीता सहित लटे, तब लक्ष्मण उन दोनों के पैर धा कर उहा स चले आण ॥ २० ॥

एतत्तदिट्गुदीमलमिदमेव च तत्तृणम्-।

यस्मिन् रामश्च मीता च रात्रि ता शयितानुभौ ॥ २१ ॥

हे रामकुमार देखो यही तो वह उगुना वा पड़ है और यही वह वृणशय्या है । इसी पर उम रात म श्रीराम और मीता—  
दोनों सोए थे ॥ २१ ॥

नियम्य पृष्ठे तु तलाङ्गुलिप्रवा-

शरः सुपर्णापिपुयी<sup>२</sup> परन्तपः ।

महद्वनुः मज्यमुणोद्य<sup>३</sup> लक्ष्मणो

निशामतिष्ठत्परितोऽस्य रेणुलम् ॥ २२ ॥

उम रात म शत्रुओं को नमन करन बाल लक्ष्मण, हीर म भरे दो तरकम बाध, हाथों म गोह के चमट के दम्तान पहिन और हाथ म रोदा उडा हुआ बडा वनुप ल, श्रीरामचन्द्र जा की रगवाली के लिप उनकी वृणशय्या ( स कुट्ट टूर हट ) नमके चारों ओर घूम घूम कर पहरा दत रह ॥ २२ ॥

ततस्त्वर्ह चोत्तमबाणचापशृन्

स्थितोऽभन तत्र म यत्र लक्ष्मणः ।

<sup>१</sup> नियम्य—बन्वा । ( ग० ) <sup>२</sup> इपुषा—नृणारदन । ( गा० )  
<sup>३</sup> उपोद्य—पृचा । ( गो० ) <sup>४</sup> अस्तपारतातन्—मया रक्षणार्थं  
प्रदक्षिणं चचारत्तर्थ । ( गो० )

अतन्द्रिभिर्जातिभिरात्तकार्मुकैः

सहेन्द्रकल्पं परिपालयंस्तदा ॥ २३ ॥

इति सप्ताशीतितमः सर्गः ॥

मैं भी एक वटिया धनुष हाथ में ले, अपनी बिरादरी के धनुषधारी लोगों के साथ, उन इन्द्रतुन्य धीरामचन्द्र जी की रसवाली करता हुआ लक्ष्मण जी के साथ यहाँ रात भर जागता रहा ॥ २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

— ० —

अष्टाशीतितमः सर्गः

—: \* —

तच्छ्रुत्वा निपुणं<sup>१</sup> सर्वं भरतः सह मन्त्रिभिः ।

इङ्गुदीमूलमागम्य रामशय्यामवेक्ष्य ताम् ॥ १ ॥

गुह के वचन सुन भरत जी मंत्रियों सहित, सावधानतापूर्वक इङ्गुदी वृक्ष के नीचे गए और धीरामचन्द्र जी की वृणशय्या को देखने लगे ॥ १ ॥

अब्रवीज्जननीः सर्वा इह तेन<sup>२</sup> महात्मना ।

शरीरी शयिता भूमाविदमस्य निमर्दितम् ॥ २ ॥

और अपनी माताओं से बोले कि, महात्मा राम ने उस रात, इसी वृणशय्या पर यहाँ शयन किया था । यह कुशा उन्हीं के शरीर से मर्दन किए हुए हैं ॥ २ ॥

१ निपुणं—सावधान । ( गो० ) २ तेन—रामेण । ( गो० )

महाभागकुलीनेन महाभागेन धीमता ।

जातो दशरथेनोर्व्यां न रामः स्वप्नुमर्हति ॥ ३ ॥

परम भाग्यवान्, कुलीन और बुद्धिशाली महाराज दशरथ से उत्पन्न हो, राम ने पृथिवी पर शयन किया मो यह अत्यन्त अनुचित हुआ है ॥ ३ ॥

१अजिनोत्तरसंस्तीर्णो वरास्तरणसंवृतः ।

शयित्वा पुरुषव्याघ्रः कथं शेते महीतले ॥ ४ ॥

जो राम, सदा ही राजाओं के सोने योग्य फेंके की छाल के बनें अति कोमल विद्यौने से युक्त सेजों पर सोते रहे हैं, वे भला, किस तरह भूमि पर सोए होंगे ? ॥ ४ ॥

प्रासादाग्रपिमानेषु बलभीषु च मर्दा ।

हैमराजतमोभेषु १वरास्तरणशालिषु ॥ ५ ॥

६पुष्पसञ्चयचित्रेषु चन्दनागरुगन्धिषु ।

पाण्डुराभ्रप्रकाशेषु शुकुमङ्कुरुतेषु च ॥ ६ ॥

प्रासादवरवर्येषु शीतमत्सु सुगन्धिषु ।

उपित्वा मेरुमन्थेषु कृतमञ्चनभित्तिषु ॥ ७ ॥

गीतवादिग्रनिर्घोषवराभरणनिःस्वनैः ।

मृदङ्गचरशब्दैश्च सततं प्रतिबोधितः ॥ ८ ॥

१ अजिन—शन्देन कल्प्याजिनं विवक्षित । (गो०)२ बलभीषु कृतागारेषु । (गो०)३ वरास्तरणशालिषु—विष्वक्कवलशालिषु । (गो०)

● पाठान्तरे—“सञ्चये ।”

जिम सातरखने राजभवन की चौगुरही की भूमि सोने और चांदी की बनी हुई है और जिस पर अच्छे अच्छे रंग बिरंगे उनी गलीचे विद्ये हुए हैं, जिन पर पुष्पों से चित्र-विविध रचनाएँ की जाती हैं और जो रात्रनगृह चन्दन और अंगर की सुगन्ध से सुवासित है, जो सफेद उजले पाटल की तरह दीख पड़ता है, जहाँ पर तोते मैनाआदि पक्षी दोरते हैं, जो रात्रभयनों में सय से श्रेष्ठ है, जहाँ पर आवरणकतानुसार ठडर पहुँचाई जा सकती है ( अर्थान् जय चाहो तब ऊनरे में डडक हो जाय ) अधवा जिसमें सदा शीतल और सुगन्धित पवन का सञ्चार हुआ करता है, जिसकी ऊँची दीवाले सोने चाँदी के काम से सजित होने के कारण नेम्पवंत जैसी जान पड़ती है—ये उन्न शयनागार में सोने वाले राम, जो मधुर गान और उन्न मृदङ्गादि वाजों के शब्दों में तथा सुन्दर स्त्रियों की पायलेत्र, नूपुर आदि गहनों के छुमछुम शब्दों से जगाए जाने थे ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

वन्दिभिर्वन्दितः कालेऽ बहुभिः सूतमागधैः ।

गाथाभिरनुरूपाभिः स्तुतिभिश्च परन्तपः ॥ ६ ॥

और जागने के बाद, प्रातःकाल शत्रुओं के दहन करने वाले राम, जिनकी अनेक सूत, मागध और वदीगर अनेक प्रकार की सुन्दर ( पूर्ब पुष्पों की ) गाथाओं और स्तुतियों से दटना करते थे ॥ ६ ॥

अथद्वैयमिदं लोके न मृत्यं प्रतिभाति मे ॥

मृहते खलु मे भावः स्वप्नोऽयमिति मे मतिः ॥ १० ॥

वे जमीन पर मोवें, और शृगाल एव वन्य जन्तुओं का भयङ्कर चीत्कार सुन जागे—इस बात पर मुझे न तो विस्वाम ही होता है और न यह मुझे सत्य ही जान पड़ती है। क्योंकि इसकी कल्पना मात्र से मुझे भ्रम होने लगता है और स्वप्न सा जान पड़ता है ॥ १० ॥

न नूनं दैवतं क्रिञ्चित्कालेन? बलपत्तरम् ।

यत्र दाशरथी रामो भूमादेव शयीत सः ॥ ११ ॥

निश्चय ही परमात्मा की इच्छा से बढ कर कोई देवता नहीं है। नहीं तो महाराज दशरथ के पुत्र हो कर भी, राम जमीन पर क्यों सोते ॥ ११ ॥

विदेहराजस्य सुता सीता च प्रियदर्शना ।

दयिता शयिता भूमौ स्नुषा दशरथस्य च ॥ १२ ॥

राजा जनक की बेटी और महाराज दशरथ की पतोह, जो अति सुन्दरी है और जिस पर महाराज दशरथ की बड़ा कृपा थी, हाथ। जमीन पर सोती है ॥ १२ ॥

इयं शय्या मम भ्रातुरिदं हि परिवर्तितम् ।

स्थण्डिले? कठिने सर्वं गात्रैर्विमृदितं वृषम् ॥ १३ ॥

हे माता! देखो मेरे भाई की यह सेज है! देखो, जैसे जैसे वन्दोनें करबटे बदली हैं, वैसे ही वैसे ढकी भूमि पर बिछे हुए वृष उनके शरीर से दब दब कर कुचल गए हैं ॥ १३ ॥

१ कालेन—कालान् परमात्मनश्चक्षा । ( १४० ) २ स्थण्डिले—भूतले । ( गा० )

मन्ये माभगणा मुग्धा सीतास्मिञ्शयनोत्तमे ।

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनकविन्दनः ॥ १४ ॥

मुझे लान पड़ता है, गहने पहिने हुए सीता सोई थी। इसीसे तो जहाँ तहाँ सोने के रोना (दाने) पड़े हुए बेर पड़ते हैं ॥ १४ ॥

उत्तरीयमिहासक्तं सुन्यक्तं सीतया तदा ।

तथा ह्येते प्रकाशन्ते सक्ताः कौशेयतन्त्रवः ॥ १५ ॥

हे माता ! जान पड़ता है, यहाँ पर सीता की ओढ़नी उलफ गई थी—क्योंकि यहाँ रेशम के धागे उलफे हुए हैं ॥ १५ ॥

मन्ये भर्तुः मुखा शय्या येन बाला तपस्विनी ।

सुकुमारी मती दुःखं न विजानाति मैथिली ॥ १६ ॥

पति की सेज (कैसी ही क्यों न हो अर्थात् चाहे वह कोमल हो चाहे कठोर) मियों के लिए सदा सुगदायिनी होती है देखो न ! इसीसे इस सुकुमारी तपस्विनी पतिव्रता बाला सीता को शय्य पर सोने से कुछ भी कष्ट न हुआ ॥ १६ ॥

हा हतोऽस्मि नृशंसोऽहं यत्सभार्यः कृते मम ।

इंद्दर्शी राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत् ॥ १७ ॥

हा ! मैं तो जीते जी ही मर गया। मैं बड़ा निर्दयी हूँ। मेरे ही पीछे तो राम को अपनी स्त्री के सहित, अनाथ की तरह, ऐसी शय्या पर सोना पड़ा ॥ १७ ॥

मार्गभौमकुले जातः सर्वलोकस्य सम्मतः ।

सर्वलोकप्रियम्यक्त्वा राज्यं मुखमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

मम्राट् के कुल में जन्म ले कर, मत्र को सुख देने वाले और  
सर्वप्रिय होकर भी वे उत्तम राज्यमुख्य से वञ्चित किए गए ॥१८॥

कथमिन्दीवग्रयामो गताः प्रियदर्शनः ।

सुखमार्गी न दुःखादः गयिता भृमि राघवः ॥१९॥

हा ! नील कमल के समान श्यामल शरीर वाले तथा रक्त-  
वर्ण नेत्र वाले, देगने में मनोहर, जिन्होंने मदा मुख ही भोगा  
है और जो अभी दुःख भोगने योग्य नहीं हैं—वे राम किस  
प्रकार जमीन पर सोए ॥ १९ ॥

धन्यः खलु महाभागो लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।

आतरं प्रियमे काने यो गममनुवर्तते ॥ २० ॥

इस समय तो शुभ लक्षणों वाले लक्ष्मण जी ही धन्य हैं  
और उन्हीं को बड़भागो ममभना, चाटिए कि, जो ठेके घुरे समय  
में भी अपने भाई राम का साथ दे रहे हैं ॥ २० ॥

मिद्वार्था खलु वदही पनि याऽनुगता वनम् ।

वयं मगयिताः१ सर्वे हानास्तेन महात्मना ॥ २१ ॥

और वेदेही जानही का भी जन्म मफल है, जो अपने पति  
के साथ वन में गईं । हम लोग राम से केवल रहित ही नहीं  
हैं, किन्तु हमें इस बात का भा सन्देह है कि, राम हम लोगों  
की सेवा अङ्ग धीर करें या न करें ॥ २१ ॥

अरुणधारा पृथिवी शून्येन प्रतिभाति माम् ॐ ।

गते दशरथे स्वर्गं गमे चाण्डालमाश्रिते ॥ २२ ॥

१ कथयिता — इत्यनेनैवाणमनेति करिष्यति नवेति कथयिता । (गो०)

● पाठान्तरे — "मा"



महाराज इशरथ के स्वर्गवामी होने से तथा श्रीरामचन्द्र जी के वनवामी होने से, बिना माँझी की नाव की तरह, यह पृथिवी, मझे भनी दिग्गलाई पड़ती है ॥ २० ॥

न च प्रार्थयते कश्चिन् मनसाऽपि वसुन्धराम् ।

वनैऽपि वसतस्तस्य बाहुवीर्याभिरक्षिताम् ॥ २३ ॥

राम वनवाम कर रहे हैं तो क्या हुआ, यह पृथिवी ग्न्ही के भुजबल से रक्षित होने के कारण, दूसरा इसे लेने की, अपने मन में कल्पना भी नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

शून्यसंरक्षणरक्षामपतन्त्रितहयद्विपाम् ।

अपाहतपुरद्वारां राजधानीमरक्षिताम् ॥ २४ ॥

यद्यपि इस समय अयोध्या की पहारदीवारी की रक्षा जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं हो रही, हाथी घोड़े भी जहाँ तहाँ छुटे हुए घूम रहे हैं, उन्हें पकड़ कर कोई बाँधने वाला नहीं है। पुर के फाटक भी खुले पड़े हैं अतएव राजधानी अरक्षित है ॥ २४ ॥

१अप्रहृष्टमलां न्यूनां २ विपमस्यामनावृताम् ।

शत्रो नाभिमन्यन्ते भवान् विपकृतानिव ॥ २५ ॥

क्योंकि यहाँ की सेना उदास है, उसे पुरी की रक्षा करने की मुवि नहीं है। अतः अयोध्यापुरी इस समय साधनहीन है दुर्दशापन्न है और बाहिर से भी उसकी रक्षा का कोई साधन नहीं है।

१ अप्रहृष्टमलवत्वमरक्षितत्वेहेतुः।(गो०) २ न्यूनां—साधनविहीना।

(गो०) ३ विपमस्यां—दुर्दशापन्ना । (गो०) ४ अनावृता—बाह्यरक्षरहिता । (गो०)

तथापि शत्रु लोग, राम के प्रताप के कारण, उनकी ओर देखते हुए जैसे ही डरते हैं, जैसे कोई विप्रेक्षे भोजन को देखकर डरता है ॥ २५ ॥

अद्यप्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तणेऽपु ग ।

फलमूलाशनो नित्यं चटाचीराणि धारयन् ॥ २६ ॥

आज से भी मैं गाली जमीन पर अथवा चटाई पर ही सोऊँगा और नित्य फल मूल ही खाऊँगा और चटा और घीर धारण करूँगा ॥ २६ ॥

तस्यार्थमुत्तरं कालं निरत्स्यामि सुरं वने ।

ते प्रतिश्रममामुन्यं नास्य मिथ्या भविष्यति ॥२७॥

राम को वन से लौटा कर उनके बदले मैं वन में चूमूँगा— क्योंकि वनवाम का तो श्रमि अभी शेष है, उसे मैं पूरी करूँगा जिससे बड़ भाई की चौदह वर्ष वनवाम करने की प्रतिज्ञा मिथ्या न होने पावे ॥ २७ ॥

वसन्तं श्रातुरर्थाय शत्रुघ्नो मानुःश्वत्स्यति ।

लक्ष्मणेन सह त्वार्यां क्षयोध्यां पालयिष्यति ॥२८॥

भाई के बदले वन में वास करने पर शत्रुघ्न भी मेरे साथ वन में रहेंगे और लक्ष्मण के सहित राम अयोध्या में जा राज्यशासन करेंगे ॥ २८ ॥

अभिपेक्षयन्ति काष्ठत्स्थमयोध्यायां द्विजातयः ।

— अपि मे देवताः कुर्युरिमं सत्यं मनोरथम् ॥२९॥

ब्राह्मण लोग अयोध्या में राम का राज्याभिषेक करेंगे ।  
देवताओं से मैं तो यही प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरा मनोरथ  
पूरा करें ॥ २६ ॥

प्रसाधमानः शिरसा मया स्वयंः

बहुप्रकारं यदि नाभिपत्स्यते १ ।

-ततोऽनुवत्स्यामि किराय राघवं

वने व्रमन्नार्हति मामुपेक्षितुम् ॥ ३० ॥

इति अष्टाशीतितमः सर्गः ॥

घरणों में सीस रखने तथा अनेक प्रकार से मेरे स्वयं मनाने  
पर भी, यदि राम मेरी बात अगीकार न करेंगे ( और पिता की  
आज्ञा का स्वयं पालन ही करेंगे ) तो मैं भी चिरकाल तक राम  
का सेवक बन उनके साथ वन में वास करूँगा । पर मुझे  
विरवास है कि राम भक्तवत्सल हैं, अतः वे अपने दास की  
उपेक्षा कभी न करेंगे ॥ ३० ॥

अयोध्याकाण्ड का अष्टाशीतौ सर्ग समाप्त हुआ ॥

—:०:—

१ स्वयंनतुमत्रिमुखेन । (ग०) २ नाभिपत्स्यते—नाङ्गीकरिष्यति ।  
(गो०) ३ अनुवत्स्यामि—तदनुचरो भवामि । (गो०)

## एकोनवतितमः सर्गः

१व्युप्य रात्रिं२ तु तत्रै३ गङ्गाकृले म गधरः ।

भरतः ४काल्यमुन्धाय शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

रघुकुलो पत्र भरत जी ने उमी स्थान पर जहाँ श्रीरामचन्द्र जी सोए थे, रात्रि व्यतीत की और जय मधेरा हुआ, उठ कर शत्रुघ्न से कहा ॥ १ ॥

शत्रुघ्नोत्तिष्ठ कि शैवे निपादाधिपतिं गुहम् ।

गीघ्रमानय भद्रं ते तागयिष्यति वाहिनीम् ॥ २ ॥

शत्रुघ्न उठो ! मधेरा हो चुका । अब क्यों पड़े सो रहे हो । तुम्हारा कल्याण हो । तुम जाकर तुरन्त निपादागज गुह को यहाँ बुला लाओ, जिससे वह हमारी सेना को पार उतारे ॥ २ ॥

जागमि नाहं स्वपिमि तमेवार्थं विचिन्तयन् ।

इत्येवमब्रवीद्भ्रात्रा शत्रुघ्नोऽपि प्रचोदितः ॥ ३ ॥

यह सुन शत्रुघ्न ने भी कहा—हे भ्राता ! मैं सो नहीं रहा— जाग रहा हूँ और जिस प्रकार आप राम का चिन्तन करते हैं, वैसे ही मैं भी वही का चिन्तन कर रहा हूँ ॥३॥

इति संवटतोरेणमन्योन्यं नरसिंहयोः ।

आगम्य प्राञ्जलिः कालं गुहो भरतमब्रवीत् ॥ ४ ॥

१ व्युप्य—उपित्वा । ( गो० ) रात्रिं—रात्री । (गो०) २ तत्रैव यत्ररामोऽवसिष्टतत्रैव । ( गो० ) ४ काल्य—प्रत्यूष. (गो०)

इस प्रकार दोनों पुष्पसिंह घातचीत कर रहे थे कि इतने में निपादराज गुह, ठीक समय पर पहुँच और हाथ जोड़ कर भरत जी से बोला ॥ ४ ॥

कच्चित्सुखं नदीतीरेऽशात्सीः काकुत्स्थ शर्वरीम् ।

कच्चित्ते महमैन्यस्य तावत्सर्वमनामयम् ॥ ५ ॥

हे काकुत्स्थ ! आप नदी के तट पर रात को सुखपूर्वक तो रहे। आपको या आपकी सेना में से किसी को किसी प्रकार का क्लेश तो नहीं हुआ ॥५॥

गुहस्य वचनं श्रुत्वा तत्तु स्नेहादुदीरितम् ।

शरामस्थानुशो वाक्यं भरतोऽपीदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

गुह के ऐसे स्नेह-सने वचन सुन, भरत जी ने भी श्रीराम के भक्त गुह से यह कहा ॥ ६ ॥

सुखा नः शर्वरी राजन्पूजिताश्चापि ते वयम् ।

गङ्गा तु नौभिर्बह्वीभिर्दाशाः१ सन्तारयन्तु नः ॥ ७ ॥

हे राजन् ! यह रात हम सब की सुख से बीती और तुमने हमारा भली भौति आदर सत्कार किया। अब तुम अपने मल्लाहों को आज्ञा दो कि, बहुत सी नावों द्वारा वे हम लोगों को उस पार पहुँचा दे ॥ ७ ॥

ततो गुहः सन्त्वरितं श्रुत्वा भरतशासनम् ।

प्रतिप्रविरय नगरं तं ज्ञातिजनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

१ रामस्यअनुवशः—रामस्यअनुचरः । ( शि० ) २ दाशाः—  
वैयर्तका. ( शि० )

भरत जी की ऐसी ग्याज्ञा पा कर गुह ने बड़ी शीघ्रता से पुनः अपने नगर में प्रवेश किया और वहाँ जा कर, अपनी जाति-वालों ( मल्लाहों ) से कहा— ॥ ८ ॥

उत्तिष्ठत प्रमुध्यध्व भद्रमस्तु च नः मदा ।

नावः समनुरुर्षध्व तारायप्पाम ग्राहिनाम् ॥ ८ ॥

भाइयो ! उठो ! जागो ! मन्तु तुम्हारा मद्भज हो । नावों को किनारे पर ला कर, सेना को पार करारो ॥ ८ ॥

तै तथोक्ताः मधुत्थाय स्वरिता राजगामनात् ।

पञ्च नावां शतान्याशु ममानिन्दुः समन्ततः ॥ १० ॥

गुह द्वारा ऐसा कहे जाने पर, मल्लाह लोग उठ खड़े हुए और अपने राजा के आज्ञानुसार उन लोगों ने इधर से जोड़ बटोर कर ५०० नावे ला कर, घाट पर लगा दी ॥ १० ॥

अन्याः स्वस्तिक्रमिज्ञेया महाघण्टाधरा वराः ।

शोभमानः पताकाभिर्युक्तनाताः सुमंहताः ॥ ११ ॥

इनके अनिरिक्त रानाओं के चढ़ने योग्य 'स्वस्तिक' नामक कई एक बजरा नावे भी लाई गई । इन स्वस्तिक नावों में घंटे टंगे हुए थे । पताकाएँ शोभायमान थीं । हवा आने जाने के लिए बनी थीं, और नार की तलो में फीले आदि ऐसी सावधानी से जड़ी थी कि, उममें एक वूँद भी जल नाव के भीतर नहीं आ सकता था ॥ ११ ॥

१ युक्तवाता - पलककुम्भकरणेन मध्ये मध्येगवाहनिर्मासिनच महावातनिवारणादुचिन्वाता । गो०) २ सुमंहता - रात्राणेरथरपान त्वेनायसकीनादिभिर्दंमन्धिरा (गो०)

ततः स्वस्तिकपिजेयां पाण्डुरुम्वलमंशुताम् ।

१ मनन्दिघोषां रक्त्व्याणीं गुहो नायमुपाहरत् ॥ १२ ॥

उन स्वस्तिक नाम के वजरो में मफेद उनी कालीन धिद्धे हुए थे । जब वे चलाई जाती थीं, तब उनमें छोटी छोटी घंटियाँ बजती थीं । वे देखने में बड़ी सुन्दर जान पड़ती थीं । ऐसी एक नाव को गुह स्वयं लाया था ॥ १२ ॥

तामारुहोह भरतः शत्रुघ्नश्च महायशाः ॥

कौमल्या च सुमित्रा च याश्चान्या राजयोपितः ॥ १३ ॥

इस वजरे पर महायशस्वी भरत, शत्रुघ्न, कौमल्या, सुमित्रा, तथा अन्य जो रानियाँ थीं, सवार हुईं ॥ १३ ॥

पुरोहितश्च तत्पुत्रं गुरुवो ब्राह्मणाश्च ये !

अनन्तरं राजदारास्तथैव शकटापणाः ॥ १४ ॥

भरत आदि के नाव में बैठने के पूर्व पुरोहित तथा अन्य गुरुजन ब्राह्मण पहिले ही चढ़ चुके थे । तदनन्तर कौशल्यादि रानियाँ नाव में बैठी थीं । उनके बैठने के बाद सामान से लदे छकड़ों नावों पर बोम्बे गए थे ॥ १४ ॥

३ आवासमादीपयतां ४ तीर्थं ५ चाप्यवगाहताम् ।

६ भाण्डानि चाददानानां वोपस्त्रिदिवमस्पृशत् ॥ १५ ॥

१ मनन्दिघोषा—इर्षजनककिङ्किण्यादिघोषयुक्त । (गो०) २ रक्त्व्याणीं—शोभना । (गो०) ३ आवास—सेनादिवेशं । (गो०) ४ आदीपयता—अग्निनाज्वलयता । (गो०) ५ तीर्थं—अवतरणप्रदेशम् । (गो०) ६ भाण्डानि—उपकरणानि । (गो०) \* पाठान्तरे—“महावन.” ।

चलते समय द्वावनी में जो घास फूम था, वह जला दिखा गया। फिर गङ्गा जी में स्नान करने वालों का कोलाहल, तथा नावों पर सामान लादने वालों का चीत्कार शब्द ऐसा हुआ कि, आकाश प्रतिध्वनित हो उठा। अर्थात् यहाँ से सेना के कूँच के समय और नावों में सामान लादते समय बड़ा होइल्ला हुआ ॥ १५ ॥

पताकिन्यस्तु ता नाव. स्वयं दाशेरधिष्ठिताः ।

वहन्त्यो जनमारूढ तदा मम्पंतुराशुगाः ॥ १६ ॥

वे पालवाली नावों, जिन पर माँझी लोग बैठे हुए रखवाली कर रहे थे, नावों पर सवार लोगों को लिए हुए, बड़े वेग से चली जाती थी ॥ १६ ॥

नारीणाभभिपूर्णास्तु कारिचःकाश्चिच्च वाजिनाम् ।

कारिचदत्र वहन्ति स्म यानयुग्य' महाधनम् ॥ १७ ॥

कितनी ही नावों में तो स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ बैठी थी और कितनी ही नावों में घोड़े ही घोड़े भरे थे। कई एक नावों पर रख धूल छकड़े, घोड़े, खच्चर—जो बड़े बड़े मोल के थे भरे थे ॥ १७ ॥

ताः स्म गत्वा परं तीरमपरोप्य च तं जनम् ।

निष्ठताः काण्डचित्राणि भक्रियन्ते दाशवन्धुभिः ॥ १८ ॥

धीरे धीरे ये सब नावें गङ्गा के दूसरे पार पर जा लगी और आरोहियों को उतारा। लौटते समय, गुह के बन्धु मल्लाह लोग, नौका ले जल में विविध प्रकार के खेल करते जाते थे ॥ १८ ॥

१ यानयुग्य—यानान्तरयशकटादीनि युग्यानि—घरकरवनाउदीदीनि ।  
(गो०) २ महाधनं—बहुमूल्य । (गो०) ३ काण्डे—वारिणि । (गो०)  
४ चित्राणि चित्रगमनानि । (गो०)



सर्वैजयन्तास्तु गजा गजारोहप्रचोदिताः ।

तरन्तः स्म प्रकाशन्ते सध्वजाः इव पर्वताः ॥ १९ ॥

महावत लोग ध्वजा सहित हाथियों को जल में पैरा कर पार उतारते थे । उस समय वे हाथी चलते फिरते पर्वतों की तरह जान पड़ते थे ॥ १९ ॥

नावथारुरुहुश्चान्ये सर्वैस्तेरुस्तथा परे ।

अन्ये कुम्भघटैस्तेरन्ये तेरुश्च बाहुभिः ॥ २० ॥

कोई तो छोटी नावों पर बैठ कर पार उतरे, कोई बाँस आदि के बेंड़ों के सहारे, कोई घरनई से और कोई स्वयं तैर कर उस पार पहुँचे ॥ २० ॥

सा पुण्याः ध्वजिनीः गङ्गां दाशैः सन्तारिता स्वयम् ।

मैत्रे मुहूर्ते प्रयया प्रयागवनमुत्तमम् ॥ २१ ॥

गुह के नाँकर मल्लाहों ने स्वयं, गङ्गास्नान से पवित्र हुई सेना को पार उतार दिया । वह सेना सूर्योदय से तीसरे मैत्रे नामक मुहूर्त में परम मनोहर बन को प्रस्थानित हुई ॥ २१ ॥

अश्रवासयित्वा च चर्मं महात्मा

निवेशयित्वा च यथोपजोषम् ॥

१ सध्वजाः—सगमनाः । (गो०) २ पुण्या—गंगास्नानादिनापूता । (गो०) ३ ध्वजिनी—सेना । (गो०) ४ अश्रवासयित्वा—सान्त्वयित्वा । (गो०) ५ चर्म—महाजन । (गो०) ६ महात्मा—महामतिः । (गो०) ७ यथोपजोषम्—यथामुखं । (गो०)

द्रष्टुं भरद्वाजमृषिप्रवर्य-

‘मृत्विग्ृतः सन् भरतः प्रतस्थे ॥ २२ ॥

प्रयाग में पहुँच, महाशक्ति भरत न मत्र सेनाभेतया साथियों को मधुर वचनों से सान्त्वना प्रदान कर, जहाँ जिसको मुविधा थी वैसे वहाँ टिकाया । तदनन्तर भरत जा, वसिष्ठादि ऋषियों को साथ ले, भरद्वाज जी क दशन करने की, उनके आश्रम की ओर प्रस्थानित हुए ॥ २२ ॥

स र्वाक्षयस्याश्रममभ्युपेत्य

‘महात्मनो देवपुरोहितस्य ।

ददर्श रम्योदजवृक्षपण्ड

महद्वर्ण विप्रवरस्य रम्यम् ॥ २३ ॥

इति एशोननर्थातितम\* सर्ग ॥

उन वेदवित् महाशानी देवपुरोहित बृहस्पतिपुत्र भरद्वाज के आश्रम में पहुँच, भरतादि ने भरद्वाज, जी की रमणीय पर्यशाला और सघन वृक्षों से सुशोभित बड़े वन को देखा ॥ २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का द्वावामीर्वा सर्ग समाप्त हुआ ।

— ००:—

अद्विगिभि — वाशुष्मिभि । ( ग० ) २ ब्राह्मणस्य — ब्रह्मवेद  
तद्वशाते ब्राह्मण । ( ग० ) ३ महात्मनो — महाशानस्य । ( ग० ) ४  
देवपुरोहितस्य — बृहस्पति पुत्रत्वेन देवपुरोहितत्वं “आ माधे पुत्र नामासि”  
इति यायात् । ( ग० )

## नवतितमः, सर्गः

—०.०—

भरद्वाजाश्रमं दृष्ट्वा क्रोशादेव नर्षभः ।

बलं सर्वमवस्थाप्य जगाम सह मन्त्रिभिः । १ ॥

पद्भ्यामेव हि धर्मज्ञो न्यस्तशस्त्रपरिच्छदः ।

वमानो वामनी जौमे पुगेधाय पुगेधसम् ॥ २ ॥

धर्मज्ञ पुरुषोत्तम भरत आप्रम से एक कोस के अन्तर पर, सेना आदि को टिका कर, मंत्रियों के साथ ले, अस्त्र शस्त्र छोड़ एवं राजसी पोशाक उतार, केवल रेशमी वस्त्र धारण कर तथा पुरोहितों को आगे कर, पैदल ही, भरद्वाज जी के दर्शन करने को गए ॥ १ ॥ २ ॥

ततः मन्दशने तस्य भरद्वाजस्य राववः ।

मन्त्रिरास्तानवस्थाप्य जगामानुपुरोहितम् ॥ ३ ॥

अनन्तर जब भरत जी ने दूर में भरद्वाज जी को देखा तब मंत्रियों के भी पीछे छोड़, आप अकेले ही वसिष्ठ जी के पीछे पीछे जाने लगे ॥ ३ ॥

वसिष्ठमथ दृष्ट्वैव भरद्वाजो महातपाः ।

सञ्चालासनात्तूर्णं शिष्यानर्घ्यमितिः ब्रुवन् ॥ ४ ॥

महातपस्वी भरद्वाज ने वसिष्ठ जी को देखते ही, शिष्यों को अर्घ्यादि लाने की आज्ञा दी और वे तुरन्त आसन छोड़, खड़े हो गए ॥ ४ ॥

समागम्य वसिष्ठेन भरतेनाभिवादितः ।

अबुध्यतः महातेजाः सुतं दशरथस्य तम् ॥ ५ ॥

और आगे वद वसिष्ठ जी से मिले । भरत जी ने भरद्वाज को प्रणाम किया । मुनि भरद्वाज ने जान लिया कि, वे महा-तेजस्वी ( भरत ) दशरथनन्दन हैं ॥ ५ ॥

ताभ्यामर्घ्यं च पाद्यं च दद्यात्पश्चात्कलानि च ।

शानुपूर्व्यां च धर्मज्ञः पप्रच्छ कुशलं कुले ॥ ६ ॥

धर्मिमा भरद्वाज जी ने उनके लिए भी अर्घ्य सामग्री मँगवा कर, उन दोनों को अर्घ्य और पाद्य दिए । तदनन्तर खाने को भोजन के लिए फल दिए । पीछे नमपूरक उनसे उनके घर का कुशलप्रश्न पूछा ॥ ६ ॥

अयोध्यायां बले क्रोशे मित्रेष्वपि च सन्धिषु ।

जानन्दशरथं घृत्तं न राजानमुदाहरत् ॥ ७ ॥

अयोध्या में भी सेना, धनागार, मित्रों और मन्त्रियों के सम्बन्ध में कुशलप्रश्न पूछा, तदनन्तर महाराज दशरथ की मृत्यु का समाचार मालूम होने के कारण उनका नाम न लिया ॥ ७ ॥

वसिष्ठो भरतश्चैनं पप्रच्छतुरनामयम् ।

शरीरेऽग्निषु वृक्षेषु शिष्येषु मृगपक्षिषु ॥ ८ ॥

तदनन्तर वसिष्ठ जी और भरत जी ने भरद्वाज से उनके शरीर, अग्नि, शिष्य, मृगों और पक्षियों के विषय में कुशलप्रश्न पूछा ॥ ८ ॥

१ अबुध्यतेति वसिष्ठसदृश्यादितिभावः । (गो०) २ कुले—घरे ।

( गो० )

तथेति तत्प्रतिज्ञाय भरद्वाजो महातपाः ।

भरतं प्रत्युवाचेदं राघवस्नेहवन्धनात् ॥ ९ ॥

तब महातपस्वी भरद्वाज ने अपनी सव का कुशल महान वृत्तान्त बतला, श्रीरामचन्द्रजी के स्नेह के कारण ( न कि भरत जी के दोष दिखाने के उद्देश्य से ) भरत जी से कहा ॥ ९ ॥

किमिहागमने कार्यं तव राज्यं प्रशासतः ।

एतदावच्छ मे सर्वं न हि मे शुच्यते मनः ॥ १० ॥

हे राजकुमार 'तुम तो राज्य का शासन कर ही रहे हो। फिर यहाँ आने की तुम्हें क्या आवश्यकता आ पड़ी। यह सब मुझसे ठीक-ठीक कहो। क्योंकि इस सम्बन्ध में मेरा मन सशुद्ध हो रहा है ॥ १० ॥

सुपुत्रे यममित्रघ्नं कौसल्याञ्जनन्दवर्धनम् ।

भ्रात्रा सह सभार्यो यश्चिरं प्रत्राजितो वनम् ॥ ११ ॥

नियुक्तः स्त्रीनियुक्तेन पित्रा योऽसौ महायशाः ।

वनवासी भवेतीह समाः किल चतुर्दश ॥ १२ ॥

कच्चिन्न तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि ।

अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च ॥ १३ ॥

महायशस्वी कौसल्या के आनन्द बढ़ाने वाले जिस श्रीराम को, स्त्री के कहने से, महाराज दशरथ ने भार्या सहित चौदह वर्ष के लिए वनवास दिया, उस निर्दोष राजकुमार के बारे में और उसके छोटे भाई के विषय में, निम्न एक राज्य भोग की

१ न शुच्यते—शुद्धि न प्राप्नोति । नविश्वसीतियावत् । ( गो० )

• पाठान्तरे—“नन्दिवर्धनम्” ।

इन्द्रा से, क्या आप उन दोनों का कुछ अनमल तो करना नहीं चाहते ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

एवमुक्तो भरद्वाजं भरतः प्रत्युवाच ह ।

पर्यश्रुनयनो दुःखाद्वाचा संमज्जमानया १ ॥ १४ ॥

भरद्वाज जी के ऐसा कहने पर, भरत जी ने दुःखी होने के कारण श्रांतों में आसू भर और गद्गद कण्ठ हो कहा ॥ १४ ॥

रहतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि ३ मन्यते ।

मत्तो न दोषमाशङ्क नैवं मामनुगाधि हि ॥ १५ ॥

हे भगवन् ! मत्र कुछ जान कर भी ( भूत, भविष्य, वर्तमान के ज्ञाता हो कर भी ) यदि आप ऐसा संमज्ज रहे हैं, तो मेरा जीना घृथा है । मेरा तो इस उपस्थित विपत्ति से कुछ भी लगाव नहीं है । मेरे मन में तो इसी कभी कल्पना भी नहीं थी । अतः आप मुझसे ऐसे कठोर वचन न कहिए ॥ १५ ॥

[ टिप्पणी—भरद्वाज जी त्रिकालदर्शी ऋषि थे । वे भरत के मन की शुद्धता अशुद्धता योग बल से सहज ही में जान सकते थे—फिर भी उनका भरत को सन्देह दृष्टि में देयना आश्चर्य में डालता है । भरद्वाज जी के यह प्रश्न सर्वथा अनुचित थे । ]

न चैतदिष्टं माता मे यदबोचन् मदन्तरे ।

नाहमेतेन तुष्टश्च न तद्वचनमाददे ४ ॥ १६ ॥

मेरी माता ने भा जो मेरे धारे में महाराज से कहा, यह भी न तो मेरा इष्ट था और नहीं इसमें सन्तुष्ट हैं और न समझा कहना मुझे स्वीकार ही है ॥ १६ ॥

१ संमज्जमानया—स्मरन्त्या । ( गो० ) २ हतोस्मि—अपर्यवन्त्या-  
स्मि । ३ भगवानपि—भूतभविष्यद्दर्शमानश्रुतव्यर्थः । ४ नाददे—नाङ्गी-  
कृतज्ञानरिम् । ( गो० )

अहं तु तं नरव्याघ्रमुपयातः प्रसादकः ।

प्रतिनेतुमयोध्यां च पादौ तस्याभिरन्दितुम् ॥ १७ ॥

मैं तो उस पुरुषसिंह को प्रसन्न कर, अयोध्या में लौटा लाने तथा उनको प्रणाम करने को जा रहा हूँ ॥ १७ ॥

त्वं मामेवं गतं मत्वा प्रसादं कर्तुमर्हसि ।

शंस मे भगवन् रामः क्व सम्प्रति महीपतिः ॥ १८ ॥

हे भगवन् ! मेरा इस प्रकार का मनोभिप्राय जान कर, आप मुझ पर प्रसन्न हों और मुझे बतावें कि, वे पृथ्वीनाथ राम इन समय कहाँ हैं ? ॥ १८ ॥

वसिष्ठादिभिर्ऋत्विग्भिर्याचितो भगवांस्ततः ।

उवाच तं भरद्वाजः प्रसादाद्भरतं वचः ॥ १९ ॥

तदनन्तर वसिष्ठादि ऋत्विजों ने भी भरद्वाज से श्रीरामचन्द्र जी का पता बतलाने की प्रार्थना की, तब भगवान् भरद्वाज जी भरत की बातों से प्रसन्न हो बोले ॥ १९ ॥

त्वय्येतत्पुरुषव्याघ्र युक्तं राघववंशजे ।

१गुरुवृत्तिर्दमश्चैव २ साधूनां चानुयायिता ३ ॥ २० ॥

हे पुरुषसिंह ! तुम्हारा जन्म सुप्रसिद्ध रघुवंश में हुआ है । अतः वृद्धों के कहने में चलना, इन्द्रियों का निग्रह और साधुजनों का अनुगामी होना—ये तीनों बातें तुम में होनी ही चाहिए ॥ २० ॥

जाने चैतन्मनःस्थं ते दृढीकरणमस्त्विति ।

अपृच्छं त्वां तथात्यर्थं कीर्त्तिं समभिवर्धयन् ॥ २१ ॥

१ गुरुवृत्तिः—ज्येष्ठानुवर्तनं ( गो० ) २ दमः—इन्द्रियनिग्रहः । ( गो० ) ३ साधूनांचानुयायिता—सच्चित्तानुवर्तनं । ( गो० )

यद्यपि योगद्वारा मैं जानता था कि, तुम्हारा ऐसा मनोगत भाव है, तथापि लोगों के मामले प्रकट होने पर वह और भी अधिक बढ़ हो जाय और इसके द्वारा तुम्हारी कीर्ति दिग्गन्तव्यापिनी हो, इस अभिप्राय से मैंने तुमसे ऐसा प्रश्न किया था ॥ २१ ॥

[टिप्पणी--महर्षि का भय था कि वाग्दण्डों से श्रावण करने का यह कारण, सन्तोषजनक नहीं है । ]

जाने च रामं१ धर्मज्ञं समीतं महलक्ष्मणम् ।

अमौ वसति ते भ्राता चित्रकूटे महागिरौ ॥ २२ ॥

सीता श्रीर लक्ष्मण सहित धर्म के जानने वाले श्री रामचन्द्र, जहाँ रहते हैं, मुझे मालूम है । वे इस समय चित्रकूट नामक महापर्वत पर वास करते हैं ॥ २२ ॥

शस्तु गन्तामि तं देशं वमाद्य सह मन्त्रिभिः ।

एतं मे कुरु सुप्राज्ञ काम२ कामार्थकोविद३ ॥ २३ ॥

हे इष्टप्रद याचना करने वाले का अभीष्ट पूरा करने वाले कोविद ! आप कल वहाँ जाना । आज मंत्रियों सहित यही ठहरिए । आपको मेरी यह बात अजरय माननी होगी ॥ २३ ॥

तवस्तयेत्यमुदारदर्शनः

प्रतीतिरूपी भरतोऽग्ररीद्वचः ।

चकार बुद्धिं च तदा तदाश्रमे

निशानि रामाय नराधिपात्मजः ॥ २४ ॥

इति नवतितमः सर्गः

१ रामज्ञाने—देशविशेषरहिता रामज्ञानमित्यर्थ । ( गो० ) २ कामं—श्रमार्थं । ( गो० ) ३ कामार्थकोविदः—ईदित्यर्थं वदानदत्ते-त्यर्थः । ( गो० ) ४ प्रतीतिरूप—प्रतिदृश्यते । ( गो० )



जब भरद्वाज ने इस प्रकार कह , तब उदारमना एवं पशरयी राजकुमार भरत जी ने ऋषि का कहना मान, रात भर ऋषि के आश्रम में रहना स्वीकार कर लिया ॥ २४ ॥

अयोध्याकाण्ड का नव्वेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

— ०:—

## एकनवतितमः सर्गः

—❀—

कृतघुद्विं निवासाय तत्रैव स मुनिस्तदा ।

भरतं कैकयीपुत्रमातिथ्येन न्यमन्त्रयत् ॥ १ ॥

जब कैकेयीनन्दन भरत ने वहाँ टिहने का निश्चय प्रकट कर दिया, तब भरद्वाज ने उनको आतिथ्य ग्रहण के लिए निमंत्रण दिया ॥ १ ॥

अत्रवीड्वरतस्त्वेनं नन्विदं भगता कृतम् ।

पाद्यमर्घ्यं तथाऽऽतिथ्यं वने यदुपपद्यते ॥ २ ॥

तब भरत जी बोले—आप तो अर्घ्य, पाद्य तथा वन के फल मूलों से मेरा यथोचित आतिथ्य कर ही चुके। मैं इससे सन्तुष्ट हूँ ॥ २ ॥

अथोवाच भरद्वाजो भरतं प्रहमन्निव ।

जाने त्वां प्रीतिमयुक्तं तुप्येस्त्वं येनकेनचित् ॥ ३ ॥

यह सुन भरद्वाज ने मुसक्या कर कहा कि, यह तो मैं जानता हूँ कि, प्रीतिपूर्वक दी हुई किसी भी वस्तु से, तुम प्रमत्त हो जाते हो ॥ ३ ॥

सेनायास्तु तत्रैतस्याः कर्तुं मिच्छामि भोजनम् ।

मम प्रीतिर्यथारूपा त्वमहो मनुनाधिप ॥ ४ ॥

किन्तु हे नरनाथ ! मैं तो तुम्हारी समस्त सेना की भी पहुनई करना चाहता हूँ । अतः मुझे जिससे मन्तोष हो, तुमको वह करना उचित है ॥ ४ ॥

किमर्थं चापि निक्षिप्य दूरे प्लमिहागतः ।

कस्मान्नो होपयातोऽमि सरलः पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥

हे पुरुषप्रवर ! तुम अपनी सेना को दूर छाड़, अनेके क्यों मेरे पास आए । सेना महित मेरे आश्रम में न आने का क्या कारण है ? ॥ ५ ॥

भरतः प्रत्युपाचेद प्राञ्जलिस्तं तपोधनम् ।

समैन्यो नोपयातोऽस्मि भगवन् भगरद्भयात् ॥ ६ ॥

यह मुझ भरत जी ने हाथ जोड़ कर भरद्वाज जी से कहा—  
हे भगवन् ! आप कहीं क्षुभित न हों—इसी भय से मैं सेना सहित यहाँ नहीं आया ॥ ६ ॥

राज्ञा च भगवन् नित्यं राजपुत्रेण वा सुदा ।

यत्नतः परिहर्तव्या विषयेषु तपस्विनाम् ॥ ७ ॥

राजा हा वा राजपुत्र हो, उसे यहाँ उचित है कि, अपने राज्य में बसने वाले श्रुषियों व आश्रमों को यत्नपूर्वक बचा दे अर्थात् आश्रमों से दूर रहे ॥ ७ ॥

१ विषयेषु तरिदिना - स्वकीयदेशेषु वर्तमानाङ्कुरण । ( गो० )

● पाठान्तरे—' तरिदिन ' ।

वाजिमुन्या मनुष्याश्च मत्तश्च ब्रवारणाः ।

प्रच्छाद्य भगवन्भूमिं महतीमनुयान्ति माम् ॥ ८ ॥

हे भगवन् ! मेरे साथ बड़े बड़े घाटे, बहुत से मनुष्य और मतवाले हाथी हैं, जिनके टिकने के लिए बहुत सी जगह अपेक्षित होती है ॥ ८ ॥

ते वृक्षानुदकं भूमिमाश्रमेष्टजांस्तथा ।

न हिस्प्युरिति तेनाहमेकएव समागतः ॥ ९ ॥

वे आश्रम के वृक्षों को, तालाब अथवा कुएँ के जल को, आश्रम की भूमि को और पर्णशाला को वही नष्ट न कर डालें, यह विचार कर ही मैं यहाँ अकेला ही आया हूँ ॥ ९ ॥

आनीयतामितः सेनेत्याज्ञप्तः परमर्षिणा ।

ततस्तु चक्रे भरतः सेनायाः समुपागमम् ॥ १० ॥

तब महर्षि भरद्वाज जी ने कहा—तुम अपनी सेना को यहीं बुला लो । महर्षि की आज्ञा पा कर, भरत जी ने अपनी सेना वहीं बुलवा ली ॥ १० ॥

अग्निशालां प्रविश्याथ<sup>२</sup> पीत्वाऽपः परिमृज्य<sup>३</sup> च ।

आतिथ्यस्य क्रियाहेतोर्विद्वत्कर्मणिमाह्वयत् ॥ ११ ॥

तदनन्तर भरद्वाज जी ने अग्निशाला में जा, तीन बार आचमन किया और यथाविधि मार्जन कर (जल को मंत्र पढ़ते हुए शरीर पर छिड़का ) भरत जी की पहुनाई करने के लिए विश्वकर्मा का आवाहन किया ॥ ११ ॥

[ टिप्पणी—वह मंत्र था—“अपवित्रः पवित्रो वा”, आदि ]

<sup>१</sup> उद्वान्—पर्णशाला । ( गो० ) <sup>२</sup> अप.पित्वा निरतिशेष । ( गो० ) <sup>३</sup> त्रिराचामेत् इतिश्रुतेः । ( गो० ) <sup>३</sup> परिमृज्य—यथाविधि मार्जन कृत्वा । ( श्रि० )

आह्वये विश्वकर्माणमहं<sup>१</sup> त्वष्टारमेव<sup>२</sup> च ।

आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे मन्निधीयताम् ॥ १२ ॥

(आवाहन करते समय) वे कहने लगे कि, मैं भरत का आतिथ्य करने के लिए विश्वकर्मा और त्वष्टा का आवाहन करता हूँ। अतः वे आकर, सेना आदि के लिए पश्याय आदि बनावें ॥ १२ ॥

आह्वये लोफपालांस्त्रीन् देवाञ्शक्रमुखान्स्तथा ।

आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संनिधीयताम् ॥ १३ ॥

मैं भरत की पहुनाई करना चाहता हूँ। अतः मैं तीनों लोकपाल यम, वरुण तथा कुबेर पर इन्द्रादि देवताओं का आवाहन करता हूँ। वे आकर पहुनाई की तैयारियाँ करें ॥ १३ ॥

प्राक्स्रोतसश्च या नद्यः प्रत्यक्स्रोतम एव च ।

पृथिव्यामन्तरिक्षे च समायान्त्वद्य सर्गः ॥ १४ ॥

पृथिवी और आकाश में पूर्व से पश्चिम की और पश्चिम से पूर्व की बहने वाली जो नदियाँ हैं, वे सब आच वहाँ आवे ॥ १४ ॥

अन्याः स्रान्तु मैरेयं सुगमन्याः सुनिष्ठिताम् ।

अपराश्चोदकं शीतमिक्षुनाण्डरमोपमम् ॥ १५ ॥

वे नदियाँ आकर कोई तो मैरेय नाम की शराव, कोई मूरा नाम की उत्तम शराव और कोई शीतल और उग्र के रम जैसे मीठे जल को यहाँ बहती हुई प्रकट हो ॥ १५ ॥

१ विश्वकर्मा—सप्तसिल्वकर्ता । (गो०) २ त्वष्टा तु तदण्येनष्टादि निर्माता । (गो०) ३ त्रिभुवनोत्पत्ति—यमवराकुबेरान् । (गो०)

आह्वये देवगन्धर्वान् विश्वावसुहहाहुहन् ।

तथैवाप्सरसो देवीर्गन्धर्वाश्चापि सर्वशः ॥ १६ ॥

मैं विश्वावसु, हाहा, हुह नामक देवगन्धर्वों को और देव  
वाति में उत्पन्न गन्धर्वियों को तथा मय अप्सराओं का भी  
आवाहन करता हूँ ॥ १६ ॥

धृताचीमथ विरवाची मिश्रकेशीमलम्बुनाम् ।

नागदन्तां च हेमां च हिमामद्रिकृतस्थलाम् ॥ १७ ॥

इनके अतिरिक्त धृताच, विरवाची, मिश्रकेशी, अलम्बुसा,  
नागदन्ता, हेमा और हिमालयवामिनी ( मोमा ) ॥ १७ ॥

शक्रं याश्चोपतिष्ठन्ति ब्रह्माणं याश्च योपितः ।

सर्वास्तुम्बुरुणा सार्धमाह्वये सपरिच्छदाः ॥ १८ ॥

और इन्द्र की ममा तथा ब्रह्मा की ममा में नावने वाली  
सब अन्य अप्सराओं को भी अन्द्रे वस्त्र धारण किए हुए,  
तुम्बुरु के साथ, मैं आवाहन करता हूँ ॥ १८ ॥

वनं कुरुषु यदिव्यं वासोभूषणपत्रवन् ।

दिव्यनारीफलं शश्वत्कौबेरमिहेतु च ॥ १९ ॥

कुबेर का चैत्ररथ नामक, उत्तरकुरु वाला दिव्य वन, तिमके  
वृक्षों के पत्तों, दिव्य वस्त्र और दिव्यनारी की तरह सुन्दर रूप  
है, यहा प्रकट हों ॥ १९ ॥

१ देवगन्धर्वान्—मनुष्यगन्धर्वभिन्नान् । ( गो० ) २ देवाः—

देवजातीः । ( गो० ) ३ गन्धर्वाः—गन्धर्वजाती ।

इह मे भगवान् सोमो विप्रत्तामन्नमुत्तमम् ।

भक्ष्यं भोज्यं च चोप्यं च लेह्यं च विप्रिधं बहु ॥ २० ॥

विविध भोजन के और बहुत से भक्ष्य, भोज्य, चोप्य, लेहादि  
अन्न, भगवान् चन्द्रदेव यहाँ आ कर तैयार करें ॥ २० ॥

विचित्राणि च माल्यानि पादपप्रच्युतानि<sup>१</sup> च ।

सुरादीनि च पेयानि मांमानि विविधानि च ॥ २१ ॥

( वे ) ताजे फलों की विचित्र विचित्र पुष्प मालाएँ, सुरा आदि  
पीने के पदार्थों के और तरह तरह के माँमाँ को शीघ्र ही प्रस्तुत  
करें ॥ २१ ॥

एवं समाधिना<sup>२</sup> युक्तस्तेजसाऽप्रतिभेन च ।

शीघ्रास्वरममायुक्तं<sup>३</sup> षतपसा चाव्रवीन् मुनिः ॥ २२ ॥

इस प्रकार अनुपम और शायानुग्रह समर्थ भरद्वाज मुनि ने  
योगबल और ज्ञानबल से उपयुक्त स्वर और यथाविधि शुद्ध  
वर्णोच्चारण पूर्वक मंत्र का आवाहन किया ॥ २२ ॥

धमनमा ध्यायत्तन्तस्य<sup>४</sup> प्राङ्मुखस्य कृताञ्जलेः<sup>५</sup> ।

आजम्भुस्तानि सर्वाणि देवतानि पृथक्पृथक् ॥ २३ ॥

१ पादपप्रच्युतानि—नवानीति भावः । (गो०) २ समाधिना—योगेन ।  
(गो०) ३ तंजसा—अनागनेदृशदृशसामर्थ्येन मुनेन । (गो०) ४ षतपसा—  
शनेन । (गो०) ५ मनसा—द्वन्द्व परेत्यर्षः । (गो०) ६ ध्यायत—  
निरन्तरचिन्तयतः । (गो०) ७ कृताञ्जलेः—आदानमुद्रिकाः । (गो०)

भरद्वाज जी के पूर्य की ओर मुग्य कर बैठ कर आवाहन मुद्रा से, एफ़ाग्रमत हो और कुत्र काल तक अखण्ड निरन्तर चिन्तवन करते ही, वे सब देवता एक एक कर भरद्वाज जी के सामने आ उपस्थित हुए ॥ २३ ॥

मलयं दर्दुरं चैत्र ततः स्वेदनुदोऽनिलः ।

उपस्पृश्य वरौ युक्त्या सुप्रियात्मा सुखः शिवः १ ॥२४॥

उस समय मलय और दर्दुर पर्वतों को स्पर्श करता हुआ सुस्रद पवन, शीतल मन्द और सुगन्धयुक्त हो, गरमी को नाश करता हुआ चलने लगा ॥ २४ ॥ ६

ततोऽभ्यर्तन्त घना दिव्याः कुसुमदृष्टयः ।

दिव्यन्दुदुभिचोपश्च दिक्षु सर्वासु शुश्रुवे ॥ २५ ॥

दिव्य मेघों ने पुष्पों की वर्षा की । देवताओं के नगाड़ों का शब्द सब दिशाओं में सुनाई पड़ने लगा ॥ २५ ॥

प्रवयुथोत्तमा वाता ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।

प्रजगुर्देवगन्धर्वा वीणाः प्रमुमुक्षुः स्वरान् ॥ २६ ॥

सुस्रद समीर के भोके आने लगे । अप्सरायें नाचने लगीं । देव गन्धर्वा का गाना और वीणाओं की मृदङ्गकार सुनाई पड़ने लगी ॥ २६ ॥

म शब्दो द्यां च भूमिं च प्राणिनां श्रवणानि च ।

विवेशोच्चारितः श्लक्ष्णः समो लयगुणान्वितः ॥२७॥

इम प्रकार से मधुर, सम, और लय युक्त शब्द से आकाश,  
भूमि और प्राणियों के कान पूर्ण हो गए ॥ २७ ॥

तस्मिन्नु परते शब्दे दिव्ये श्रोत्रसुखे नृणाम् ।

ददर्श भावत सैन्य विधानं विश्वरुर्मयः ॥ २८ ॥

सुनने में मधुर के शब्द हा हा रहे थे कि, इतने में भरत  
की सेना विश्वरुर्मा की कारागरी देखने लगी ॥ २८ ॥

बभूव हि समा भूमिः समन्तात्पञ्चयोजना ।

शाद्वलैर्नदुभिरद्वन्ना नीलैर्दृश्यसन्निभः ॥ २९ ॥

उन्होंने देखा कि, यहाँ की भूमि चारों ओर पाँच पाँच योजना  
तक बराबर एफमी और नील वैदूर्य मणियों की तरह चमकीली  
एवं हरी हरी दूर से दृष्टी हुई है ॥ २९ ॥

तस्मिन् विन्वाः कपित्थाश्च पनमा वीजपूरुषाः ।

श्रामलम्बो बभूवुश्च चृताश्च फलभूषणाः ॥ ३० ॥

और जगह जगह बेल, कंधा, कटहर, विनोरा, आमला और  
आम के घृत फला से लदे हुए सुशोभित हैं ॥ ३० ॥

उत्तरेभ्यः दुरभ्यश्च वनं दिव्योपभोगम् ।

आजगाम नदी दिव्या तीरैर्नदुभिर्षृता ॥ ३१ ॥

स्वर्गस्व लोगों के उपभोग के योग्य, उत्तर पुरुदेश से, यहाँ  
एक वन भी गढ़ा हो गया। एक दिव्य नदी भी यहाँ बहने  
लगी। इस नदी के उभय तटों पर बहुत में वृक्ष लगे हुए थे ॥ ३१ ॥

चतुःशालानि शुभ्राणि शालाश्च गजयाजिनाम् ।

हर्म्यप्रासादमम्बाघास्तोरणानि शुमानि च ॥ ३२ ॥



वहाँ पर सफेदी से पुते अनेक सुन्दर घर, हस्तिशालाएँ और अश्वशाखाएँ बनो हुई देस पड़ने लगीं । महल और अटारियों से युक्त भङ्गज रूपी मनोहर तोरण द्वार (रुटक) देस पड़ने लगे ॥ ३२ ॥

सितमेघनिभं चापि राजवेश्म सुतोरणम् ।

दिव्यमाल्यकृताकारं दिव्यगन्धमसृक्षितम्<sup>१</sup> ॥ ३३ ॥

सफेद बादल जैसी सफेद बन्दनवारों से भूषित, सफेद पुष्पों की मानाश्रों से सुशोभित सुवासित जल से छिड़के हुए अनेक राजभवन वहाँ देस पड़ने लगे ॥ ३३ ॥

चतुरश्रमसम्बाधं<sup>२</sup> शयनासनयानवत् ।

दिव्यैः सर्वरसैर्युक्तं<sup>३</sup> भद्रदिव्यभोजनवस्त्रवत्<sup>४</sup> ॥ ३४ ॥

इन भवनों में चौकोन और सोने बैठने तथा पालकी आदि रखने के लिये (अलग अलग) विशाल कमरे बने हुए थे । कितने ही कमरों में शर्करा आदि रस, उत्तम मिहीन चाँवल आदि अन्न और मिहीन कपडे भरे हुए थे ॥ ३४ ॥

उपकल्पितसर्वान्नं<sup>५</sup> धौतनिर्मलभाजनम् ।

कृतससर्वासनं श्रीमत्स्वास्तीर्णशयनोत्तमम् ॥ ३५ ॥

उन कमरों में पूड़ी, पुआ, कचौड़ी आदि नाना प्रकार के व्यञ्जन तथ मजे धुले साफ वस्त्रन रखे हुए थे । यथास्थान पूजन

१ समृद्धितं—विक्रं । (गो०) २ चतुरश्रच—चतुष्कोण । (गो०)

३ असम्बाधं—विशाल । (गो०) ४ दिव्यभोजनानि—सूक्ष्मशालन्नादीनि । (गो०) ५ दिव्यवस्त्राणि—सूक्ष्मवस्त्राणि । (गो०) ६ उपकल्पितानि—सर्वान्नानि नानाविधा पूषादीनि यस्मिंस्तत् । (गो०)

करने के लिये आमन विद्ये हुए थे । सुन्दर सेजों पर साफ सुथरे एवं पीनल विहारे विद्ये हुए थे ॥ ३५ ॥

प्रवेश महाबाहुरनुज्ञातो महर्षिणा ।

वेश्म तद्रत्नसम्पूर्णं भरतः केकयीसुतः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार के बने हुए और उत्तम मामणी से भरे पूरे घर में, केकयीनन्दन महाबाहु भरत जी ने, महर्षि भरद्वाज की आज्ञा पा कर प्रवेश किया ॥ ३६ ॥

अनुजग्मुश्च तं सर्वे मन्त्रिणः मपुरोहिताः ।

वभूवुश्च मुदा युक्ता दृष्ट्वा तं वेश्मसंविधिम् ॥ ३७ ॥

भरत जी के पाँदे मन्त्रों तथा पुरोहित उस भवन में जा और उसकी घनावट और सजावट देख, आनन्द में मग्न हो गये ॥ ३७ ॥

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च ।

भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्ततः राजसूतः ॥ ३८ ॥

उस घर में राजाश्री के बैठने योग्य एक राजसिंहासन था, जिसके समीर दास लोग छत्र और चमर लिये खड़े थे । मन्त्रियों सहित भरत जी ने उस सिंहासन की प्रदक्षिणा की ॥ ३८ ॥

आसनं पूजयामास रामायामिप्रणम्य च ।

वाल्यजनमादाय न्यपीदत्सचिवामने ॥ ३९ ॥

(उस राजसिंहासन पर नमस्कारों की श्रद्धापूर्वक विराजमान हैं, इस कारण से) भरत जी ने उस राजसिंहासन की प्रणाम कर उसका पूजन किया । तदनन्तर एक छोटा पद्म हाथ में ले भरत

जी राजसिंहामन के नीचे मन्त्री के बैठने योग्य एक आसन पर बैठ गए ॥ ८६ ॥

टिप्पणी—इससे स्पष्ट है कि भरत जी मनशा बाचा कर्नरा किसी भा प्रकार राज्य लेने का तैयार न थे और राज्य का अधिकारी अपने बड़े भाई श्रीमान् हा जी मानते थे ]

आनुपूर्व्यान्निपेदुश्च नर्वे मन्त्रिपुरोहिताः ।

ततः सेनापतिः<sup>१</sup> पश्चात्प्रशास्ता<sup>२</sup> च निपेदतुः ॥ ४० ॥

जैसे बैठने ही मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और शिविर-निपन्ता (द्वारजी का शमक अर्थात् कैम्पमेन्ट मेजिस्ट्रेट) के सब भी यथाक्रम अपने अपने स्थानों पर बैठ गए ॥ ४० ॥

ततस्तत्र<sup>३</sup> मुहूर्तेन नद्यः पायमकडमाः ।

उपातिष्ठन्त भरतं भरद्वाजस्य शान्तिनाम् ॥ ४१ ॥

सब लगा कर बैठ चुसन के थोड़ा ही देर बाद, भरद्वाज मुनि की आज्ञा से, गाँधी गंगी गीर की नदियाँ बहाँ बहने लगी ॥ ४१ ॥

तासांमुभयतः कृतं पाण्डुवृत्तिकल्पनाः ।

रम्याश्चात्रमथा दिव्या ब्रह्मणस्तु प्रमादजाः ॥ ४२ ॥

भरद्वाज के अनुग्रह से, न नदियों के दोनों तटों पर, अनेक रमणीय एवं अच्छे सफेद कलई से पुते, घर बने पड़ने लगे ॥ ४२ ॥

तेनेन च मुहूर्तेन दिव्याभरणमूपिताः ।

आगुर्निशतिमाहस्ताः बुधैरप्रहिताः स्त्रियः ॥ ४३ ॥

उस समय चतुर्मुख ब्रह्मा की भेनी हुई नदियाँ दक्षिण पोशाक और गहनों से मजा हुई, बीस हजार स्त्रियाँ बहाँ आई ॥ ४३ ॥

१ सेनापति — दण्डनायक । (गो०) २ प्रशास्ता—शिविरनिपन्ता ।

(गो०) ३ मुहूर्तेन—अल्पकालेन । (गो०)

सुवर्णमणिमुक्तेन प्रवालेन च शोभिताः ।

आगुर्विंशतिमाहम्नाः कुबेरप्रहिताः स्त्रियः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर धीम ही हजार स्त्रियाँ, जो सुवर्ण, मणि, मुक्ता और मूगों से अपने शरीर को सजाए हुए थीं और जिन्हें कुबेर ने भेजा था, वहाँ आईं ॥ ४४ ॥

यामिर्गृहीतः१ पुरुषः सोन्माद इव लक्ष्यते ।

आगुर्विंशतिमाहम्ना नन्दनादध्वरोगणाः ॥ ४५ ॥

नन्दनवन से आई हुई धीम हजार अप्सराएँ ऐसी सुन्दरी थीं कि, जिस पुरुष को वे आलिङ्गन करतीं, वह पुरुष काम-वशवर्ती हो पागल सा देख पड़ने लगता था ॥ ४५ ॥

नारदस्तुम्बुरुर्गोपप्रवराः सूर्यरर्चमः ।

एते गन्धर्वराजानो भरतस्याग्रतो जगुः ॥ ४६ ॥

सूर्य के तुल्य तेजस्वी और गन्धर्वराज कहलाने वाले नारद, म्बुरु और गोप नामक गन्धर्व भरत के सामने जा, गाने लगे ॥ ४६ ॥

अलम्बुसा मिश्रकेशी पुण्डरीकाय वामना ।

उपानृत्यंस्तु भरतं भरद्वाजस्य शामनाम् ॥ ४७ ॥

भरद्वाज जी की आज्ञा से अलम्बुसा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका और वामना नाम की अप्सराएँ, भरत के आगे जा कर नाचने लगीं ॥ ४७ ॥

यानि भान्यानि देवेषु यानि चैश्वर्ये वने ।

प्रयागे तान्यदृश्यन्त भरद्वाजस्य तेजम् ॥ ४८ ॥

१ शरीरः—आलिङ्गितः । (गो०) २ तेजसा—शभावेन । (गो०)

जो फूल देवताओं के बगीचों में और चैत्ररथ नामक देव वन में फूलते हैं, वे सब महर्षि भरद्वाज के तप के प्रभाव से प्रयाग में देर पड़ते थे ॥ ४८ ॥

विन्वा मार्दङ्गिका आसन् कांस्यग्राहाः विभीतकाः ।

अश्वत्था नर्तकाश्चासन् भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४९ ॥

महर्षि भरद्वाज के तपोबल से, बेल के पेड़ों ने पखावाजियों का, बहेड़े के पेड़ों ने मजीरे बजाने वालों का और पीपल के वृक्षों ने नाचने वालों का रूप धरा ॥ ४९ ॥

ततः सरलतालारच तिलका नक्तमालकाः २ ।

प्रहृष्टास्तत्र सम्पेतुः कुब्जा भृत्वाऽथ वामनाः ॥ ५० ॥

इनके अतिरिक्त देवदारु, ताल, क्षुरक, करंज के पेड़ हर्षित हो, कुबड़े और बौने का रूप धर वहाँ उपस्थित हुए (विद्रूपक—भाँड़ बन कर) ॥ ५० ॥

शिशुपामलकीजम्बुो यार्चान्याः काननेषु ताः ।

मालती मल्लिका जातिर्यार्चान्याः कानने लताः ॥ ५१ ॥

शोशम, आँवला, 'लामुन के पेड़ तथा वन की मालती, मल्लिका आदि लताएँ, ॥ ५१ ॥

प्रमदाविग्रहं कृत्वा भरद्वाजाश्रमेऽवसन् × ।

सुराः सुरापाः पिवत पायसं च बुभुक्षिताः ॥ ५२ ॥

द्वित्रयो का रूप धर भरद्वाज के आश्रम में जा पहुँची और पुकार पुकार कर लोगों से कहने लगी, हे मद्य पीने वालो ! तुम मदिरा पियो ! हे भूख के सताए लोगो ! तुम खीर म्याओ ॥ ५२ ॥

१ सरलाः—देवदारुविशेषाः । (गो०) \* पाठान्तरे—“आश्रम-म्याग्राहां ।” ? पाठान्तरे—“ऽवदन्” ।

मांमानि च सुमेघ्यानि भक्षयन्तां यात्रदिच्छथ ।

उच्छ्राद्य स्नापयन्ति स्म नदीतीरेषु वज्जुषु ॥ ५३ ॥

अप्येकमेकं पुरुष प्रमदाः मत्त चाष्ट च ।

संवाहन्त्यः गमापंतुर्नार्यो रुचिरलोचनाः ॥ ५४ ॥

सुन्दर और खान योग्य मास जितनी जिसकी इच्छा हो  
उतना खाओ । एक एक पुरुष को सात सात आठ आठ स्त्रियाँ  
मिल कर तेल की मालिश कर मनोहर नदियों के तटों पर स्नान  
करातीं और अनेक बड़े बड़े नेत्र वाली स्त्रियाँ, पुरुषों के शरीरों  
को मलती और दगाती थीं ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

परिमृज्य तथान्योन्यं पाययन्ति वराङ्गनाः ।

हयान् गजान् खरानुष्ट्रांस्तथैव सुरमेः सुतान् ॥ ५५ ॥

जय वे स्नान कर चुकते, तब कितनी ही सुन्दर स्त्रियाँ मिल  
कर उनके गीले शरीर को पोंछती थीं और उनको अमृत तुल्य  
शरयत पिलाती थीं । घोड़ों, हाथियों, खरों, ऊँटों और घेनो  
को, ॥ ५५ ॥

[टिप्पणी—यादशाही बगाने में “हम्माम” इसका अनुकरण  
था । प्राचीन कालीन भारतीय सभ्यता का यह अपूर्व नमूना था । ]

अभोजयन्वाहनपास्तेषां भोज्यं यथारिधि ।

इत्श्च मधुलाजांश्च भोजयन्ति स्म वाहनान् ॥ ५६ ॥

इच्छावृत्तरपोधानां चोदयन्तो महाबलाः ।

नारदयन्धोश्वमाजानाम् गजं बुध्नरग्रहः ॥ ५७ ॥

उनके रस्सवाले दाना पारा यथाविधि खिला रहे थे । इनमें  
इच्छावृत्तवशीय प्रधान योद्धाओं की मवारी के जो पशु थे, उनके

महाबली मालिकों ने ऊम्य की गडेरियां और मीठी खीलें उनके खाने के लिए भेजी थीं, जो उनको खिलाई जा रही थीं। मईस व चरकटोअपने अपने घोड़ों और हाथियों को पहचान तक न सके ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

मत्तप्रमत्तमुदिता चमृः सा तत्र सम्ब्रभौ ।

तपिताः सर्वकामैस्ते रक्तचन्दनरूपिताः ॥ ५८ ॥

क्योंकि उस समय वह सेना नशा पी कर मतवाली हो आनन्द में मग्न हो रही थी। सब लोग इच्छानुसार तृप्ति लाभ कर लाल चन्दन शरीर में लगाए ॥ ५८ ॥

अप्सरीगणसंयुक्ताः सैन्या वाचमुदरयन् ।

नैवायोध्यां गमिष्यामो न गमिष्याम दण्डकान् ॥ ५९ ॥

और अप्सराओं से रमण कर, मतवालों जैसी बातें कहने लगे थे। वे कहते अब हम न तो यहाँ से अयोध्या ही जायेंगे और न दण्डकवन ही जायेंगे ॥ ५९ ॥

कुशलं भरतस्यास्तु रामस्यास्तु तथा सुखम् ।

इति पादातयोधारच हस्त्यश्वारोहबन्धकाः ॥ ६० ॥

भरत जी भी मौज करें और श्रीरामचन्द्र जी भी सुखपूर्वक वन में रहें। पैदल सैनिक, चरकटे और सईस भी ॥ ६० ॥

अनाथास्तं१ विधिः लब्ध्वा वाचमेतामुदरयन् ।

सम्प्रहृष्टा विनेदुस्ते३ नरास्तत्र सहस्रशः ॥ ६१ ॥

१ अनाथाः—स्वतन्त्रा इति । (गो०) २ त्रिविधि—सत्कार । (ग०)

३ विनेदुः—जगज्जुः । (गो०)

भरतस्यानुयातारः स्वर्गोऽयमिति चानुगन् ।

नृत्यन्ति स्म ह्रमन्ति स्म गायन्तिस्म च सेनिकाः ॥६२॥

इस प्रकार जी पहुँचें से, स्वनन्त्र हो, ऊँटपटाँग बधने लगे थे । भरत जी की सेना व हजारों आदमा अतिशय हर्षित हो, यह कह कर गर्ज रहे थे कि, बस—'यही स्वर्ग है' । सैनिकों में कोई रोई तो नाच रहे थे और कोई हँस रहे थे ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

ममन्तात्परिधारन्ति माल्योपेताः महस्रशः ।

ततो भुक्तवता तेषां तदन्नममृतीपमम् ॥ ६३ ॥

हजारों सैनिक मालायँ पहिने हुए, इधर उधर दीफ रहे थे । यद्यपि अमृत ममान आदिष्ट भोजन कर, वे लोग कृप्य हो गए थे ॥ ६३ ॥

दिव्यानुद्वीचय भव्यांस्तानमपद्मक्षणे मतिः ।

प्रेप्स्याश्चेत्यथ वधश्च रत्नस्यारच सहस्रशः ॥६४॥

तथापि उन दिव्य भोज्य पदार्थों को देख, उनकी इच्छा धार धार भोजन करने का होती थी । उस सेना में जो महम्मों दास दासियाँ और सिपाहियों की क्रिया थीं ॥ ६४ ॥

यम्वुस्ते भृशं दृप्ताः सर्वे चाहतयाममः ५ ।

कुञ्जरारच खरोन्द्राञ्च गौरगारच मृगपक्षिणः ॥ ६५ ॥

वे सबकी मध नये नये बस धारण कर अत्यन्त गर्वीनी हो गई थीं । हाथी, खर, ऊँट, बैल, मृग घोड़े और पक्षी (सैनिक लोग अपने पालन मग पक्षी अपने माथ ले गए थे) ॥ ६५ ॥

१ प्रेष्या - परिचारका । ( गो० ) २ चेटयोगस्य । ( गो० ) ३ यज्जोयोषाङ्गना । ( गा० ) ४ अदत्तासु - नूनवस्था ( गा० )



वभ्रुः १ सुभृतास्तत्र नान्यो ह्यन्यमकल्पयत् ।

नाशुकत्त्वामास्तत्रामीन्शुधितो मलिनोऽपि वा ॥६६॥

मव के मव मुनि ने दिए हुए पदार्थों से प्रघार हुए थे। किमी जो अपनी आवश्यकता की कोई वस्तु स्वयं जुटानी न पड़ी। उस समय भरत की सेना में मैले कपडे पहने अथवा भूखा अथवा मैला कचैला ॥ ६६ ॥

रजसा ध्वस्तकेशो वा नरः कश्चिददृश्यत ।

आज्ञैश्चापि च वागहैर्निष्ठानवरसंचयैः ॥ ६७ ॥

अथवा धूलधूमगित केशों वाला एक भी आदमी नहीं देख पड़ता था। वहा बरुओं और शूकरों के माँसों के तथा अन्य अस्त्रे अस्त्रे व्यञ्जनों के देरों से, ॥ ६७ ॥

फलनिव्यूहसंसिद्धैः सूपैर्गन्धरसान्वितैः ।

पुष्पध्वजवतीः पूर्णाः शुक्लस्याघ्नस्य चामितः ॥६८॥

ददृशुर्विस्मितास्तत्र नरा लोहीः सहस्रशः ।

वभ्रुर्वनपाश्वेषु कृपाः पायसकर्दमाः ॥ ६९ ॥

जो फलों के रसों में बनाए गए थे; हींग, लौंग, जीरा आदि सुगंधित मसालों से छोंकी हुई दालों से और अत्युत्तम प्रकार के भातों से भरीं, सहस्रों ऐसी कढ़ाइयों को, जिनमें शोभा के लिए फूलों की मंड़ियाँ लगाई गई थी—देख देर कर, लोग चरित हो रहे थे। उस पांच योजन घेरे में जितने कुर्से थे, वे सब गाड़ी गाड़ी खीर से भरे हुए थे ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

१ सुभृता.—सुभृताः । ( गो० ) २ निष्ठानवरसंचयैः—व्यञ्जनभेद समूहैः । ( गो० )

ताश्च कामदुघा गावो द्रुमाश्चासन्न मधुस्रुतः ।  
वाप्यो भैरेयपूर्णाश्च मृष्टमांसचयैर्वृताः ॥ ७० ॥

प्रतप्तपिठैश्चापि मार्गमायूरकौक्कुटैः ।

१ पात्रीणां च सहस्राणि स्थालीनां नियुतानि च ॥ ७१ ॥

जितनी गौवें थी, वे कामधेनु के ममान, जो माँगो सो देती थीं । जितने वृद्ध थे, वे मद्य शहद चुआ रहे थे । कुण्ड या वावली भैरेय नाम की शराब से भरी हुई थी । हिरन, मोर और मुर्गे के अन्दी तरह पकाय और खाफ किए हुए माँस के टेर लगे हुए थे । अन्न भरने के लिए हजारों दरतन थे और भोग्य पदार्थों को रखने के लिए लाखों थाल थे ॥ ७० ॥ ७१ ॥

[टिप्पणी—मांस मदिरा की मरमार देल पाठक चौके नहीं । यह राजसी पहुँचाई थी । राजसी भोजन में मांस मदिरा का आदर होता ही है]

न्यवुदानि च पत्राणि ४ शातकुम्भमयानि च ।

स्थान्यः कुम्भ्यः कम्भ्यश्च दधिपूर्णाःसुमंस्कृताः ॥ ७२ ॥

दस फरोड़ मोने के थाल और फलसे थे तथा थाली, लुटियों दही रखने के (फलई किए) दरतन जिनमें दही भरत हुआ था- वहाँ मौजूद थे ॥ ७२ ॥

५ यौवनस्थस्य गौरस्य ६ कपित्थस्य ७ सुगन्धिनः ।

हृदाः पूर्णा रसालस्य दध्नः श्वेतस्य चापरे ॥ ७३ ॥

१ पात्रीणां—अन्नधानकुम्भाना । (गो०) २ स्थालीनां—व्यञ्जन-पात्राणां । (गो०) ३ नियुतानि—लक्षाणि । ४ पात्राणि—भोजनपात्राणि ५ यौवनस्थस्य—नातिनूतनस्य नातिपुराणस्तेत्यर्थः । (गो०) ६ गौरस्य-शुभ्रस्य । (गो०) ७ कपित्थस्य—तम्स्य । (गो०) ।

बभ्रुवुः पायसस्यान्ये शर्करायाश्च सञ्चयाः ।

कल्कांश्च कृपायाश्च म्नानानि विविधानि च ॥७४॥

बहुत से बरतनों में कुड़ देर का तैयार किया हुआ सफेद (सादा) मट्ठा भरा हुआ था, बहुत में ज़ीरा लौंग सोंठ आदि मुगन्धित मसालों से युक्त मट्ठा भरा हुआ था । वहाँ के अनेक-कुण्डों में शिखरन, दही दूध भरा हुआ था । चीनो की डेरियों देर पड़ती थीं । स्नानोपयोगी विविध प्रकार के सूखे उबले तथा मसालों के काय ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

ददृशुर्भाजनस्थानि तीर्थेषु सरितां नराः ।

शुक्लानंशुमतश्चापि दन्तधावनसञ्चयान् ॥७५॥

नदियों के घाटों पर बरतनों में भरे हुए लोगों ने देखे । (घाटों पर) साफ और कूची बनी हुई, दंतों के डेर लगे थे ॥ ७५ ॥

शुक्लान्चन्दनकल्कांश्च ५ समुद्गोष्ववतिष्ठतः ।

दर्पणान्परिमृष्टान्श्च वाससां चापि सञ्चयान् ॥ ७६ ॥

घिसा हुआ सफेद चन्दन कटोरों में भरा हुआ रखा था । साफ दर्पणों और कपड़ों के डेर लगे थे ॥ ७६ ॥

पादुकोपानहां चैव युग्मानि त्र सहस्रशः ।

श्राज्जनीः ६ कङ्कतान्कूर्वाञ्जस्त्राणि च धनंपि च ॥७७॥

गड़ाउओं और जूतों की हजारों जोड़ियाँ रखी थीं । सुरमा-टानियाँ, कपड़े, श्रुश, छत्र, धनुष ॥ ७७ ॥

१ शुक्लान्—निर्मलान् । (गो०) २ अशुमतः—कूर्चवतः । (गो०)

३ चन्दनकल्कान्—चन्दनगड्डान् । (गो०) ४ समुद्गोषु—समुद्रकेषु

(गो०) ५ श्राज्जनीः—श्रज्जनुक्ता. वरपिडकाः । (गो०) ६ कङ्कतान्—कैश-

मार्जनान् । (गो०)

श्मर्मशाणानि चित्राणि शयनान्यासनानि च ।

प्रतिपानहृदान् पृष्ठांश्चरोष्ट्रशजराजिनाम् ॥ ७८ ॥

पत्रच तथा तरह तरह की वैचें और मूल कुंभियाँ यथास्थान मजा कर रखी हुई थीं । ग्राण हृण अन्न को पचाने के लिए औषधि रूपी जल (मोहाग्राण, लेनेनेट आदि) से भरे हुए कुण्ड भी थे । गधे, ऊँट हाथी और घोड ॥ ७८ ॥

अपगाक्ष सुतीर्यारच हृदान् मोत्पलपुष्कगान् ।

आकाशरणंप्रतिमान् स्वच्छतोयान् सुरसुखान् ॥ ७९ ॥

जहाँ मुग से प्तर कर स्नान कर मकें अथवा जल पी सके ऐसे घाटों वाले तथा कृले हुए कमल र कृनों से भरे आकाश की तरह निर्मल जल से पूर्ण अनेक तालाब भी थे ॥ ७९ ॥

नीलपद्मैर्वर्णैश्च मृदून्यरममश्रयान् ।

निराशर्यान्पशूना त ददृशुस्तत्र सर्वशः ॥ ८० ॥

नील और वैहूर्य मणियों के रंग जैसे रंग की कोमल घास की ढेरियाँ लगी थीं और जगह जगह पशुओं के विश्राम के लिए स्थान देव पड़ते थे ॥ ८० ॥

व्यस्मयन्तु मनुष्यास्ते स्वप्नकल्पं तदद्भुतम् ।

दृष्ट्वातिथ्य कृत तादृग्भरतस्य महर्षिणा ॥ ८१ ॥

महर्षि भरद्वाज जी ने भरत जी की पदनाई के लिए जो वे सब स्वप्न सदृश चमत्कार-पूर्ण तैयारियाँ की थी, इनको देख देख भरत के साथ वाले लोग विस्मित हो रहे थे ॥ ८१ ॥

इत्येवं रममाणानां देवानामिव नन्दने ।

भरद्वाजाश्रमे रम्ये सा रात्रिर्व्यत्ययर्तते ॥ ८२ ॥

नन्दनवन में विहार करते हुए देवताओं की तरह, भरद्वाज के रमणीय आश्रम में विहार करती हुई भरत की सेना ने वह रात बिताई ॥ ८२ ॥

प्रतिजग्मुश्च ता नद्यो गन्धर्वाश्च यथागतम् ।

भरद्वाजमनुजाप्य तारुच सर्वा वराङ्गनाः ॥ ८३ ॥

प्रातःकाल होने ही मद्य नदियाँ गन्धर्व और अप्सराएँ मुनि से विदा हो, अपने अपने स्थानों को चली गई ॥ ८३ ॥

तथैव मत्ता मदिरोत्कटा नराः

तथैव दिव्यागुरुचन्दनोक्षिताः ।

तथैव दिव्या विविधाः स्रगुत्तमाः

पृथक्प्रकीर्णा मनुजेः प्रमदिताः ॥ ८४ ॥

इति एकनवतितमः सर्गः ॥

परन्तु भरत जी के अनुगामी के सत्र मतवाले लोग वैसे ही गर्विले और मदमत्त थे और उमी प्रकार शरीर में चन्दन लगाए हुए थे । तरह तरह की श्रेष्ठ और दिव्य पुष्पमालाएँ और पुष्प, जो इधर उधर बिखरे पड़े थे, लोगों के पैरों से कुचले जाने पर भी, पूर्ववत् ज्यों के त्यों देय पडते थे अर्थात् न तो कुम्हलाए थे और न तो उनकी शोभा नष्ट हुई थी ॥ ८४ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक्यानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ -

# द्विनवतितमः सर्गः

— ० —

ततस्तां रत्नानीं व्युष्य भरतः सपरिच्छदः ।

कृतातिथ्यो भग्द्वारं कामादभिजगाम' ६ ॥ ॥

अपने परिवार के लोगा और माथियामहित भरत जी, भरद्वाज जी की प्येमी राजमी टाठ की पहुनाई में यह रात बिता, सबेरा होते ही, राम दर्शन की कामना से, भरद्वाज जी के पास बिदा माँगने गए ॥ १ ॥

तमपिः पुरुषन्पात्रं प्राञ्जलिं प्रेष्य चागतम् ।

हुताग्निहोत्रो भरतं भरद्वाजोऽभ्यमापत ॥ २ ॥ ॥

पुरुषमिह भरत को हाथ जोड़े अपने मामने गया देख, अग्निहोत्र सम्बन्धी नई विधि विधान को पूरा कर, भरद्वाज जी ने उनसे कहा ॥ २ ॥

कचिदत्र सुखा रात्रिस्तवास्मद्विषये गता ।

समग्रस्ते जनः कञ्चिदातिथ्ये शंभ मेऽनघ ॥ ३ ॥

हे अनघ ! यह तो मुझे यतलाओ कि मेरे आश्रम में पिछली रात गुप्त से तो कटी ? तुम्हारे साथ के सब लोग मेरे आतिथ्य से भली भाँति मन्तुष्ट तो हैं ? ॥ ३ ॥

तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा भरतोऽभिप्रणम्य च ।

आश्रमादभिनिष्क्रान्तमृषिमुत्तमतेजसम् ॥ ४ ॥

यह कहते हुए तेजस्वी महर्षि भरद्वाज जय आश्रम से बाहिर आए, सब भरत जी ने हाथ जोड़ कर, उनको प्रणाम किया और बोले ॥ ४ ॥

मुखोपितोऽस्मि भगवन् ममग्रबलवाहनः ।

तर्पितः सर्वकामैश्च मामात्यो 'बलवत्त्वया ॥ ५ ॥

हे भगवन् ! मैं अमात्यों और सेना सहित इस आश्रम में सुग्न से रहा और हर प्रकार से आपने हम सब को अतिशय रूत किया ॥ ५ ॥

अपेतक्लमसन्तापाः सुमित्राः सुप्रतिश्रयाः ।

अपि प्रेप्यानुपादाय सर्वे स्म सुसुखोपिताः ॥ ६ ॥

हम सब लोगों ने सुखपूर्वक रात बिताई । अन्द्रे अन्द्रे घरों में वास किया, बढ़िया बढ़िया स्वादिष्ट भोजन किए । रास्ते में जो थकावट हुई थी, वह सब हमारी दूर हो गयी ॥ ६ ॥

आमन्त्रयेऽहं भगवन् कामं त्वामृषिसतम ।

ममीपं प्रस्थितं आतुमैत्रेणैस्व चक्षुषा ॥ ७ ॥

हे ऋषिश्रेष्ठ ! अब मैं आपसे विदा हो कर, भाई के पास जाना चाहता हूँ । अब आप मुझे कृपादृष्टि से देखिये अर्थात् मेरे ऊपर कृपा कीजिए ॥ ७ ॥

आश्रमं तस्य धर्मज्ञ धार्मिकस्य महात्मनः ।

आचद्व कतमो मार्गः कियानिति च शंस मे ॥ ८ ॥

हे धर्मज्ञ ! यह बतलाइए कि, उन महान्ना धार्मिक श्रीराम-चन्द्र जी का आश्रम यहाँ से कितनी दूर है और वहाँ जाने के लिए कौनसा मार्ग भीषा और मग्न है ॥ ८ ॥

इति पृष्टस्तु भरतं आवृद्दर्शनलात्तसम् ।

प्रत्युवाच महातेजा भरद्वाजो महातपाः ॥ ९ ॥

भरत जी का ऐसा वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी के दरान की लालसा; रखने, वाले भरत से, महातेजस्वी प्य परम तपस्वी भरद्वाज जी बोले ॥ ९ ॥

भरतार्चुतीयेषु योजनेष्वजने वने ।

चित्रकूटो गिरिस्तत्र रम्यनिर्दरकाननः ॥ १० ॥

हे भरत ! यहाँ से अढ़ाई यानन के अन्तर पर दूटेपूटे पत्यरों वाले निर्जन वन में चित्रकूट नामक एक रमणीय पहाड़ है ॥ १० ॥

[ टिप्पणी—५४ सर्ग के २८ वे श्लोक में राम को महर्षि ने अपने आश्रम से चित्रकूट 'दशमोश' बतलाया था—अब भरत को अढ़ाई योजन । ]

उत्तरं पार्व्यमासाद्य तस्य मन्दाकिनी नदी ।

पुष्पितद्रुमसंछन्ना रम्यपुष्पितकानना ॥ ११ ॥

इस पर्वत की उत्तर तरफ मन्दाकिनी नदी बहती है । इस नदी के उभय तटों पर पुष्पित वृक्ष लगे हुए हैं और वह नदी रमणीय पुष्पित वन में हो कर बहती है ॥ ११ ॥

अनन्तरं तत्सरितरिचित्रकूटच पर्वतः ।

तयो पर्यङ्कटी तात तत्र तां वसतो ध्रुवम् ॥ १२ ॥

हे तान ! उसी से मिला हुआ, चित्रकूट पर्वत है । जमी पर्वत पर तुम एक पर्यङ्कटी में दोनों भाइयों को निरचय ही घास करते हुए पाओगे ॥ १२ ॥

दक्षिणेनैव मार्गेण सव्यदक्षिणभेद व ।

गजवाजिरथानीणां वाहिनीं वाहिनीपते ॥ १३ ॥



वाहयस्व महाभाग ततो द्रुच्यसि रावणम् ।

प्रयाणमिति तच्छ्रुत्वा राजराजस्य योषितः ॥ १४ ॥

हे महाभाग ! हे वाहिनीपते ! यमुना के दक्षिण वाले मार्ग से कुछ दूर जाने वाले दो मार्ग मिलेंगे । आप दहिनी ओर वाले मार्ग से हाथी, घोड़ों से युक्त अपनी सेना को यदि ले जाओगे तो तुम्हें श्रीरामचन्द्र जी का दर्शन हो जायगा । प्रस्थान करने का विचार सुन महाराज दशरथ की रानियों ने ॥ १३ ॥ १४ ॥

हित्वा यानानि यानार्हा ब्राह्मणंपर्यवारयन् ।

वेपमाना कृशा दीना मह देव्या सुमित्रया ॥ १५ ॥

कौसल्या तत्र जग्राह कराभ्यां चरणी मुनेः ।

असमृद्धेन कामेन सर्वलोकस्य गर्हिता ॥ १६ ॥

अपनी अपनी सवारियाँ छोड़ दीं और जो रानियाँ सदा सवारी पर ही चला करती थीं, वे पैदल चल कर आईं और भरद्वाज को घेर कर गड़ी हो गईं । उनमें से घरघर काँपती हुई दीन और दुर्बल महारानी कौसल्या ने सुमित्रा सहित भरद्वाज जी के पैर छुए । तदनन्तर अक्षयल मनोरथ और लोड-निन्दिता ॥ १५ ॥ १६ ॥

कैकेयी तस्य जग्राह चरणी सव्यपत्रपाः ।

त प्रदक्षिणभागम्य भगवन्तं महासृनिम् ॥ १७ ॥

कैकेयी ने लज्जित हो, महर्षि के चरण छुए और उन ऐश्वर्यवान् महर्षि की परिक्रमा कर ॥ १७ ॥

अदूराद्भरतस्यैव तस्यौ दीनमनास्त्वदा ।

ततः पप्रच्छ भरतं भरद्वाजो दृढव्रतः ॥ १८ ॥

दुःखित चित्त हो, भरत जी के निःश्रुत जा खड़ी हुई। तब  
हृदयधारी भरद्वाजाने भरत से पूछा ॥ १८ ॥

विशेषं ज्ञातुमिच्छामि मातृणां तत्र राघव ।  
एवमुक्तस्तु भरतो भरद्वाजेन धार्मिकः ॥ १९ ॥

हे भरत ! मैं तुम्हारी माताओं का परिचय जानता हूँ। जब  
धार्मिक भरद्वाज ने यह पूछा ॥ १९ ॥

उवाच प्राञ्जलिभूत्या वाक्य वचनकोटिः ।  
यामिमां भगवन् दीनां शोकानशनकशिताम् ॥ २० ॥

तब बात कहने में चतुर भरत जी ने हाथ जोड़ कर कहा—  
हे भगवन् ! जो यह दीन, शोक और उपास के कारण  
दुर्बल ॥ २० ॥

पितृहिं महिषीं देवीं देवतामिव पश्यमि ।  
एषा तं पुरुषव्याघ्रं सिंहविक्रान्तगामिनम् ॥ २१ ॥

मेरे पिता की पटरानी तथा देवता के समान देख पड़ती  
हैं, यही उन पुरुषमिष्ट पर विरमयुक्त सिंह की तरह चलने  
वाले ॥ २१ ॥

कौसल्या सुपुत्रे रामं धातारमदितियथा ।  
अस्या वामभुजं रिलथा यथा तिष्ठति दुर्मनाः ॥ २२ ॥

राम को प्रमथ करने वाली कौसल्या है। जैसे अर्दिनि  
ने प्रजापति को उत्पन्न किया था वैसे ही इन्होंने नरभेष्ट श्रीराम  
को उत्पन्न किया है और इनकी बाईं भुजा से लपटी हुई (अर्थात्  
सहारा लिये हुए) जो उदास खड़ी है ॥ २२ ॥

कणिकारस्य शाखेव शीर्णपुष्पा वनान्तरे ।  
 एतस्यास्तु मुता देव्याः कुमारौ देववर्णिनौ ॥ २३ ॥  
 उभौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ वीरौ सत्यपराक्रमौ ।

और जो कनेर वृक्ष की पुष्पहीन शाला की तरह देख पड़ती हैं, देवताओं के ममान दोनों वीर एवं सत्यपराक्रमी राजकुमार लक्ष्मण और शत्रुघ्न की जननी (सुमित्रा) हैं ॥ २३ ॥ २४ ॥

यस्याः कृते नरव्याधौ जीनवाशमितो गतौ ॥ २४ ॥  
 राजापुत्रविहीनश्च स्वर्गं दशरथो गतः ।  
 क्रोधनामकृतप्रज्ञां ह्यज्ञां सुभगमानिनीम् ॥ २५ ॥

हे मुनि ! जिमती वस्तुतः से उन दोनों पुरुषसिंहों का जीवन सङ्कट में पड़ा हुआ है तथा महाराज दशरथ पुत्रवियोग जनित शोकके कारण स्वर्गवासी हुए हैं; वह यही क्रोधना स्वभाव वाली, बुद्धिहीन गर्वोली अपने को सुभगा मानने वाली ॥ २५ ॥

ऐश्वर्यं कामां कैकेयीमनार्यामार्यरूपिणीम् २ ।  
 ममैतां मातरं विद्धि नृशंसां पापनिश्चयाम् ॥ २६ ॥

ऐश्वर्य प्राप्ति की चाह रखने वाली और असती हो कर भी अपने को सती समझने वाली, इस निष्ठुरा और पापिन कैकेयी को आप मेरी माता जानिए ॥ २६ ॥

१ सुभगमानिनीम्—सुभगासुन्दरीमात्मानमन्यत इति । २ आर्य-  
 रूपिणी—सर्तामिव प्रतिभासमाना । ( ४० )

यतोमूलं हि परयामि व्यसनं महदात्मनः ।

इत्युक्त्वा नरशादूलो वाष्पगद्गदया गिरा ॥ २७ ॥

स निशरयास ताभ्राजो नागः क्रुद्ध इव रमन् ॥ २८ ॥

इसीके कारण मुझको इस महादुःख में पड़ना पडा है । यह कह पुरुषसिंह भरत जी गद्गत् वाणी हो और लाल नेत्र कर, क्रुद्ध हुए नाग की तरह चार से साँस लेने लगे ॥ २७ ॥ २८ ॥

भरद्वाजो महर्षिस्त ब्रुवन्त भरतं तथा ॥

प्रत्युवाच महामुद्गिरिद वचनमर्थवत् ॥

न दोषेणानगन्तव्या कैऋयी भरत त्रया ॥ २९ ॥

तत्र भारी को जानने वाले महर्षि भरद्वाज ने भरत जी को इस प्रकार कहते देख, भरत जी से यह युक्तियुक्त वचन कहे—हे भरत ! तुम कैऋयी को दोषी मन ठहराओ ॥ २९ ॥

[ टिप्पणी भरत जी ने बड़े बड़े शब्दों में अपनी बननी कैऋयी की भर्त्सना करते हुए उक्त वचन दिया है । भरत जैसे मुखोल एवं धार्मिक व्यक्ति को सब लोगों की दृष्टि से गिराने वाली कैऋयी व पापकर्म को देखते हुए भरतजी के ये उद्गार अनुचित नहीं कहे जा सके । तथापि भरद्वाज जी को इन वचनों को मुन्य घोष हुआ था । इसी से उन्होंने भरत को ऐसे शब्द कहने की मना किया है । ]

रामप्रनाजनं क्षेतत्सुरोदकं<sup>२</sup> मन्निष्यति ।

देवानां दानयाना च ऋषीणा भारितात्मनाम् ॥ ३० ॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी का यह पत्र राम आगे चल कर मुझ प्रद होगा । देवों, देव, दानय और बड़े बड़े महर्षियों की ॥ ३० ॥

हितमेव भविष्यद्वि रामप्रव्राजनादिह ।

अभिवाद्य तु संसिद्धः<sup>३</sup> कृत्वा चैनं प्रदक्षिणम् ॥३१॥

श्रीरामचन्द्र के वनगमन से भलाई ही होगी । यह सुन, भरत जी ने भरद्वाज जी को प्रणाम किया तथा उनसे आशीर्वाद प्राप्त कर, उनकी परिक्रमा की ॥ ३१ ॥

आमन्त्र्य<sup>१</sup> भरतः सैन्यं युज्यतामित्यचोदयत् ।

ततो वाजिरथान्युक्त्वा दिव्यान्हेमपरिष्कृतान् ॥३२॥

अध्यारोहत्प्रयाणार्थी बहून् बहुभिधो जनः ।

रगजकन्या गजाश्चैव हेमकक्ष्याः<sup>३</sup> पताकिनः ॥३३॥

तदनन्तर भरत जी ने महर्षि से विदा माँग प्रार्थान करने के लिए तैयारी करने की सेना को आज्ञा दी । भरत जी की आज्ञा पा कर सब सैनिक घोड़ों पर तथा सुनहले रथों पर मवार हो, यात्रा करने लगे । सोने की जजीरों से कसी हुई अशारियों से तथा पताकाओं युक्त हथिनियों और हाथियों पर, वे लोग सवार हुए ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

जीमूता इव घर्मान्ते सघोषाः<sup>४</sup> सम्प्रतस्थिरे ।

विविधान्यपि यानानि महान्ति च लघूनि च ॥ ३४॥

प्रययुः सुमहार्हाणि पादरेव पदावयः ।

अथ प्रयानप्रवेकैस्तु कौसल्याप्रमुखाः द्वियः ॥ ३५ ॥

<sup>३</sup> संसिद्धः—लब्धाशीर्वादः । ( गो० )

<sup>१</sup> आमन्त्र्य—आप्रच्छय । ( गो० ) <sup>२</sup> गजकन्या.—करेखवः । ( गो० ) <sup>३</sup> हेमकक्ष्या.—हेममयग्रन्थारण्डवः । ( गो० ) <sup>४</sup> सघोषा.—घण्टाघोषयुक्ता । ( गो० ) <sup>५</sup> यानप्रवेकैः—यानोत्तमैः । ( गो० )

जिस प्रकार वर्षा के अन्त में जालों की गडगडाहट होती है, उसी प्रकार हाथिया और हथिनियों के चलते समय, उनकी पीठ पर लटकते हुए घटों का शब्द हो रहा था। इनके अतिरिक्त बड़ी छोटी तथा बटुमूँय और भा बटुन सां अनेक प्रकार की सवारियाँ थीं जिन पर सवार हो लाग चले जाते थे। जो पैदल चला करने थे, वे पैदल ही खाना हो गये थे। तदनन्तर कौमल्यादि सारियाँ उत्तम उत्तम सवारियाँ में बैठ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

रामदर्शनकाट्क्षिण्यः प्रययुर्मुद्रितास्तदा ।

चन्द्रार्कतस्याभामा नियुक्ता शिनिक्ता शुभाम् ॥३६॥

आस्थाय प्रययौ श्रीमान् भरतः सपरिच्छदः ।

सा प्रयाता महासेना गजराजिरथाकुना ।

दक्षिणा दिशमावृत्य महामैव इपोत्थितः ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र जा था दक्षिण की इन्द्रा से प्रमत्त होनी हुई चली जाती थी। सूर्य अथवा चन्द्रमा के समान]दभायुक्त पालका में बैठ सपरिवार भरत जी चले जाते थे। हाथी घोड़ों से युक्त यह महासेना वहाँ से दक्षिण दिशा को, मेघ की घटा की तरह उड़ती हुई, वहाँ से आगे चली ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

वनानि तु व्यतिक्रम्य जुष्टानि मृगपक्षिभिः ।

गङ्गायाः परवेलायां गिरिष्वपि नदीषु च ॥ ३८ ॥

उस समय यह सेना हिरनों और पक्षियों से भर हुए वना को तथा भागीरथी गङ्गा के पश्चिम तटवर्ती पहाड़ों और नदियों को समानो हुई, चली जाती थी ॥ ३८ ॥

सा सम्प्रहृष्टद्विपराजियोधा

त्रियामयन्ती मृगपक्षिमहान् ।

महद्वनं तत्प्रतिगाहमाना

राज सेना भरतस्य तत्र ॥ ३६ ॥

इति त्रिनवतितमः सर्गः ॥

उस सेना के हाथी और घोड़े बहुत प्रसन्न जान पड़ते थे, किन्तु वनवासी मृग-पक्षीगण इस सेना को देख कर भयभीत हो रहे थे। उस समय भरत जी की वह सेना, वन में प्रवेश कर, बड़ी शोभित हुई ॥ ३६ ॥

अयोध्याकाण्ड का द्वावें सर्ग समाप्त हुआ।

—\*—

त्रिनवतितमः सर्गः

—:०:—

तया महत्या यापिन्या ध्वजिन्या वनवासिनः ।

अर्दिता यूथरा मत्ताः सयूथाः सम्प्रदुद्रुवुः ॥ १ ॥

जब उस महासेना ने वन में हँसकर, प्रस्थान किया ; तब वनवासी मतवाले यूथपति हाथी पीड़ित हो, अपने अपने यूथों (कुंडों) को साथ ले, चारों ओर भागने लगे ॥ १ ॥

ऋक्षाः पूपतसङ्घाश्च स्तवश्च समन्ततः ।

दृश्यन्ते वनराजीषु गिरिष्वपि नदीषु च ॥ २ ॥

नदियों के तटों पर, पर्वतों के शिखरों पर तथा वनों में, रीढ़, चित्तल आदि वनवासी जन्तु विकल होकर इधर उधर भागते हुए देख पड़े ॥ २ ॥

स सम्प्रतस्थे धर्मात्मा प्रीतो दशरथात्मजः ।

श्रुतो महत्या नादिन्या सेनया चतुरङ्गया ॥ ३ ॥

दशरथनन्दन महात्मा भरत जी गर्जन करती हुई विशाल  
चतुरगिणी सेना के साथ प्रसन्न मन हो चलने लगे ॥ ३ ॥

सागरौघनिभा सेना भरतस्य महात्मनः ।

महीं संच्छादयामाम प्रावृषि घामिवाग्मुदः ॥ ४ ॥

जिम प्रकार वर्षास्रुतु में मेघमण्डल आनाश का ढक लेता है,  
वसी प्रकार महात्मा भरत जी की सागरोपम सेना, लहरो की तरह  
रमड़ती हुई, पृथिवी को आच्छादित करती चली जाती थी ॥४॥

तुरङ्गौघैरवतता वारणेश्च महज्रैः ।

अनालक्ष्या चिरं कालं तस्मिन् काले बभूव भूः ॥ ५ ॥

वहाँ की भूमि उन घोंकों और बड़े बड़े हाथियों से ऐसी ढक  
गई थी कि, बहुत देर तक दिग्बलाई हो नहीं पड़ी ॥ ५ ॥

स यात्रा दूरमघ्यानं सुपरिश्रान्तवाहनः ।

उवाच भरतः श्रीमान्बभिश्रुत् मन्त्रिणां वरम् ॥ ६ ॥

भरत जी जब बहुत दूर निकल गए, तब वाहनो को थकें हुए  
देख के मन्त्रिश्रेष्ठ बभिश्रु जी से कहने लगे ॥ ६ ॥

यादृशं लक्ष्यते रूपं तथा चैव श्रुतं मया ।

व्यक्तं प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमत्रगोन् ॥ ७ ॥

इस स्थान का जैसा रूप रग देग पड़ता है और जैसा कि  
इसके विषय में, मैंने सुन रखा है, इससे तो यही जान पड़ता है  
कि, हम लोग उस स्थान पर पहुँच गए, जो भरद्वाज जी ने  
बनलाया था ॥ ७ ॥

अथं गिरिदिचत्रहृत् इयं मन्दाकिनी नदी ।

एतत्प्रकाशते दृगक्षीलमेघनिर्भ वनम् ॥ ८ ॥



देखिये यह तो चित्रकूट पर्वत है और यह मन्दाकिनी नदी है और यही धन है जो दूर से नील भेद्य की तरह देख पड़ता है ॥ ८ ॥

गिरेः सानूनि रम्याणि चित्रकूटस्य सम्प्रति ।

वारणैरप्रमृद्यन्ते' मामकैः पर्वतोपमैः ॥ ८ ॥

यही चित्रकूट पर्वत के रमणीय शिखर हैं, जो मेरे पर्वत-सदृश ऊँचे हाथियों द्वारा मर्दित हो रहे हैं (अर्थात् साथ के हाथी उस रमणीयता को नष्ट कर रहे हैं) ॥ ८ ॥

मुञ्चन्ति कुसुमान्येते नगाः पर्वतसानुषु ।

नीला द्रातपापायेः तोयं तोयधरा घनाः ॥ १० ॥

यह देखिए, जिस प्रकार वर्षाकाल में सजल श्यामल मेघ-मण्डल जल वरमाता हैं, उसी प्रकार चित्रकूट के घुल, हाथियों की सूँड़ों के आघात से हिल कर, पर्वत के शिखरों पर पृजों की वर्षा कर रहे हैं ॥ १० ॥

किन्नराचरित देशं पश्य शत्रुघ्न पर्वतम् ।

भृगुः समन्तादाकीर्णं मकरैरिव सागरम् ॥ ११ ॥

हे शत्रुघ्न ! किन्नरों से सेवित स्थान की तरह, इस चित्रकूट पर्वत को देखो । जिस प्रकार समुद्र में मगर घूमा करते हैं, उसी प्रकार इस पर्वत पर जिधर देखो उधर भृगु समूह शोभायमान हो रहा है ॥ ११ ॥

१ अमृद्यन्ते—भज्यन्ते । (गो०) २ द्रातपापाये—वर्षाकाल ।

(गो०) ३ किन्नराचरितदेश—किन्नराचरितदेशरूप पर्वत । (गो०)

० पाठान्तरे—“किन्नराचरितोदेशः ।

एते मृगगणा भान्ति शीघ्रवेगाः प्रचोदिताः ।

वायुप्रविद्धा शरदि मेघरानिरिगम्परे ॥ १० ॥

शरत्काल म निम प्रकार वायु क वेग से प्ररत मेवममूह  
आशाश म सतो भन होना है उमी प्रकार हमारी सेना से प्रेरित  
हा यह मृगममू शोभाप्रमान हा रहा है ॥ १२ ॥

कुर्वन्ति शकुमुमापीडाञ्जिरःसु सुरमी नमीर ।

मेघप्रशाशः श्वनकैर्दक्षिणात्या यथा नरां ॥ १३ ॥

निम प्रकार दक्षिणी लाग अरत मत्तका का पूज का  
मालाओं से मनाग करते हैं—उवा प्रशर हमारे मैगिओं ने  
कुमुम के गुच्छों स अरत मत्तक मना लिए हैं ॥ १३ ॥

निष्कूनमिव भूत्वेद वन घोःप्रदग्जनम् ।

अयोध्वेय जनाशया मम्प्रति प्रतिमाति मा ॥ १४ ॥

हे शत्रुत 'देखा यह भय नक घन पदन केवा मॉय मॉय  
करता था किन्तु इन समय मग सेना का भाडभाड से यह  
अयाध्या जैना मारूम पडता है ॥ १४ ॥

गुरुदीरितो रेशुद्विषं प्रच्छाद्य तिष्ठति ।

त उदरपनिलः शीघ्रं कुर्वन्निव मम प्रियम् ॥ १५ ॥

घाड़ों क मुमा और वैत्रों के सुतों से उडारं हुई धूल आकाश  
में छा जाता है। किन्तु परत उमे शीघ्र हा हटा लेता है, मानों  
शत्रुओं के मानन ही स्यावट दूर कर, ( एम की पणशाना  
दिगा कर ) मुझे प्रमत्त करना जानता है ॥ १५ ॥

१ कुमुमरीदार—कुमुमरागगन् कुराः ॥ ( ग० ) अमी -पय  
( ग० ) १ उदरपनिल—उदर पणशानादि ॥ ( ग० )

स्यन्दनांस्तुरगोपेतान्सूतमुर्यैरधिष्ठितान् ।

एतान् सम्पततः<sup>१</sup> शीघ्रं परय शत्रुघ्न कानने ॥ १६ ॥

हे शत्रुघ्न ! देखो, वे घोड़े सारथी सहित रथों को लिए हुए इस वन में कैसे तेजी से दौड़े चले जा रहे हैं ॥ १६ ॥

एतान् विव्रासितान् पश्य बर्हिणः प्रियदर्शनान् ।

एतमाविशतः शीघ्रमधिवास पतत्रिणः<sup>२</sup> ॥ १७ ॥

यह देखो, सुन्दर और घड़े पर वाले मोर डर के मारे दौड़ कर इस पर्वत पर अपने निच स्थानों को कैसे जा रहे हैं ॥ १७ ॥

अतिमात्रमय देशो मनोज्ञः प्रतिभाति मा ।

तापसाना निवासोऽय व्यक्तं स्वर्गपथो<sup>३</sup> यथा ॥ १८ ॥

हे अनघ ! तपस्वियों के रहने का यह स्वर्ग जैसा स्थान, मुझे बड़ा मनोहर जान पड़ता है ॥ १८ ॥

मृगा मृगीभिः सहिता बहवः पृषता<sup>४</sup> वने ।

मनोज्ञरूपा लक्ष्यन्ते कुसुमैरिष विविताः ॥ १९ ॥

वहूत से चित्तीगर नरहरिन अपनी मादाओं के साथ घूमते हुए कैसे सुन्दर मालूम पड़ते हैं, मानों फूलों से इनकी चित्र विचित्र रचना की गई है ॥ १९ ॥

१ सम्पतत — सम्यग्गच्छत । (गो०) २ पतत्रिण प्रशस्तन्दानि  
तिर्वाहावशात् । (गो०) ३ स्वर्गपथावया—स्वर्गप्रदेश इव । (गो०)  
४ पृषता—विट्मृगा । (गो०)

१साधुर्मेन्याः प्रतिघ्नन्तौ२ विचिन्वन्तु च कानने ।

यथा तौ पुरुषभ्यार्घां दृश्येते रामलक्ष्मणौ ॥ २० ॥

योग्य सैनिक वन में जा कर पता लगाने निमित्त वे दोनों पुरुषसिंह श्रीराम लक्ष्मण जिम जगह रहते हों वह स्थान मिल जाय ॥ २० ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा पुरुषाः शस्त्रपाणयः ।

विमिश्रुस्तद्धन शूरा धृमाग्र३ ददृशुस्ततः ॥ २१ ॥

भरत जी का वचन सुन, अपने अपने शस्त्रों के हाथ में लिए हुए वीरों ने वन में प्रवेश किया और कुछ ही दूर जा कर, एक स्थान पर उन्होंने धूमशिंगा देखी ॥ २१ ॥

ते ममालोक्य धृमाग्रमृचुर्भरतमागताः ।

नामनुष्ये भरत्यग्निर्व्यक्तमत्रैव राघवौ ॥ २२ ॥

उस धूमशिंगा को देख, उन लोगों ने लौट कर, भरत जी से कहा, इस स्थान में मनुष्य को छोड़ अग्नि बौन जला सकता है । अतः जान पड़ता है, वे दोनों भाई वहाँ रहते हैं ॥ २२ ॥

अथ नात्र नरव्याघ्रौ राजपुत्रौ परन्तपौ ।

अन्येऽ रामोपमाः मन्ति व्यक्तमत्र तपस्विनः ॥ २३ ॥

यदि शत्रुदमनकारी पुरुषसिंह श्रीराम तथा बलवान लक्ष्मण न भी हों, तो श्रीराम के समान कोई अन्य नरव्याघ्री यहाँ रहने हैं ( अर्थात् यदि श्रीराम न भी हों तो यहाँ चलने में श्रीराम के रहने के स्थान का पता मो अत्रैव ही चल जायगा ) ॥ २३ ॥

१ साधुर्मेन्य — उचिता है नसा । (गि०) २ प्रतिघ्नन्तौ—गण्डविन्दवर्षः (गि०) ३ धृमाग्र—धूम शिंगा । (गि०) ० पाठान्ते—“मग्य”

तच्छ्रुत्वा भरतस्तेषां वचनं माधुमन्मतम् ।

सैन्यानुयाच सर्वांस्तानमित्रबलमर्दनः ॥ २४ ॥

शत्रुओं के पल को मथन करने वाले भरत जी, उन सैनिकों का यह शिष्टसम्मत वचन सुन, उन सब से कहने लगे ॥ २४ ॥

यत्ता<sup>१</sup> भवन्तन्तिष्ठन्तु नेतो गन्तव्यमग्रतः ।

अहमेव गमिष्यामि सुमन्त्रो गुरुरेव च ॥ २५ ॥

अच्छा तो अब आप लोग यहीं ठहरे रहिए । यहाँ से आगे न दटिए । सुमन्त्र और गुरु, वसिष्ठ जी को साथ ले, मैं ही आगे जाऊँगा ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वास्ततः सर्वे तत्र तस्थुः समन्ततः ॥

भरतो यत्र धृमाग्रं तत्र दृष्टिं ममादधे ॥ २६ ॥

जब भरत जी ने उनसे इस प्रकार कहा, तब वे सब उसी पर दृष्टि उधर ठहर गए । तदनन्तर भरत जी ने उन ओर देखा, जिस ओर धुआँ उठता दिखलाई पड़ता था ॥ २६ ॥

व्यवस्थिता या भरतेन सा चमूः

निरीक्षिताऽपि च धूममग्रतः ।

बभूव हृष्टा न क्षिरेण जानती ।

प्रियस्य रामस्य समागमं तदा ॥ २७ ॥

उन समय भरत जी के कहने से वे सब सैनिक यहीं टिक रहे और उम धुएँ को उठते देख, वे जान गए कि, अब परम प्रीति

१ यत्ताः—नि शब्दाः । (गा०) • पाठान्तरे—“तमादर्षी” “तमाद्घात” ।

भाजन श्रीरामचन्द्र जी के माथ ममागम होने पर बहुत जिलम्प  
नहीं है। यह विचार कर, वे ह्वित हो गए ॥ २७ ॥

अयो-चारुण्ड का निरानवेयां मार्ग मनाज हुआ ।



## चतुर्नवतितमः सर्गः

— ० —

दीर्घकालोपितस्तम्भिन् गिरौ गिरिपुत्रप्रियः ।

वैदेह्याः प्रियमाकाङ्क्षन् स्वं च चित्तं विलोभयन् ॥ १ ॥

अथ दाशरथिचित्रं चित्रमृष्टमदर्शयत् ।

भार्थामरमद्काशः शर्चामिव पुरन्दरः ॥ २ ॥

उपर श्रीरामचन्द्र जी को उस परत पर रहते बहुत दिन हो  
चुके थे । वे सीता का तथा अपना मन बढलाने के लिए, सीता को  
चित्रमृष्ट की शोभा दिग्गला रहे थे । उस समय उन दोनों की वैसी  
ही शोभा हो रही थी, जैसी इन्द्र और इन्द्राणी की होती है ॥१॥२॥

न राज्याद्भ्रंशन भद्रे न सुहृद्भिर्निनामयः ।

मनो मे वाधने दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम् ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी बोले—हे भद्रे ! इस रमणीय पर्वत की शोभा  
देखने से, राज्यानाश एवं सुहृद्वियोगजन्य दुःख मुझे अब नहीं  
मताता ॥ ३ ॥

पश्येममचलं भद्रे नानाद्विजगणापुत्रम् ।

शिरसः खमिगोद्विर्द्ध धातुमद्भिर्निभूषितम् ॥ ४ ॥

हे भद्रे ! नाना प्रकार के पक्षियों से परिपूर्ण, और गगनस्पर्शा एव तरह तरह की धातुओं से युक्त शिखरों से विभूषित इस पर्वत की शोभा तो देखो ॥ ४ ॥

केचिद्रजतमङ्काशाः १केचित्क्षतजसन्निभाः ।

पीतमाञ्जिष्ठवर्णाश्च केचिन्मणिवरप्रभाः ॥ ५ ॥

इस पर्वत के कोई कोई शृङ्ग तो चाँदी जैसे सफेद और चमकीले हैं और कोई कोई रक्त की तरह लाल हैं, कोई कोई पील और मज्जीठ के रंग जैसे जान पड़ते हैं और कोई उत्तम मणियों की प्रभा जैसे चमकीले देख पड़ते हैं ॥ ५ ॥

पुष्पार्कःकेतनाभाश्चकेचिज्ज्योतीरसप्रभाः ।

विराजन्तेऽचलेन्द्रस्य देशा धातुविभूषिताः ॥ ६ ॥

इस पर्वत के धातुओं से विभूषित शृङ्ग पुष्पराग, स्फटिक केतकी और पारे के समान रंगवाले और नक्षत्रों की तरह चमकीले देख पड़ते हैं ॥ ६ ॥

नानामृगगणद्वीपितरदृक्षगणैर्दृतः ।

६अद्दुष्टैर्भक्तियं शैलो बहुपक्षिसमायुतः ॥ ७ ॥

यद्यपि यह पर्वत अनेक प्रकार के छोटे बड़े व्याघ्रों और शीश्यों से परिपूर्ण है, तथापि तपस्वियों के तपःप्रभाव से इन भयङ्कर जन्तुओं ने अपना दुष्ट हिंसालु-स्वभाव त्याग दिया है । इस पर्वत पर वे ही तरह के पक्षी अपने अपने घोंसले बना कर, निवास कर रहे हैं ॥ ७ ॥

१ क्षतज—क्षिप्र । ( गो० ) २ अर्क—स्फटिक । ( गो० ) ३ केतनाभा - ईषत्पण्डुराः । ( गो० ) ४ द्वीपा—महाव्याघ्र । ( गो० ) ५ तरलु—क्षुद्रव्याघ्र । ६ अद्दुष्टैः—हिंसादिदोषरहितैः । ( गो० )

आम्रजम्ब्यमनलीत्रैः प्रियालैः पनसैर्ध्रुवैः ।

अङ्गोलैर्भव्यतिनिगेर्निन्दुस्त्रवेणुभिः ॥ ८ ॥

काश्र्मर्यरिष्टपरुणैर्मधुमैस्त्विलकैस्तथा ।

वदयामलकैर्नीपैर्वेत्रधन्वनवीजकैः ॥ ९ ॥

पुष्पाङ्घ्रिः फलोपेतश्चायाङ्घ्रिर्मनोरमः ।

एवमादिभिराफीर्णैः श्रिय पुष्यस्यय गिरिः ॥ १० ॥

आम, जामुन, अमना, लाध, चिराची, कटहर, ठाक, अकालि, भज्य, निनिश, त्रिप, निन्दु ( तेंदुआ ) वाँस, काशमीरी नीम, सन्नुआ, महुआ, तिलक, घेर, आँजला, कश्म्व, वेत, निजौरा, नीनू आदि ले कर और अनक प्रकार के फूल फलों वाल और छायायुक्त मनोहर पृष्ठों के समूहों से भरा पुरा यह पर्वत शोभायमान है ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

शैलप्रस्थेषु रम्येषु पश्यमान् रोमहर्षणान् ।

किन्नरान् द्वन्द्वशो भद्रे रममाणान् मनस्विनः ॥ ११ ॥

हे भद्रे ! हम पर्वत के रमणीय शिखरों पर शरीर पुलकित करने वाले स्थानों को देखना । यहाँ मनस्वी किन्नर लोग अपनी अपनी किन्नरियों के साथ विहार कर रहे हैं ॥ ११ ॥

शाखावमक्तान् सङ्गाथ प्रवराण्यम्बराणि च ।

पश्य विद्याधरस्त्रीणां क्रीडोद्देशान् मनोरमान् ॥ १२ ॥

देखो वन्हीकी के तलवारों और सुन्दर रंग विरंग पहिने के कपड़ पृष्ठों की ढालियों में लटक रहे हैं । इन विद्याधरों की स्त्रियों के मनोहर प्राङ्गारणों को देखो ॥ १२ ॥



जलप्रपातैरुद्भेदेनिप्यन्दैश्च क्वचित्क्वचित् ।

सत्रद्धिर्भात्ययं शैलः सन्नमद इव द्विपः ॥ १३ ॥

स्थान स्थान पर जल के ऋतने और जमीन से निकले हुए जल के मोते वह रहे हैं। इनसे यह पर्वत मद चुआने वाले गजेन्द्र की तरह शोभायमान हो रहा है ॥ १३ ॥

गुहासर्मारखी गन्धान्नानापुष्पभवान् वहन् ।

प्राणतर्पणमभ्येत्य कं नरं न प्रहर्षयेत् ॥ १४ ॥

पवत की वन्दराओं से निकला हुआ नाना पुष्पों की सुगन्धि से युक्त पवन जो नासिका को वृत्त कर रहा है, वह किसके मन को हर्षित नहीं करेगा ? ॥ १४ ॥

यदीह शरदोऽनेकास्त्वया सार्धमनिन्दिते ।

लक्ष्मणेन च वत्स्यामि न मां शोकः प्रधत्स्यति ॥ १५ ॥

हे अनिन्दिते ! यदि तुम्हारे और लक्ष्मण के साथ बहुत वर्षों तक भी मुझे वहाँ रहना पड़े तो भी मुझे जरा सा भी शोक सन्ताप नहीं सतावेगा ॥ १५ ॥

बहुपुष्पफले रम्ये नानाद्विजगणायुते ।

विचित्रशिखरे ह्यस्मिन् रतवानस्मि भामिनि ॥ १६ ॥

हे भद्रे ! अनेक प्रकार के पुष्पों और फलों से सम्पन्न, अनेक जाति के पक्षियों से परिपूर्ण और विचित्र शिखरों से युक्त यह रमरीश चित्रकूट मुझे बड़ा पसन्द है ( अर्थात् चित्रकूट में रहने से क्या मेरा जी नहीं उबेगा ) ॥ १६ ॥

अनेन वनवासेन मया प्राप्तं फलद्वयम् ।

पितृश्वानृणता धर्मो भरतस्य प्रियं तथा ॥ १७ ॥

इम वनवाम से मुझे दो फल मिलें । एक तो धर्म सम्बन्धी फल अर्थात् पिता के श्रृंग से उच्छृणु होना और दूसरा फल भरत जी को प्रसन्न करना ॥ १७ ॥

वैदेहि रमसे कञ्चिच्चित्रकूटे मया मह ।

परयन्ती त्रिभिधान् भावान् मनोमाहायसंयतान् ॥ १८ ॥

हे वैदेही ! मेरे साथ चित्रकूट पर्वत पर, मन, वचन और देह को बश में करालेने वाले इन विविध साधनों को देख, तेरा मन प्रसन्न होता है कि नहीं ? ॥ १८ ॥

इदमेवामृतं प्राहु राज्ञि राजर्षयः परे ।

वनवासं भगार्थाय प्रेत्य मे प्रपितामहाः ॥ १९ ॥

हे राज्ञि ! इस प्रकार नियमपूर्वक वनवाम राजाओं के लिए मोक्ष का साधन कहा जाता है । यही नहीं बल्कि हमारे मन्वादि पूर्वपुरुषों ने देवाद की देह प्राप्ति के लिए भी, वनवाम ही को उत्कृष्ट साधन माना है ॥ १९ ॥

शिलाः शैलम्य शोभन्ते विशालाः शतशोऽभितः ।

बहुला बहुलैरेणैर्नीलिपीतमितारुणैः ॥ २० ॥

देवो, इस पर्वत की सैकड़ों विशाल शिलायें, नीली, पीली, सफेद आदि विविध रंगों की हैं; चारों ओर कैसी शोभा दे रही है ॥ २० ॥

निशि भान्त्यचलेन्द्रस्य द्रुताशनशिखा इव ।

श्लोषयः स्वप्रमालय्या भ्राजमानाः सहस्रशः । २१ ॥

१ अमृतप्राहुः—मोक्षसाधन प्राहुः । ( रा० ) २ प्रेत्यमवार्थाय—  
देवादिदेहान्तरारिप्रहरूपप्रयोजनाय च प्राहुः । ( गो० )

इस पर्वत पर उत्पन्न हजारों वृष्टियाँ, रात के समय अपनी प्रभा से दीप्त हो, अग्निशिखा की तरह प्रकाश कर, शोभायमान होती हैं ॥ २१ ॥

केचित्क्षयनिभा देशाः केचिदुद्यानमग्निनाः ।

केचिदेकशिला भान्ति पर्वतस्यान्य भामिनि ॥ २२ ॥

हे भामिनि ! दूखा इन पर्वत पर कोई स्थान तो घर जैसा, कोई फुलवाही जैसा और कोई स्थान एक ही शिला का टिखलाई पत्ता है। ये सभी इन पर्वत की शोभा को बढ़ाने वाले हैं ॥ २२ ॥

मित्त्वेव वसुधां भाति चित्रकूटः समुत्थितः ।

चित्रकूटस्य कूटोऽसौ दृश्यते सर्वतः शुभः ॥ २३ ॥

ऐसा जान पड़ता है मानों यह चित्रकूट पर्वत पृथिवी को फोड़ कर निकला हो। इस पर्वत का अग्रभाग चारों ओर से कैसा मुहावना जान पड़ता है ॥ २३ ॥

बुध्पुत्रागस्थगरभूर्जपत्रोत्तरच्छदान् ।

कामिनां १स्वास्तरान् पश्य बुध्पुत्रयदलायुतान् ॥ २४ ॥

हे भद्रे ! कामी लोगों के इन विद्वानों को तो देखो। इनके नीचे तो कमलों के पत्ते विछे हैं और पत्तों के ऊपर कूट, पुत्रजीवक और भोजपत्र की छालें बिछी हुई हैं ॥ २४ ॥

मृदिताश्वापदिद्धाश्च दृश्यन्ते कमलस्रजः ।

कामिभिर्वनिते पश्य फलानि विविधानि च ॥ २५ ॥

यह देखो कामी जनों की पहनी हुई और कुम्हलाई तथा त्यागी हुई कमल के पूजों की मालाएं, इपर उधर पड़ी हैं और उन लोगों के साथ हुए अनेक प्रकार के फल पड हैं ॥ २५ ॥

वस्वोऽमारां नलिनीम, त्येतीपोत्तरान् दुरुन् ।

परिवाश्चित्रकूटोऽर्मा बहुमूलकलोदरः ॥ २६ ॥

विभिन्न प्रकार के बन्द कल और स्वच्छ जल सम्पन्न चित्रकूट पर्वत ने, रमणीयता में कुबेर की अलहापुरी, इन्द्र की अमरावती और उत्तरकुण्डेश को माल कर दिया है ॥ २६ ॥

इमं तु कालं वनिते विप्रहिमां<sup>२</sup>

स्त्वया च सीते मह लक्ष्मणेन च ।

३रतिं प्रपत्स्ये ऋकुलधर्मपर्यर्नी

सतां पथि र्स्वर्नियमः परैः स्थितः ॥ २७ ॥

इति चतुर्नवतितमः सर्गः ॥

हे सीते ! यदि मैं मजनों के मार्ग पर स्थित हो, अपने श्रेष्ठ नियमों का पालन करता हुआ, तुम्हारे और लक्ष्मण के साथ, चौदह वर्षों तक यहाँ रह पाया, तो पीछे प्रजापालन स्त्री धर्म को बढ़ाने वाला राज्यसुख मुझे अशक्य प्राप्त होगा ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौरानवर्षों सर्ग समाप्त हुआ ॥

—•—

१ अलंतीव—रमणीयवाद्यदिप्रामाण्य । (गो०) २ विशद्वान्—विद्वत्तान् । (गो०) ३ रतिं—गम्यसुखं । ४ कुलधर्म—प्रजापालनं । (गो०)

# पञ्चनवतितमः सर्गः

—०:०—

अथ शैलाद्विनिष्क्रम्य मैथिलीं कोमलेश्वरः ।

अदर्शयच्छुभजलां रम्यां मन्दाकिनीं नदीम् ॥ १ ॥

उदनन्तर कोशलपति श्रीरामचन्द्र जी पर्वत की शोभा दिखाने से निवृत्त हो और पर्वत से निकल निर्मल जल वाली रमणीय मन्दाकिनी नदी दिखाने लगे ॥ १ ॥

अत्रवीच वरारोहां चारुचन्द्रनिमाननाम् ।

विदेहराजस्य सुतां रामो राजीवलोघनः ॥ २ ॥

कमलनयन श्रीरामचन्द्र चन्द्रना के समान सुन्दर सुसवाली स्त्रियों में श्रेष्ठ जनकतनया से बोले ॥ २ ॥

विचित्रपुलिनां रम्यां हंससारससेविताम् ।

कमलैरुपसम्पन्नां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ३ ॥

हे वैदेही ! इस विचित्र तट वाली, रमणीय और हंस सारसादि पक्षियों से सेवित मन्दाकिनी नदी को देखो ॥ ३ ॥

नानाविधैस्तीररुहैर्घृतां पुष्पफलद्रुमैः ।

राजन्तीं राजराजस्य नलिनीमिव सर्वतः ॥ ४ ॥

इस नदी के उभय तट फल फूल वाले अनेक जाति के वृक्षों से परिपूर्ण है । उनसे इस नदी की शोभा वैसी ही हो रही है जैसी कि कुवेरुनी सौगन्धिका नाम्नी नदी की ॥ ४ ॥

---

१ राजराजस्य—कुवेरस्य । (गो०) २ नलिनी—सौगन्धिक सरसी । (गो०)

मृगयूथनिपीतानि कलुषाम्भामि साम्प्रतम् ।

तीर्थानि रमणीयानि रवि' सन्नयन्ति मे ॥ ५ ॥

इस नदी के सत्र घाट बड़ रमणीय हैं । अत वहाँ जा कर स्नान करने की मेरी इच्छा हा रही है । अभी मृगा के मुटु इन घाटों पर जल पी कर गए हैं । अत वहाँ का जल गँदला हो रहा है ॥ ५ ॥

जटाजिनवराः शले' वल्कलोत्तरयामसः ।

ऋषयस्त्वयगाहन्ते' नदीं मन्दाग्निनीं प्रिये ॥ ६ ॥

हे प्रिये ! देवो, जटा श्रीर मृगचर्म धारण किए और वृत्तो की धाल पहिने, हुय ऋषि लोग, इस नदी में यथाममय स्नान करते हैं ॥ ६ ॥

आदित्यमुपतिष्ठन्ते नियमादर्घ्नाहनः ।

एते परे विशालाक्षि मुनयः सशितप्रताः' ॥ ७ ॥

हे विशालाक्षि ! इस ओर के सत्र तीर्थण नियमा का पालन करने वाले मुनिगण नियमानुसार ऊपर का बाँह उठा कर सूर्य भगवान का उपस्थान कर रहे हैं ॥ ७ ॥

५ भास्वतोद्भूतशिरारैः प्रनृत्त इव पर्वतः ।

पादपैः पत्रपुष्पाणि सृजद्भिरभितो नदीम् ॥ ८ ॥

देवो पवन से सम्वित इन वृत्तों के हिलने से यह पर्वत नाचना हुआ सा मालूम पड़ता है । वृत्तों के हिलने से उनके जो

१ रवि — अत्रगाहनाकरना प्राप्ति । ( गा० ) २ शले — रानिय मोचितकाले । ( गा० ) ३ अदगाहन् — मञ्जित । ( गा० ) ४ शाय-  
तनना — तीर्थनियमा । ( गो० ) ५ भास्वतोद्भूत शिरारै — वायु  
कभितशारे । ( गा० )

पुष्प गिरते हैं, उनसे चित्रकूट पर्वत नानो नदी को पुष्पाञ्जलि दे रहा है ॥ ८ ॥

कचिन्मणिनिकाशोदां कचित्पुलिनशालिनीम् ।

कचित्सिद्धजनाकीर्णां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥९॥

हे भद्रे ! देखो कहीं तो मन्दाकिनी का जल भाँप ही तरह उज्वल है, कहीं कहीं रेत शोभा दे रहा है और कहीं कहीं सिद्ध लोगों की भीड़ लगी है ॥ ९ ॥

निर्धृतान् वायुना पश्य विततान्पुष्पसञ्चयान् ।

पोप्लूयमानानपरान् पश्य त्वं जलमध्यगान् ॥ १० ॥

हे भद्रे ! वायु के झोकों में नदी के तट पर बिखरे हुए पुष्पों के ढेर को देखो । जो फूल जल में उड़ कर जा गिरे हैं, वे पानी पर कैसे उतरा रहे हैं, उन्हें भी तुम देखो ॥ १० ॥

१ तांश्चातिवल्गुवचसोर रथाङ्गाह्वयना द्विजाः ।

अधिरोहन्ति कल्याणि विकृजन्तः शुभा गिरः ॥११॥

हे कल्याणि ! फूलों के ढेरों पर चढ़े हुए चक्रवाक रति के लिए अपनी मादाओं को बुलाने के हेतु कैसी मधुर बोली-बोल रहे हैं ॥ ११ ॥

दर्शनं चित्रकूटस्य मन्दाकिन्याथ शोभने ।

अधिकं पुत्रासाद्य मन्ये तव च दर्शनात् ॥ १२ ॥

हे शोभने ! इस चित्रकूट पर्वत और मन्दाकिनी नदी के देखने से और तुम्हारे साथ रहने से मुझे अयोध्यापुरी में रहने से भी बड़ कर, यहाँ मुख जान पड़ता है ॥ १२ ॥

१ तान्—पुष्पसञ्चयान् । ( गी० ) २ वल्गुवचसः—रथयाह्वानक-  
लिकरम्वचसः । ( गी० )

विधूतकलुषैः सिद्धैस्तपोदमशमान्धितैः ।

१ नित्यविद्योभितजलां विगाहस्य मया सह ॥ १३ ॥

हे सीते ! अब तुम इस मन्दाकिनी नदी में, जिसमें शम, दम और तप से युक्त पर पापरहित मित्रलोग नित्य स्नान किआ करते हैं, चल कर मेरे साथ स्नान करो ॥ १३ ॥

२ सखीवच विगाहस्य सीते मन्दाकिनीं नदीम् ।

३ कमलान्ययमज्जन्ती पुष्कराणि च भामिनि ॥१४॥

हे सीते ! तुम जैसे अपनी सखियों के साथ निःशङ्क जलक्रीड़ा करती थी, वैसे ही मेरे साथ भी इस मन्दाकिनी में लाल सफेद कमल के फूलों को डुबोती हुई जलक्रीड़ा करो ॥ १४ ॥

[ टिप्पणी—लाल सफेद कमल के फूलों से भूषणटीकाकार ने यह अभिप्राय बतनाया है—

स्तनत्रयनापातननिततरुर्नै रितिभावः.

किन्तु शिरोमण्डीकाकार का कथन है कि, क्रीड़ा के लिए लाल सफेद रंग के कमलों से मन्दाकिनी के जल को ढक दो ।

त्वं पौरजननद्द्व्यालानयोष्यामिष पर्वतम् ।

मन्यस्य वनिते नित्यं सरयूरदिमां नदीम् ॥ १५ ॥

१ नित्यविद्योभितजला—सदातनुस्नानेनतपादरेरुषन्व्यामन्दाकिनीं ।

( गो० ) २ सखीवच—सख्यावधायलिनमनगाहने तथा मया सह विगाहस्य । ( गो० ) ३ कमलानि—रत्नानि । ( गो० ) ४ पुष्कराणि—सिताम्भोवनि । ( गो० ) ५ व्यालान्—वनचयान् । ( टि० )



हे प्रिये ! तुम यहाँ के वनवासियों को अयोध्यावासी, इस पर्वत को अयोध्या और मद्राक्षिणी को सरयू समझो ॥ १५ ॥

लक्ष्मणश्चापि धर्मात्मा मन्निदेशे व्यवस्थितः ।

त्व चानुकूला वेदेहि प्रीतिं जनयतो मम ॥ १६ ॥

हे वैदेही ! यह धर्मात्मा लक्ष्मण मेरे आज्ञाकारी हैं और तुम भी सदा मेरी आज्ञा के अनुसार काम किया करती हो । इनसे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है ॥ १६ ॥

उपस्पृशस्त्रिपरंशं मधुमूलफलाशनः ।

नायोध्याये न राज्याय स्पृहयेद्य त्वया सह ॥ १७ ॥

त्रिफल स्नान और तुम्हारे साथ मधु मूल और फल का भोजन करता हुआ, मैं, अयोध्या के वास की और राज्य की प्राप्ति नहीं करता ॥ १७ ॥

इमां हि रम्यां मृगयूथगालिनीं

निपीततोयां गजसिंहानरेः ।

सुपुष्पितेः पुष्पधरेरलंकृतां

न मोऽस्ति यः स्यादगतकलमः सुखी ॥ १८ ॥

जो गनों के यूथों से युक्त है और जिसका जल हाथी, सिंह और बंदर पिया करते हैं, उस रमणीय एवं सुन्दर पुष्पों से युक्त वृक्षों द्वारा शोभित मद्राक्षिणी नदी का सेवन कर, वह कौन पुरुष है जो दुःखों से छूट, सुखी न हो ? ॥ १८ ॥

१ उपस्पृशन्—स्नान कृत्वा । ( गो० ) २ निपद्य—निष्कन्धम् ।

इतीर रामो बहुमंगलं१ उचः

प्रियामहायः मरितं प्रति ब्रुवन् ।

चचार रम्यं नयनाञ्जनप्रमं

स चित्रकूटं रघुमंगलार्थनः ॥ १६ ॥

इति पञ्चमस्कन्धस्य अष्टमोऽध्यायः ॥

रघुव शत्रुघ्न ने श्रीरामचन्द्र ने सीता की से मंदाकिनी नदी के समन्त में इस प्रकार की बहुत सी उत्तम बातें कहीं । तदनन्तर मम गमणीय और नील वर्ण चित्रकूट पर्वत पर सीता को साथ लिए हुए वे विचरने लगे ॥ १६ ॥

अयोध्याराज्य का पञ्चाननेरों मार्ग सम्पन्न हुआ ।

— ० —

## परणवतितमः सर्गः

— १ —

तां तथा दर्शयित्वा तु मैथिलीं गिरिनिम्नगाम् ।

निपमाद् गिरिप्रस्थे२ सोतां मांसेन च्छन्दयन्३ ॥१॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जो सीता को मंदाकिनी नदी की शोभा दिखाकर, पर्वत की णक शिखा पर बैठ गए और सीता के घनाए या पत्राज ) मीम को खादिष्ट बनला, सीता को प्रमत्त करने लगे ॥ १ ॥

१ इतीर—एतच्छ्रुत्वा । ( शि० ) २ ममन्त—सम्पन्न । ( शि० ) ३ नयनाञ्जनप्रम—नयनसुशोभित । ( शि० ) ४ गिरिप्रस्थ—पर्वतशिखरा । ( शि० ) ५ च्छन्दयन्—दृष्टिमुत्पादयन् । ( शि० )

इदं मेघ्यमिदं स्वादु निष्टमिदमग्निना ।

एवमास्ते स धर्मात्मा सीतया सह राघवः ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने सीता से कहा—देखो, यह नांस पवित्र है और अग्नि में भूजने से यह स्वादिष्ट हो गया है श्रीरामचन्द्र जी सीतासहित वहाँ बैठे हुए बातचीत कर रहे थे कि, ॥ २ ॥

तथा तत्रासतस्तस्य भरतस्योपयागिनः ।

सैन्यरेणुश्च शब्दश्च प्रादुरास्तां नमःस्पृशौ ॥ ३ ॥

इतने में उनके पाम आती हुई भरत जी की सेना के चलने से उड़ो हुई आकाश को छूती हुई धूल देस पड़ी और कोलाहल सुनाई दिआ ॥ ३ ॥

एतस्मिन्नन्तरे त्रस्ताः शब्देन महता ततः ।

अदिता यूथपा मत्ताः सयूथा दुद्रुवुर्दिशः ॥ ४ ॥

उस महाकोलाहल से त्रस्त हो, बड़े बड़े यूथपति गजेन्द्र विकल हो अपने अपने यूथों को ले इधर उधर भागने लगे ॥४॥

स तं सैन्यसमुद्भूतं शब्दं शुश्राव राघवः ।

तांश्च विप्रद्रुतान् सर्वान् यूथपानन्ववैक्षत ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उस सेना के कोलाहल को सुना और हाथियों को भागते हुए देखा ॥ ५ ॥

तांश्च विद्रवतो दृष्ट्वा तं च श्रुत्वा च निःस्वनम् ।

उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं दीप्ततेजसम् ॥ ६ ॥

उन हाथियों को भागते देख और सेना का कोलाहल सुन श्रीरामचन्द्र जी ने तेजस्वी लक्ष्मण से कहा ॥ ६ ॥

हन्त लक्ष्मण पश्येह सुमित्रा सुप्रजास्त्वया ।

भीमस्तनितगम्भीरस्तुमुलः श्रूयते स्वनः ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण ! तुमसे पुत्र को पा कर सुमित्रा देवी सुप्रजवती है । देयो तो, यह भयङ्कर वादल की गडगडाहट जैसे गम्भीर एवं तुमुल शब्द वहाँ सुन पड़ता है ॥ ७ ॥

गजपूथानि वाजरण्ये महिषा वा महारणे ।

त्रिनामित्रा मृगाः मिहैः सहसा प्रद्रुता दिशः ॥ ८ ॥

जिसको सुन, सघन वनवासी हाथियों के झुट, जंगली भँसे और मृगों के झुट मिहों सहित भयभीत हो घड़ी तेजी से हर उधर भाग रहे हैं ॥ ८ ॥

राजा वा राजमात्रो वा मृगयामटते वने ।

अन्यद्वा शपदं किञ्चित्मामित्रे ज्ञातुमर्हमि ॥ ९ ॥

क्या कोई राजा या राजा के समान कोई पुरुष वन में शिकार खेलने आया है ? अथवा कोई महाभयङ्कर और घातक जन्तु इस वन में आ गया है ? हे लक्ष्मण ! जरा इस बात का पता तो लगाओ ॥ ९ ॥

सुदुरचरो गिरिशायं पविणामपि लक्ष्मण ।

सर्वमेतद्यथातरमचिराज्ज्ञातुमर्हमि ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण ! इस जंगल पर अतः पत्नी भी तो भली माँति नहीं घूम सकते । अतएव तुम शीघ्र इस बात का ठीक ठीक पता लगाओ ॥ १० ॥

स लक्ष्मणः सन्तरितः सालमारुह्य पुष्पितम् ।

प्रक्षमाणो दिशः सर्वाः पूर्वां दिशमुदेक्षत ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का ऐसा वचन सुन लक्ष्मण जी तुरन्त एक फूले हुए साल वृक्ष पर चढ़ गए और चारों ओर देखते हुए उन्होंने प्रथम पूर्व दिशा की ओर देखा ॥ ११ ॥

तदङ्मुखः प्रक्षमाणो ददर्श महतीं चमृम् ।

रथाश्चगजसम्याधां यत्तैर्युक्ताः पदातिभिः ॥ १२ ॥

फिर उत्तर दिशा की ओर देखने पर, उन्हें हम ओर एक बड़ी सेना, जिममें हाथियों घोड़ों, रथों और सजे सजाए पैदल सिपाहियों की भीड़ देख पड़ी ॥ १२ ॥

तामश्वगजसम्पूर्णां रथध्वजनिभूषिताम् ।

शशंस सेनां रामाय वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

हाथियों घोड़ों से युक्त, रथ की पताकाओं से भूषित, हम सेना का वृत्तान्त निवेदन करते हुए, लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ १३ ॥

अग्निं संशमयत्वार्यः सीता च भजतां गुहाम् ।

मज्यं कुरुष्व चापं च शरांश्च कवचं तथा ॥ १४ ॥

आप अग्नि बुझा दीजिए, सीता जी से कहिए कि वे गुफा के भीतर जा बैठें और आप कवच पहिन लीजिये तथा धनुष बाणों को सम्हालिए ॥ १४ ॥

तं रामः पुरुषव्याघ्रो लक्ष्मणं प्रत्युवाच ह ।

अद्भुतचित्तस्य मौमित्रे कस्येमां मन्यसे चमृम् ॥ १५ ॥

यह सुन पुरुषमिह श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा,  
हे बलम मौमित्र ! ध्वज चिह्ना को देख यह तो निश्चय करो कि,  
यह सेना है किसकी ? ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।

दिग्घच्चित्रं तां सेनां रूपितः पापसौ यथा ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे वचन सुन, लक्ष्मण जी क्रोध के  
मारे अग्नि के समान हो, उस सेना को मानों भस्म कर डालने  
के लिए यह बोले, ॥ १६ ॥

सम्पन्नं राज्यमिच्छन्तु व्यक्तं प्राप्याभिपेचनम् ।

आनां हन्तुं समभ्येति कैश्य्या भरतः सुतः ॥ १७ ॥

साफ देख पड़ता है कि, कैश्या का पुत्र भरत राज्याभिषेक  
पा कर भी, अकण्ठक राज्य करने की कामना से, हम दोनों का  
वध करने के लिए आ रहा है ॥ १७ ॥

एष वै मुमहाश्च्रीमान् वटपी मम्प्रजागते ।

मिराजत्युद्गतस्सन्धः कोरिदाग्ध्रजो रथे ॥ १८ ॥

देखिए, यह जो घड़ा और गूँघ हराभरा सुन्दर वृत्त देख  
पड़ता है, उसके पाम जो रथ है, उस पर कचनार वृक्ष के  
आकार की ध्वजा कहरा रही है ॥ १८ ॥

१ भजन्त्येते यथाशामशवानारुह्य शीघ्रगान् ।

एते भ्राजन्ति मंहृष्टा गजानारुह्य मादिनः ॥ १९ ॥

१ भजन्ति—रथ देव प्रानुवन्ति । ( गो० ) २ ध्वजिन—रथ-  
रोह ( गो० )

बड़े तेज चलने वाले घोड़ों पर चढ़े हुए सवार इधर ही आ रहे हैं और हाथियों के सवार भी हाथियों पर चढ़े हुए हैं ॥ १६ ॥

गृहीतधनुषौ चासां गिरिं वीर श्रयावहै ।

अथ वेह्यं तिष्ठावः सन्नद्वाबुधतायुधौ ॥ २० ॥

अथ हे वीर ! हम दोनों धनुष बाण ले इम पर्वत पर चढ़ चलें अधवा दोनों जन, कवच पांशन और हथियार ले चहीं सडे हो जांय ॥ २० ॥

अपि नौ वशमागच्छेत्कोविदारध्वजो गणे ।

अपि द्रक्ष्यामि भरतं यत्कृते व्यसनं महत् ॥ २१ ॥

कोविदार ध्वजा वाले भरत को निश्चय ही हम लोग युद्ध में अपने वश मे कर लेंगे । भरत के मारण ही तो यह विपत्ति आई है । आज हम उसे समझ लेंगे ॥ २१ ॥

त्वया राघव सम्प्राप्तं सीतया च मया तथा ।

यन्निमित्तं भवान् राज्याच्छ्युतो राघव शाश्वतात् ॥ २२ ॥

हे रघुनन्दन ! जिसके लिए तुम्हें, मुझे और सीता को इस दुर्दशा में पडना पडा है और जिनके कारण तुम सनातन राज्य से चुन लिए गए हो ॥ २२ ॥

मम्प्राप्तोऽयमस्मिन् भरतो वध्य एव मे ।

भरतस्य वधे दोषं न हि पश्यामि राघव ॥ २३ ॥

वही भरत शत्रुभाय से आया है । अतः वह मार डालने में मुझे तो कुछ भी पाप नहीं जान पड़ता ॥ २३ ॥

पूर्वापकारिणां त्यागे न ह्यभर्षो विधीयते ॥

पूर्वापकारी भरतस्त्यक्तधर्मश्च राघव ॥ २४ ॥

क्योंकि पूर्व अपकारी को मार डालने में कुछ भी पाप नहीं लगता । हे राघव ! यह भरत पूर्व में अपकार कर चुका है । अतः इसको मार डालने ही में पुण्य है ॥ २४ ॥

एतस्मिन्निहते कृत्स्नामनुशाधि वसुन्धराम् ।

अथ पुत्रं हतं संख्येः कैकेयी राज्यकामुका ॥ २५ ॥

इसको मार कर आप सम्पूर्ण पृथिवी के राज्य का उपभोग कीजिए । आश्रय वह कैकेयी जो राज्य पाने की कामना सिद्ध हुए है अपने पुत्र को युद्ध में मरा हुआ देवेगी ॥ २५ ॥

मया पश्येत्सुदुःखार्ता हस्तिमग्नमिव द्रुमम् ।

कैकेयी च वधिष्यामि सानुबन्धाः सनान्धवाम् ॥ २६ ॥

हाथी के तोड़े हुए हृत् की तरह मेरे हाथ से भरत को मरा हुआ देख, कैकेयी अत्यन्त दुःखित होगी । मैं उस कैकेयी को भी उसके भावईन्दों और मयरादि महिन मार डालूँगा ॥ २६ ॥

कलुषेणाय महता मेदिनी परिमुच्यताम् ।

अद्यमं संयतं क्रोधममत्कारं च मानद ॥ २७ ॥

जिससे कि यह पृथिवी उस कैकेयी रूपी महाराज से छुटकारा पा जाय । हे मान के देने वाले ! आज बहुत दिनों के रोके हुए क्रोध को और कैकेयी के छिप हुए निरस्कार को ॥ २७ ॥

१ त्यागे—धर्मे । ( गो० ) २ संख्ये—युद्धे । ( गो० ) ३ सानुबन्धाः—मयराजपुत्रसंघर्षिताः । ( गो० ) ४ सदा—स्तम्भित । ( गो० ) ५ अमत्कारं—तिरस्कारं । ( गो० )



मोक्षयामि शत्रुभेद्येषु 'कक्षेप्वित्र हुतारानम् ।

अथैतच्चित्रकूटस्य काननं निशितैः शरैः ॥ २८ ॥

शत्रु की सेना के ऊपर बैसे ही छोड़ेंगे जैसे सूखे वृक्षों के  
टेर पर आग छोड़ी जाती है । आज ही मैं चित्रकूट के वन को  
अपने तीखे बाणों से ॥ २८ ॥

भिन्दञ्जशुशरीराणि करिष्ये शीणितोचितम् ।

शरैर्निर्मिन्नहृदयान् कुञ्जरांस्तुरगांस्तथा ।

शपापदाः परिकर्षन्तु नरांश्च निहतान् मया ॥ २९ ॥

शत्रुओं के शरीरों को काट काट कर, उनके शरीरों से निकले  
हुए रक्त से सींचूँगा । प्राणा से चीरे हुए हृदय वाले हाथियों,  
घोड़ों, तथा जेरे मारे हुए मनुष्यों को जंगली जानवर  
घसीटेंगे ॥ २९ ॥

शराणां धनुपरचाहमनृणोऽस्मि महामृधे ।

ससैन्यं भरतं हत्वा भविष्यामि न संशयः ॥ ३० ॥

इति पण्यवतितमः सर्गः ॥

आज मैं इस महासंग्राम में सेनासहित भरत का वध  
कर अपने धनुष और बाणों के ऋण से निस्सन्देह उच्छ्रय हो  
जाऊँगा ॥ ३० ॥

अयोध्यामण्ड का द्विचानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ ।



## सप्तनवतितमः सर्गः

— ००:—

सुमरुद्व्यं तु मौमित्रिं लक्ष्मणं क्रोधमूर्च्छितम् ।

रामस्तु परिमान्त्याथ वचन चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

इस प्रकार कुपित और लडने के लिए डगधत लक्ष्मण को देख, उन्हें शान्त करने के लिए श्रीरामचन्द्र जी कहने लगे ॥१॥

किमत्र धनुषा कार्यमसिना वा मर्चमया ।

महंष्यासे महाप्राज्ञे भरते स्वयमागते ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण ! बड़ा धनुष धारण करने वाले और बड़े पण्डित भरत जब धरय आर है, तब उनके सामने तुम्हारे धनुष और ढाल तलवार की अरुत ही क्या है ? ( अर्थात् उनसे तुम जीत नहीं सकते ) ॥ २ ॥

पितुः सत्यं प्रतिश्रुत्य इत्वा भरतमागतम् ।

किं करिष्यामि राज्येन मापमादेन लक्ष्मण ॥ ३ ॥

मैं पिता की उन सत्यवाणी को मान कर भी, यदि भरत जो का वध कर, मैं राज्य प्राप्त करूँ भी, तो ऐसे अपवादयुक्त राज्य को ले मैं करूँगा ही क्या ? ॥ ३ ॥

यद्द्रव्यं बान्धवानां वा मित्राणां वा क्षये मनेत् ।

नाहं तत्प्रतिगृहीयां भवान् विपकृतानि ॥ ४ ॥

जो धन, वन्द्युशब्धों और इष्टमित्रों का वध करने से प्राप्त हो, उसे मैं तो ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि मैं तो उसे विप मिले हुए भोजन की तरह त्याग्य समझता हूँ ॥ ४ ॥

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण ।

इच्छामि भवतामर्थ एतत्प्रतिनृणोमि ते ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं तुमसे यह बात दावे के साथ कहता हूँ कि, मैं तो केवल अपने भाइयों ही के लिए धर्म, अर्थ, काम अथवा पृथिवी का राज्य चाहता हूँ ॥ ५ ॥

भ्रातृणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण ।

राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालमे ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं सत्य मत्प अपने हयियारों को छू कर, तुमसे कहता हूँ कि, मैं जो राज्य की चामना करता हूँ वह अपने भाइयों के पालन और सुख के लिए ही करता हूँ ॥ ६ ॥

नेयं मम मही सौम्य दुर्लभा सागराम्बरा ।

न हीच्छेयमधर्मोऽशकृत्वमपि लक्ष्मण ॥ ७ ॥

हे सौम्य ! सनागरा पृथिवी का राज्य हस्तगत करना मेरे लिए दुर्लभ नहीं, पृथिवी तो है ही क्या ? मैं अधर्मपूर्वक तो इन्द्रपद को भी लेना नहीं चाहता ॥ ७ ॥

यद्विना मरुतं त्वां च शत्रुघ्नं चापि मानद ।

भवेन् मम सुखं किञ्चिद्भस्म तत्सुरुतां शिखी ॥ ८ ॥

हे मान देने वाले ! तुम्हारे बिना, मरुत के बिना और शत्रुघ्न के बिना, मुझे जिन किसी वस्तु से सुख मिलता हो, उसे अग्निदेव भस्म कर टालें ॥ ८ ॥

मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भुरतो भ्रातृवत्सलः ।

मम प्राणात्प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन् ॥ ९ ॥

श्रुत्वा प्रजाजितं मां द्वि जटावलकूलप्रारंभम् ।

जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषर्षभ ॥ १० ॥

स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकृतितेन्द्रियः ।

द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽततः ॥ ११ ॥

मुझे तो यह जान पड़ता है कि, मेरा माणप्रिय और भ्रातृ, चत्मल भाई, जत्र ननिहान से अयोध्या में आया और हम तीनों का जटा बल्कल धारण कर वन में आना सुना, तत्र स्नेह से पूर्ण हृदय और शोक से त्रिकल हा तथा हम कुत्र के धर्म को ( कि बडे का राज्याभिषेक हम कुत्र म सदा से होना आया है ) स्मरण कर, हम लोगों से मिलने आया है । उमर यहाँ आने का अन्य कोई अभिप्राय मुझे तो नहा जान पड़ता है ॥ ६ ॥ १० ॥ ११ ॥

अभ्यां च केरुयो रुष्य परुषं चाप्रियं वदन् ।

प्रमाद्य पितर थीमान् राज्या मे दातुमागतः ॥ १२ ॥

( बहुत सम्भव है कि ) अभ्या केरुयो के ऊपर क्रुद्र हो और उसका क्रुद्ध फटोर बचन कह तथा पिता को मना कर मुझे मनाने को वह आया हो ॥ १२ ॥

श्राप्तकालं यदेषोऽस्मान् भरतो द्रष्टुमिच्छति ।

अभ्यासु मनसाऽप्येष नाप्रिय किञ्चिदाचरेत् ॥ १३ ॥

यह उचित ही है कि, भरत आ कर हममे मिले, परन्तु, यह सम्भव नहीं कि भरत हमारे अनिष्ट की कभी कल्पना भी करे ॥ १३ ॥

मिप्रियं कृतपूर्वं ते भरतेन वदा नु किम् ।

ईदृश वा भय तेऽद्य भरतं योऽन गङ्गसे ॥ १४ ॥

क्या भरत ने इमसे पूर्व कभा तुम्हारा कुछ अहित किया था जो तुम सफ़ी कोर से भय की शङ्का कर रहे हो ॥ १४ ॥

न हि ते निष्टुर वाच्यो भरतो नाप्रिय वचः ।

अह त्प्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये वृते ॥ १५ ॥

भरत के विषय में ऐसे कठोर और अप्रिय वचन तुम्हें न कहना चाहिए क्योंकि भरत के द्वार में जा कुछ तुम खरी खाटी बातें कहोगे या इमका कुछ अहित करोगे तो मानों वह तुमने मुझसे कठोर वचन कहे और मेरा ही अहित किया ॥ १५ ॥

कथं नु पुत्राः पितरं हन्युः कस्यांचिदापदि ।

आता वा आतर हन्यात्सौमित्रे प्राणमात्मनः ॥१६॥

हे लक्ष्मण ! जरा सोचो तो । चाहे कैसी भारी विपत्ति क्यों न आन पड पिता किसी भी दशा ने अपन पुत्र का या भाई प्राण के समान अपने भाई का वध नहीं कर सकता ॥ १६ ॥

यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे ।

वक्ष्यामि भरत दृष्ट्वा राज्यमस्मं प्रदीयताम् ॥ १७ ॥

और यदि तुमने ये मन्त्र बातें राज्यप्राप्ति के लिए ही कही हों तो मैं भरत से कहकर राज्य तुमको दिलवा दूँगा ॥ १७ ॥

उच्यमानोऽपि भरतो मया लक्ष्मण तत्त्वतः ।

राज्यमस्मं प्रयच्छेति बाढमित्येव वक्ष्यति ॥ १८ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं मृत्यु कहता हूँ कि, मेरे यह कहते ही कि  
“राज्य इसे दे दूँ” भरत भिराय ‘बहुत अच्छा’ कहने के, ना  
तो कभी कहेगा ही नहीं ॥ १८ ॥

त गोक्तो धर्मशीलेन भ्राता तस्य हिते रतः ।

लक्ष्मणः प्रविशेशेन स्वानि गात्राणि लज्जया ॥१९॥

जब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र ने ऐसा कहा, तो उनका हित ही  
लक्ष्मण जी बहुत लज्जित हुए और मिथुन कर ऐसे हो गए, मानों  
शरीर के अंगों में घुसे जाते हों ॥ १९ ॥

तद्वाक्यं लक्ष्मणः श्रुत्वा व्रीडितः प्रत्युवाच ह ।

त्वां मन्ये द्रष्टुमायातः पिता दशरथः स्वयम् ॥२०॥

अनन्तर लक्ष्मण ने लज्जित हुआ, यह उतर दिखा कि, मुझे  
तो यह जान पड़ता है कि, महाराज दशरथ स्वयं ही तुमको  
देखने आए हैं ॥ २० ॥

व्रीडित लक्ष्मण दृष्ट्वा रायनः प्रत्युवाच ह ।

एष मन्ये महाशक्तिरिहास्मान् द्रष्टुमागतः ॥ २१ ॥

लक्ष्मण को लज्जित देख ( उनकी बात को सुनें करते हुए )  
श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—मैं भी यही समझता हूँ कि, मेरे पिता  
ही मुझको देखने को यहाँ आए हैं ॥ २१ ॥

अथवा नौ ध्रुवं मन्ये मन्व्यमानः सुखोन्वितौ ।

वनयाममनुष्याय गृहाय प्रतिनेष्यति ॥ २२ ॥

अथवा हम दोनों को सुख में रहने योग्य मान और पन-  
घास के दुःख को स्मरण कर, निरचय ही वे हमें घर लौटा ले  
जायेंगे ॥ २२ ॥

इमां वाऽप्येव वैदेहीमत्यन्तसुखसेविनीम् ।

पितामेराधवः श्रीमान् वनादादाय यास्यति ॥ २३ ॥

अधरा यह भी हो सकता है कि हम सीता को, जो अत्यन्त सुख पाने के योग्य है, मेरे पिता महाराज दशरथ वन से लौटा कर अपने साथ ले जाँय ॥ २३ ॥

एतौ तौ मम्प्रकाशेते गोत्रवन्तौ? मनोरमौ ।

बाधुवेगसमी वीर जवनौ तुरगोत्तमौ ॥ २४ ॥

यह देखो उत्तम नम्न के और सुन्दर तथा बाधु के समान शीघ्रगामी उनके दोनों घोड़े अरु साफ साफ देख पड़ने हैं ॥ २४ ॥

स एव सुमहाकायः कम्पते चाहिनीमुखे ।

नागः शत्रुञ्जयो नाम वृद्धस्तातस्य धीमतः ॥ २५ ॥

देगो, बुद्धिमान पिता जी के चटने का वह बड़े हीनहील वाला और ऊँचा शत्रुञ्जय नामक हाथी भी, सेना के आगे आगे मृमता हुआ चला आता है ॥ २५ ॥

न तु पर्यामि तच्छत्र पाण्डुरं श्लोकमत्कृतम् ।

पितुर्दिव्यं महाबाहो मंशयो भवतीह मे ॥ २६ ॥

किन्तु हे महाबाहो ! पिता जी का लोकोत्तर, दिव्य एव श्वेत छत्र न देखने से मेरे मन में सन्देह होता है ॥ २६ ॥

१ गोत्रवन्तौ—प्रशन्तनानानौ । यदाप्रशस्तुनप्रसूतौ । ( गी० )

२ वृद्धः—उन्नतः । ( गी० ) ३ लोकोत्तर—लोकोत्तर । ( गी० )

वृत्ताग्राट्वरोह त्रं कुरु लक्ष्मण मद्रुचः ।

इतीर रामो धर्मात्मा मौमिरि तमुवाच ह ॥ २७ ॥

हे लक्ष्मण ! अब तुम मेरा कहा मान वृत्त से उतर आया ।  
जब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जो ने लक्ष्मण से इस प्रकार  
कहा ॥ २७ ॥

अतीर्य तु मालाग्रात्तस्मात्समितिजयः ।

लक्ष्मणः प्राञ्जलिर्भूत्वा तस्यौ रामस्य पार्श्वतः ॥ २८ ॥

तब यद्धविजयी लक्ष्मण उस शाल व पेड़ से उतर और  
हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी के निकट गए और आ गये  
हुए ॥ २८ ॥

भरतेनापि मदिष्टा संमर्दो न भवेदिति ।

समन्तात्तस्य शैलस्य सेना वाममङ्गपयन् ॥ २९ ॥

कधर भरत जी ने सेना वालों को यह आज्ञा दी कि यहाँ  
श्रीरामाश्रम में किसी प्रकार की गड़गड़ या भौड़ भाड़ न होने  
पावे । यह कह उन्होंने ने उस पर्वत के चारों ओर सेना टिका  
दी ॥ २९ ॥

अध्वर्धमिदमाकुचमूर्धोन्नत पर्वतस्य मा ।

पार्श्वे न्यप्रिशादावृत्य गजगात्रिस्थाकृन्ना ॥ ३० ॥

हाथियों घोड़ों से पूरा यह सेना पहाड़ व चारा ओर द.  
कोस के घेर में टिक रही ॥ ३० ॥

मा चित्रहृटे भरतेन सेना

धर्मं पुग्मृत्युमिष्य दर्पम् ।



प्रसादनार्थं रघुनन्दनस्य

विराजते नीतिमता प्रणीता? ॥ ३१ ॥

इति सप्तनवतितमः सर्गः ॥

नीतिमान् भरत ने धर्ममार्ग से श्रीरामचन्द्रजी को प्रमत्त करने के लिए अपना अहङ्कार त्यागा और चित्रकूट पर्यन्त के पास सेना ला कर टहरा दी ॥ ३१ ॥

अयोध्याकाण्ड का सप्तानवेषाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



## अष्टनवतितमः सर्गः

—:०:—

निवेश्य सेनां तु विभुः पद्भ्यां पादवतां२ वरः ।

अभिगन्तुं स काकूत्स्थमियेष गुरुवतिनम्३ ॥ १ ॥

प्राणधारियों में श्रेष्ठ और गुरु की श्रद्धा करने वाले भरत जी सेना को इस भौतिकी कर श्रीरामचन्द्र से मिलने के लिए पैदल चले ॥ १ ॥

निविष्टमात्रे सैन्ये तु यथोद्देशं विनीतवत् ।

भरतो आतर वाक्यं शत्रुममिदमवधीत् ॥ २ ॥

भरत जी के आह्वानुसार जब सेना ठहर गई तब भरत जी ने शत्रु से कहा, ॥ २ ॥

१ प्रणीता—आनीता । ( गो० ) २ पादवतावरः—चप्राणिना-  
श्रेष्ठः । ( रा० ) ३ गुरुवतिनं—गुरुश्रद्धापरम् । ( रा० ) ० पाठान्तरे  
—“गुरुवत्सु ।”

क्षिप्रं प्रतर्हिद सौम्य नरमह्वैः समन्ततः ।

लुब्धैश्च सहितैरेभिस्त्वमन्त्रेपितुमर्हामि ॥ ३ ॥

हे सौम्य ! तुम शास्त्र इन सब लोगों को और इन बहेलियों को साथ ले, इन वन में चारों ओर घूम फिर कर श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम का पता लगाओ ॥ ३ ॥

गुहो ज्ञातिमहस्रैश्च शरचापामिधारिणा ।

समन्त्रेपतु कावृत्स्थावस्मिन् परिवृतः स्वयम् ॥ ४ ॥

गुह भी अपने सहस्रों जाति वालों को साथ ले और तीर फमान पव तलवार धारण कर (वन के जानवरों से आत्म-रक्षा) स्वयं भी उन दोनों को गोचरे ॥ ४ ॥

अमात्यैः सह पौरैश्च गुरुभिश्च द्विजातिभिः ।

वन सर्वं चरिष्यामि पट्टभ्यां परिवृतः स्वयम् ॥ ५ ॥

मैं भय भी इन मंत्रियों, पुरवामियों, गुरुओं और ब्राह्मणों को साथ ले पैदल ही सारे वन को ममङ्गला ॥ ५ ॥

यावन्न राम द्रक्ष्यामि लक्ष्मण वा महाबलम् ।

वैदेहीं वा महाभागां न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ६ ॥

मैं जब तक श्रीरामचन्द्रजी को, महाबली लक्ष्मण को और महामौभाग्यवती सीता की न देख लूँगा, तब तक मुझे शान्त न पड़ेगा ॥ ६ ॥

यावन्न चन्द्रसङ्काशं द्रक्ष्यामिशुभमाननम् ॥

भ्रातुः पद्मपलाशाद्यं न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ७ ॥

• तुन्धे — व्याधि । (तो.) • पाठान्तरे— 'यावन्न राम द्रक्ष्यामि लक्ष्मण वा महाबलम् ।'

जब तक मैं चन्द्रमा के समान और कमलनयन बड़े भाई श्रीरामचन्द्र के प्रसन्नमुख के दर्शन न कर लूँगा, तब तक मुझे चैन न पड़ेगा ॥ ७ ॥

यावन्न चरणौ भ्रातुः पाथिंयव्यञ्जनान्वितौ ।

शिरसा धारयिष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ८ ॥

जब तक मैं भाई के राजचिह्ना से युक्त चरणयुगल अपने मस्तक पर धारण न कर लूँगा, तब तक मेरा मन शान्त न होगा ॥ ८ ॥

यावन्न राज्ये राजपार्हः पितृपेतामहे स्थितः ।

अभिषेकजलमिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ९ ॥

जब तक राज्य करने योग्य राम के उस पितृपितामह के राज्य पर अभिषेक के जल से आर्द्र (भीगे) न होंगे, तब तक मेरा जी ठिकाने न होगा ॥ ९ ॥

सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रनिमलोपमम् ।

मुख पश्यति रामस्य राजीनाक्षे महाद्युति १० ॥

घन्य है लक्ष्मण, जो राम के उस निर्मल चन्द्रोपम महाद्युति युक्त एव कमल सदृश नेत्र वाले मुख को, देखा करता है ॥१०॥

कृतकृत्या महाभागा वैदेही जनकात्मजा ।

भर्तारं मागरान्तायाः पृथिव्या याऽनुगच्छति ॥११॥

महाभाग्यवती जानकी ज़ी घन्य हैं, जो ससागरा पृथिवी के स्वामी अपने पति की अनुगामिनी हैं ॥ ११ ॥

सुभगरिचित्रकूटोऽमौ गिरिराजोपभो गिरिः ।

यस्मिन् वसति काकुत्स्थः कुपेर इव नन्दने ॥ १२ ॥

हिमालय पर्वत के समान यह चित्रकूट पर्वत भी धन्य है । क्योंकि इस पर राम अभी प्रभार वाम करते हैं, जिस प्रकार कुबेर चैत्ररथ वन में ॥ १० ॥

कृतकर्यमिदं दुर्गं वनं च्यालनिपेप्रितम् ।

यदध्यास्ते महानेजा रामः शस्त्रभृतांवरः ॥ १३ ॥

यह वन जो सर्पों से भरा होने के कारण, दुर्गम है, कृतार्थ हुआ क्योंकि इसमें शस्त्र चलाने वालों में श्रेष्ठ, राम रहते हैं ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा भरतः पुरपर्यभः ।

पद्भ्यामेव महाबाहुः प्रविशेण महद्वनम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार कहते कहते, महातेजस्वी पुरश्चैष्ठ भरत ने उस वन में पैदल ही प्रवेश किया ॥ १४ ॥

स तानि द्रुमजालानि जातानि गिरिमानुषु ।

पुष्पिताग्राणि मध्येन जगाम वदतांवरः ॥ ५ ॥

बोझने वालों में श्रेष्ठ महामा भरत जी पर्वत के शिखरों पर लगे हुए फूले फलें वृक्षों के बीच में जा पहुँचे ॥ ५ ॥

स गिरेश्चित्रकूटस्य मालमामाद्य पृषितम् ।

रामाश्रमगतस्याग्नेनदेर्गं व्यजमुच्छ्रितम् ॥ १६ ॥

भरत न वहाँ एक साखु के वृत्त के ऊपर चढ़ कर श्रीरामचन्द्र के आश्रम में ललती हुई अग्नि का बहुत ऊँचा उठता हुआ धुआँ देता ॥ १६ ॥

त दृष्ट्वा भरतः श्रीमान्मुमोद ॐ सहवान्धमः ।

अत्र राम इति ज्ञात्वा गतः पारमिवाम्भसः ॥ १७ ॥

तब तो भरत जी अपने बान्धवों सहित हर्षित हुए और वहीं रहते हैं—यह निश्चय कर, भानों समुद्र के पार हो गए ॥ १८ ॥

स चित्रकूटे तु गिरौ निशम्य

रामाश्रमं पुण्यजनोपपन्नम् ॥

गुहेन सार्धं त्वरितो जगाम

पुननिवेश्यैव चमू महात्मा ॥ १८ ॥

इति अष्टमवतितम सर्गः ॥

इस प्रकार उस गिरिराज चित्रकूट पर तपस्त्रियों से सेवित, श्रीरामाश्रम को पा कर, महात्मा भरत जी, गुह को साथ ले और सेना को बधास्थान फिर ठहरा, शीघ्रता से आश्रम की ओर गए ॥ १८ ॥

अयोध्याकाण्ड का अष्टमवेदों सर्ग समाप्त हुआ ।

—०—

## एकोनशततमः सर्गः

—:❁:—

निनिषायां तु सेनायामृत्सुको भरतस्तदा ।

जगाम आतरं द्रष्टुं शत्रुघ्नमनुदर्शयत् ॥ १ ॥

सेना के टिक जाने पर, भरत जी डसुक हो, शत्रुघ्न जी को श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम के चिह्न दि दिखाते हुए, भाई के दर्शन की कामना से चले ॥ १ ॥

ऋषिं वसिष्ठं मन्दिश्य मातृर्मे शीघ्रमानय ।  
इति त्वरितमग्रे स जगाम गुरुवत्सलः ॥ २ ॥

भरत ने वसिष्ठ जी से कहा कि आप मेरी माताओं को शीघ्र ले आइए, ( मैं आगे चलता हूँ ) यह कह गुरुवत्सल भरत शीघ्रता से आगे चले ॥ २ ॥

सुमन्त्रस्त्वपि शत्रुघ्नमदूरादन्वपद्यत ।  
रामदर्शनजस्तपो भरतस्येव तस्य च ॥ ३ ॥

इतने में सुमन्त्र भी शत्रुघ्न को भरत के पीछे जाने देख, स्वयं शत्रुघ्न के पीछे हो लिए । क्योंकि भरत की तरह सुमन्त्र को भी राम के दर्शन की उत्कण्ठा थी ॥ ३ ॥

गच्छन्नेवाय भरतस्तापमालयसंस्थिताम् ।  
प्रातुः पर्णकुटीं श्रीमानुत्तमं च ददर्श ह ॥ ४ ॥

भरत जी ने जाते जाते देखा कि, तपस्त्रियों के आश्रमों के बीच भाई की पर्णकुटी बनी हुई है ॥ ४ ॥

शालायास्त्वग्रतस्तस्या ददर्श भरतस्तदा ।  
एकाष्ठानि चामग्नानि रुप्पाण्यपचितानि च ॥ ५ ॥

१ काष्ठानि— राश्रीप्रशाशयग्नानां पानि । ( गो० ) २ रुप्पाणि पृजार्थानि । ( गो० )

भरत जी ने यह भी देखा कि, उम पर्य्याला के सामने ही ( रात में प्रकाश करने के लिए ) टूटी लकड़िया और पृवन के लिए फूल चुन चुन कर रखे हुए हैं ॥ ५ ॥

सलक्ष्मणस्य रामस्य ददर्शाश्रममीयुषः ।

कृत वृक्षेष्वभिज्ञान कुशचीरैः क्वचित्क्वचित् ॥ ६ ॥

और आश्रम की पहिचान के लिए आश्रमवासी श्रीराम लक्ष्मण ने जहाँ जहाँ वृक्षों में कुश और चौर जाँच कर दिह चना दिए हैं ॥ ६ ॥

ददर्श च वने तमिस्त्वं महतः सञ्चयान् कृतान् ।

मृगाणां महिषाणां च करीषैः शीतकारणात् ॥ ७ ॥

भरत जी ने देखा कि, शीत से बचने के लिए अथवा तापने के लिये, मृगों और भँसों के गोबर के सूखे कंडों का ढेर लगा है ॥ ७ ॥

गच्छन्नेत्र महानाहुर्धृतिमान् भरतस्तदा ।

शत्रुघ्न चात्रवीष्दृष्टस्तानमात्यांश्च सर्वगः ॥ ८ ॥

मन्ये प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमव्रवीत् ।

नातिदूरे हि मन्येऽह नदीं मन्दाकिनीमितः ॥ ९ ॥

महागह्व धृतिवान् भरत जी ने च नते चलते प्रसन्न हो अपने सब मत्रियों और शत्रुघ्न से कहा—जान पड़ता है, हम लोग उम स्थान पर पहुँच गए हैं जिसे भरद्वाज जी ने उतलाया था। मैं समझता हूँ कि, यहाँ से मन्दाकिनी नदी भी समीप ही है ॥९॥

उच्चैर्बद्धानि चीराणि लक्ष्मणेन भवेदपम् ।

अभिज्ञानकृतः पन्था श्रिकाले गन्तुमिच्छता ॥१०॥

यहाँ इतनी ऊँचाई पर लक्ष्मण ने चारों को बाँधा है । यह इस लिए कि, रात्रिगत में जब लक्ष्मण को पानी लाने के लिए जाना पड़ता होगा, तब इन चीरचिह्नों को देख, वे आश्रम में बिना डर भ्रम भटके आ जाते होंगे ॥ १० ॥

इदं चोदात्तदन्तानां वृद्धराणां तरग्निनाम् १ ।

शैलपार्षो पगिक्रान्तमन्योन्यमभिगर्जताम् ॥ ११ ॥

वेगवान् एवं बड़ बड़ दौनों वाल हाथा जा बड़ा नाद किया करते हैं, परत क पाम यह उन्हीं आन जने का रास्ता जान पड़ता है ॥ ११ ॥

यमेवाघातुमिच्छन्ति तापसाः सतत वने ।

तस्यामी दृश्यते धूमः सद्गुलः कृष्णरत्ननः ॥ १२ ॥

तपस्वी लोग सायमातः होम करने के लिए मग्न जिन अग्नि को स्थापित रखा करते हैं, उसी का यह काला काला धुआँ देख पड़ता है ॥ १२ ॥

अत्राहं पुरुषव्यात्रं -गुरुमस्मारकारिणम् ।

आयं द्रक्ष्यामि संहृष्टा महर्षिमिव राघवम् ॥ १३ ॥

अतः इसी स्थान पर उम पुरुषसिंह पर श्रेष्ठ सम्भार करने वाले श्रीराम का, एव हृष्युक्त महर्षि के समान बैठा हुआ, मैं देखूँगा ॥ १३ ॥

१ विकाले—अकाले सायकालादी । ( गो० ) २ 'तरग्निनां—वेग-यता । ( गो० ) ३ गुरुमस्मारकारिणम्—गुरुसम्भार श्रेष्ठसम्भार मन्त्रोपदेशादि तत्क रिणम् ( गो० )



अथ गत्वा मुहूर्तं तु चित्रकूटं स राववः ।

मन्दाकिनीमनुप्राप्तस्तं जनं? चेदमत्रवीत् ॥ १४ ॥

तदनन्तर भरत जी कुछ समय तक आगे चल, मन्दाकिनी नदी के नमीप चित्रकूट पर्वत पर जा पहुँचे और शत्रुघ्नादि अरुने साथियों से कहने लगे ॥ १४ ॥

ऋजगत्यां पुष्पव्याघ्र आस्ने वीरासने रतः ।

जनेन्द्रो निर्जनं प्राप्य धिङ्मे जन्म सजीवितम् ॥ १५ ॥

देखो वह पुनपमिह और नरेन्द्र हो कर भूमि पर वीरासन से बैठे हैं और इस निर्जनस्थान में रहते हैं। हा! मेरे जीवन और जन्म को विचार है ॥ १५ ॥

मत्कृते व्यसनं प्राप्तो लोकनाथो महाद्युतिः ।

सर्वान् कामान् परित्यज्य वने वमति राववः ॥ १६ ॥

हा! मेरे ही पीछे, सब के म्यामी और महाद्युतिमान् राम दाम्प्य दुरवस्था में पड़े हैं और सब प्रकार के सुखभोगों से चञ्चित हो, वन में वाम करते हैं ॥ १६ ॥

इति लोकसमाक्रुष्टः पादेष्वथ प्रसादयन् ।

रामस्य निपतिष्यामि सीतापार्व पुनः पुनः ॥ १७ ॥

इससे मेरी सब में बड़ी बदनामी हुई है ( अतः उम बदनामी को दूर करने के लिए ) मैं बार बार राम और सीता के चरणों पर गिर, उनसे प्रसन्न करूँगा ॥ १७ ॥

१ तत्रत — महागत शत्रुघ्नादिकन् । ( गो० ) २ जगत्यां—भूमौ । ( गो० ) • पाठान्तरे—“सीताया लक्ष्मणस्य ।”

एवं स त्रिलपस्तस्मिन् वने दशरथात्मजः ।

ददर्श महतीं पुण्यां पर्णशाला मनोरमाम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार वन में घिलाप करत हुए भरत जो न, उम  
चशाल, पात्रन एवं मनोहर पर्णकुन्ती-को देखा, ॥ १८ ॥

सालितालापरगुणानां पर्णमृदुभिरानृताम् ।

त्रिशालां मृदुभिस्तीक्ष्णां वृक्षैर्दिभिराध्वरे ॥ १९ ॥

जो सागू, ताल और अरकण नाम के वृक्षों के बहुत से पत्तों  
से छाई गई थी और रूख लगी चाड़ी और कोमल थी, देगने  
पर वह ऐसी जान पड़ती, मानों यक्षवेदा कुशा से ढकी हुई  
है ॥ १९ ॥

शक्रायुधनिशशरव कार्मुकैर्भारसाधनैः ? ।

रक्षमपृष्ठैर्महासारः शोभितां शत्रुभावनैः ॥ २० ॥

उसमें जहाँ तहाँ, इन्द्र के वज्र के समान, युद्ध में पड़े पड़े  
काम करने वाले और सुशरचित पीठ वाले, बड़े भारी भारी  
तथा शत्रु को वाग देने वाले धनुष, टँगै हुए शोभायमान हों  
रहे थे ॥ २० ॥

अर्क्षरश्मिप्रतीकाशैर्घोरैस्तूष्णीगतैः शरैः ।

शोभितां दीप्तवदनैः सर्पैर्भोगयतीमिव ॥ २१ ॥

उनके पाम हो तरकसों में भरे सूर्य की चिरणों के समान  
चमकीले एवं भयदुर वाग शोभा दे रहे थे । मानों चमकीले  
पत्तों वाले (मण्डियुक्त होने के कारण) सर्पों से भोगयती नान्ही  
नगरी सुशोभित है ॥ २१ ॥

महारजतग्रामोभ्यामभिभ्यां च विराजिताम् ।

स्कमपिन्दुविचित्राभ्या चर्मभ्यां चापि शोभिताम् ॥ २२ ॥

वहा पर दो तनचारों भा रखी थीं, जिनकी मोन की म्यानें थीं और उनके पाम ही दा टालें भी रखी थीं जिन पर सोने के फूल बन हुए थे ॥ २२ ॥

गोध्राड्गुलित्रेरामक्तैश्चित्रैः काञ्चनभूषितैः ।

अरिमद्धैरनाष्टृष्यां मृगैः सिंहगुहामिव ॥ २३ ॥

वहाँ कितन ही गोवा क चाम क और काञ्चनभूषित तरह तरह के अगुलित्राण ( दस्ताने ) भी थे । निम पर्णशाला में इस प्रकार क शस्त्र रखे थे, वह शत्रुओं द्वारा उसी प्रकार अभेद्य थी, जिन प्रकार सिंह की गुहा, हरनों के झुंडों के लिए अभेद्य होती है ॥ २३ ॥

प्रागुदकप्रवर्णां वेदिं विशालां दीप्तपावकाम् ।

ददर्श भरतस्तत्र पुण्यां रामानवेशने ॥ २४ ॥

तदनन्तर भरत जान धारामचन्द्र जी के वासस्थान में प्रज्वलित अग्नियुक्त ईशानकोण में श्रुति विशाल एव पवित्र वेदी देखी ॥ २४ ॥

निरीक्ष्य स मुहूर्तं तु ददर्श भरतो गुरुम् ।

उदजे राममामीन जटामण्डलधारिणम् ॥ २५ ॥

भरत जी एक मुहूर्त तक ता पर्णशाला की वनायट और सजायट देखते रहे, तदनन्तर उन्होंने पर्णशाला में घेठे हुए और जटाजूट धारण किए हुए बड़े भाई को देखा ॥ २५ ॥

१ महारजतवाताभ्या—स्वर्णमयकोशाम्पान् । (गो०) सिंहगुहामिवपर्णशालाददर्शेत्यन्वय ! ( रा० )

तं तु कृष्णाजिनधरं चीरवन्कलयाममम् ।

ददर्श राममासीनमभितः पावकोपमम् ॥ २६ ॥

भरत जी ने अग्नि की तरह (दुदर्श) श्री राम को ऊपर से काले हिरन का चाम ओढ़े और कमर पर (ध तो की जगह) चीर वल्कल पहिने हुए, कुट्टी के पाम ही बैठा देखा ॥ २६ ॥

मिंहस्कन्धं महाबाहुं पुण्डरीकनिभेक्षणम् ।

पृथिव्याः सागरान्ताया भर्तारं धर्मचारिणम् ॥ २७ ॥

उनकी भुजाएँ घुटनों तक लगी, उनके रूखे मिह के कंधों के समान ऊँचे और नेत्र कमजूर के समान थे। वे समागरा पृथिवी के स्वामी और साथ ही धर्मचारी भी थे ॥ २७ ॥

उपविष्टं महाबाहुं ब्रह्माणमिव शारयतम् ।

स्थण्डिले दमसस्तीर्णे सीतया लक्ष्मणेन च ॥ २८ ॥

उनको भरत ने सीता और लक्ष्मण के साथ एक चबूतरे पर, कुरा के आमन के ऊपर, शारयत मद्र की तरह, बैठा हुआ देखा ॥ २८ ॥

तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान् दुःखयोरुपरिप्लुतः ।

अभ्यधावत् धर्मात्मा भरतः कैरुयोमुतः ॥ २९ ॥

श्रीराम को (इस प्रकार) बैठा हुआ देख केकेयीनन्दन धर्मात्मा भरत, दुःख से विकृत हो, उनकी ओर दीड़े ॥ २९ ॥

दृष्ट्वेन निललापातों वाप्पमन्दिग्धया गिरा ।

अशक्तुवन्वारयितुं धर्याद्वचनमब्रवीत् ॥ ३० ॥

श्रीरामचन्द्र को देखते ही भरत जी का करण अति दुस्वित होने का कारण गद्गद हो गया और वे विलाप करने लगे । उस दुःख के वेग को रोकना यद्यपि उस समय उनके लिए कठिन था तथापि किसी प्रकार धैर्य धारण कर, वे बोले ॥ ३० ॥

यः संमतिं प्रकृतिभिर्भवेद्युक्तः उपामितुम् ।

वन्यैर्भृगोरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः ॥ ३१ ॥

हाय ! जो राजसभा में बैठ मंत्रियों द्वारा उपासना किए जाने योग्य हैं तबभेरा बड़ा भाई, आज वन्यमृगों द्वारा उपामित हो, बैठा है । अर्थात् जो श्रीरामचन्द्र राजसभा में मंत्रियों के बीच बैठने योग्य हैं, वे वनजन्तुओं के बीच बैठे हुए हैं ॥ ३१ ॥

वामोभिर्बहुनाहत्तैर्षोः महात्मा पुरोचितः ।

मृगाग्निने सोऽयमिह प्रवस्ते धर्ममाचरन् ॥ ३२ ॥

जो कितने ही हज़ारों के मूल्य वाले वल्ल धारण करने योग्य हैं, वे महामा मेरे ज्येष्ठ भ्रता धर्माचरण के लिए हिम का चाम ओढ़े हुए ( यहाँ ) रह रहे हैं ॥ ३२ ॥

अधारयद्यो विनिधाश्चित्राः सुमनसस्तदा ।

सोऽयं जटामारमिमं सहते राघवः कथम् ॥ ३३ ॥

१ ससदि—समाया । ( गो० ) २ युत —अहं । ( गो० ) ३ बहुसाहस्रै —बहुसहस्रमूल्यै । ( गो० )

जो मद्दा तरह तरह के चित्र विचित्र पुष्पो की मालाएँ धारण करते थे, वही श्रीराम आन इस लटाभार को किस प्रकार सहन कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

यस्य यज्ञैर्यथोद्दिष्टैर्युक्तो धर्मस्य सञ्चयः ।

शरीरक्लेशसभृतं न धर्मं परिमार्गते ॥ ३४ ॥

जिसको ऋषि द्वारा यथाविधि क्रिय गय यज्ञों से पुण्यसञ्चय करना उचित था वह श्रीराम अपने ही शरीर को कष्ट दे कर पुण्यसञ्चय कर रहा है ॥ ३४ ॥

चन्दनेन महादेश्य यस्याद्गमुपसेवितम् ।

मलेन तस्याद्गमिदं कथमार्यस्य सेव्यतं ॥ ३५ ॥

जिसके शरीर में धादया चन्दन का लेप किया जाता था, उस मेरे ज्येष्ठ भ्राता का शरीर देखो तो कैसा मैला हो रहा है ॥ ३५ ॥

मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः ।

धिग्जीवितं नृशंस्य मम लोकाविगहितम् ॥ ३६ ॥

हा ! मेरे ही पीछे, सुखों का उपभोग करने वाले श्रीराम यह कष्ट भोग रहे हैं ! हा ! मुझ नृशंस और लोकनिन्दित मेरे इस जीवन को धिक्कार है ॥ ३६ ॥

इत्येवं विलपन् दीनः प्रस्त्रिन्नमुखपङ्कजः ।

पादाग्रप्राप्य रामस्य पपात भरतो रुदन् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार विलाप करते हुए भरत, दुःखी था । उनका मुख-फमल पत्तीने से भर था । उन्होंने पाहा कि, दौड़ कर श्रीराम

चरणों में गिरें, किन्तु वहाँ तक न पहुँच, वे रो कर बीच ही में मूर्छित हो गिर पड़े ॥ ३७ ॥

दुःखाभितप्तो भरतो राजपुत्रो महाबलः ।

उक्त्वार्येऽति मृदुदीन पुनर्नोवाच किञ्चन ॥ ३८ ॥

उस समय दुःखसन्तप्त और कातर होने के कारण, महाबली राजकुमार भरत केवल एक बार “आर्य” शब्द का उच्चारण कर, फिर और कुछ न बोल सके ॥ ३८ ॥

वाष्पापिहितकण्ठश्च ग्रन्थ रामं यशस्विनम् ।

आर्येत्येवाथ मंक्रुदय व्याहृतं नाशकत्ततः ॥ ३९ ॥

क्योंकि यशस्वी श्री राम को देख कर, भरत जी का कण्ठ रुद्ध हो गया था । वे केवल “आर्य;” कह कर ही वाग्शक्ति-रहित से हो गए ॥ ३९ ॥

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन् ।

तावुभौ स नमालिङ्गय रामश्चाथ्रूणपवर्तयन् ॥ ४० ॥

रोते हुए शत्रुघ्न ने श्रीरामचन्द्र जी के चरणों को प्रणाम किया । तब श्रीरामचन्द्र जी इन दोनों भाइयों को छाती से लगा, स्वयं रोने लगे ॥ ४० ॥

ततः सुमन्त्रेण गुह्येन चैव

समीयतु राजसुनावरण्ये ।

दिवाकरश्चैव निशाकरश्च

यथाऽम्बरे शुक्ररूहस्पतिभ्याम् ॥ ४१ ॥

तदनन्तर सुमत्र और शुद्ध भी श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी से मिले। मानो आकाश में मूय और चन्द्र, शुक्र और बृहस्पति से मिल रहे हों ॥ ४१ ॥

तान्पार्थिवान् वारण्ययूथपाभान्

समागतांस्तत्र महत्परण्ये ।

वनौरुमस्तेऽपि समीक्ष्य सर्वे-

ऽप्यथ्रूण्यमुञ्चन् प्रविडाय हर्षम् ॥ ४२ ॥

इति एकोनशततमः सर्गः ॥

उस समय हाथियों पर मरारी करने योग्य, इन राजकुमारों ( श्रीराम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न ) को उम महाबल म पैदल आए हुए देख बर्हा के बनवासी भी दुःखी हा, रोने लगे ॥ ४२ ॥

अयोध्याकाण्ड का निन्यानवेरां सर्ग समाप्त हुआ ।



## शततमः सर्गः

— ०:—

जटिलं चीरवमनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि ।

ददर्श रामो दुर्दुर्शं युगान्ते मास्करं यथा ॥ १ ॥

जटाजूट धारण किए और चीर पहिने श्रीराम ने, भरत जी को हाथ जोड़, पृथिवी पर पड़ा हुआ देगा। मानों प्रलय कालीन—  
दुर्दुर्शं सूर्य तेजहीन हो पृथिवी पर पड़ा हुआ हो ॥ १ ॥



कथञ्चिदभिविज्ञाय विवरणवदनं कृशम् ।

भ्रातरं भरत रामः एरिजग्राह वाहुना ॥ २ ॥

बड़ी कठनाई से विवरण मुख और अत्यन्त दुबले पतले भाई भरत को पहिचान, श्रीराम ने उन्हें दोनों हाथों से पकड़ कर दटाया ॥ २ ॥

आघ्राय रामस्तं मूर्ध्नि परिष्वज्य च राघवः ।

अङ्गे भरतमारोप्य पर्यपृच्छत्समाहितः ॥ ३ ॥

अनन्तर श्रीराम ने उनके मस्तक को सूँघ, उनकी छाती से लगाया और उनकी अपनी गोदी में गिठा, सावधानतापूर्वक उनसे ये बातें पूँछी ॥ ३ ॥

ए नु तेऽभूत्पिता तात यदरण्यं त्वमागतः ।

न हि त्वं जीवतस्तस्य वनमागन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

हे तात ! तुम्हारे पिता कहाँ हैं, जो तुम इस वन में आए हो ? ( क्योंकि ) उनके जीवित रहते तुम वन में नहीं आ सकते थे ॥ ४ ॥

चिरस्य वत पश्यामि दूराद्भरतमागतम् ।

दुष्प्रतीकमरण्येऽस्मिन् किं तात वनमागतः ॥ ५ ॥

बड़े खेद की बात है कि, बहुत दिनों बाद और बहुत दूर से चल कर आने के कारण विवरण मुख एवं कृश भरत को मैं कठिनाई से पहिचान पाया । हे भाई ! तुम इस वन में किस लिए आए हो ? ॥ ५ ॥

कचिद्भारयते तात राजा यत्त्वमिहागतः ।

कचिन्न दीनः महसा राजा लोकान्तरं गतः ॥ ६ ॥

हे भाई ! तुम जो यहाँ आए हो मो यह तो कहो कि, पिता  
जो वां मजे में है । कहीं शोक से रिझल हो, महाराज अचानक  
लोकान्तरित तो नहीं हुए ॥ ६ ॥

कचित्सौम्य न ते राज्यं अष्ट बालस्य शारयत्तम् ।

कचिच्छुश्रुपसे तात पितरं सत्यप्रिक्रमम् ॥ ७ ॥

हे सौम्य ! तुम अभी बालक हो, मो कहीं उम सतानन राज्य  
में तो कुछ गड़बड़ी नहीं हुई ! हे मत्यायत्रम ! तुम पिता को  
सेवा तो भली भाँति करते हो ॥ ७ ॥

कच्चिद्दशरथो राजा कुशलीः सत्यमङ्गरः ।

राजसूयारथमेवानामाहर्ता धर्मनिश्चयः ॥ ८ ॥

राजसूय और अरथमे रथशों के करने वाले, धर्म में निश्चित  
बुद्धि रखने वाले, पर सत्यप्रतिज्ञ महाराज तो रख  
हैं ? ॥ ८ ॥

स कच्चिद्ब्राह्मणो विद्वान् धर्मनित्यो महाद्युतिः ।

इक्ष्वाकूणामुपाध्यायो यथावत्तात पृज्यते ॥ ९ ॥

क्या उस विद्वान पद्य महानेजस्यी ब्राह्मण का, जो नित्य  
धर्मरायो में तत्पर रहता है और इक्ष्वाकुन का उपाध्याय है,  
यथावत् मत्कार किआ जाना है ॥ ९ ॥

मा तात कच्चित्कौसल्या मुमित्रा च प्रजायती ।

मुखिनी कच्चिदायां च देवी नन्दति कैशेयी ॥१०॥

हे तात ! माता कीमत्या और मुपुत्ररतो माता मुमित्रा तो  
भसन्न हैं ? और परमश्रेष्ठा देवी कैशेयी तो आनन्द से हैं ? ॥१०॥

कच्चिद्विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो१ बहुश्रुतः ।

अनस्यपुरनुद्रष्टा२ सत्कृतस्ते३ पुरोहितः४ ॥ ११ ॥

हे तात ! विनम्र अनुभवी, सांकुलोत्पन्न एवं असूयारहित और समस्त सत्कर्मानुष्ठानों में निपुण हमारे हमजोली और पुरोहित वसिष्ठ जी क पुत्र का सत्कार तो तुम करते हो न ? ॥ ११ ॥

कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः ।

हुतं च होप्यमाणं च काले वेदयते५ सदा ॥ १२ ॥

अग्निहोत्र के कार्य में निपुण, हवन की विधियों को साङ्गोपाङ्ग जानने वाला, मतिमान और सरल स्वभाव पुरोहित, हवनकाल उपस्थित होन पर, तुमको सदा सूचना देता रहता है कि नहीं ? ॥ १२ ॥

कच्चिद्देवान् पितृभूमातृगुरुन् पितृसमानपि ।

वृद्धारच तात वैद्यारच ब्राह्मणारचाभिमन्यसे ॥ १३ ॥

हे तात ! देवताओं, पितरों, माताओं, गुरुओं, और पिता के समान पूज्य बड़े बूटों, वैद्यों और ब्राह्मणों को सब तरह से तुम मानते हो न ? ॥ १३ ॥

इष्वस्त्रधरसम्पन्नमन्थशास्त्रविशारदम् ।

मुघन्वानमुपाध्यायं६ कच्चित्त्वं तात मन्यसे ॥ १४ ॥

१ कुलपुत्रः—सत्कृतप्रसूतः । ( गो० ) २ अनुद्रष्टा—सकल सत्कर्म निपुणः । ( शि० ) ३ ते तव सबयस्त्रः । ( शि० ) ४ पुरोहितः—वसिष्ठपुत्रः । ( शि० ) ५ वेदयते—गुह्यज्ञापयति क्वचित् । ( गो० ) ६ इष्वः—अमंनकावायः । ( गो० ) ७ अस्त्राण्य—समयक । ८ अर्थ-शास्त्रं—नीति शास्त्रं । ( गो० ) ९ उपाध्यायम्—धनुर्वेदाचार्यं । ( गो० )

हे ताव । अस्त्र ( जो मन्त्रल से चलाये जाय ) शस्त्र ( जो  
 पिना मन्त्र के चलाये जाय ) से सम्पन्न, नीति शास्त्र प्रिशास्त्र,  
 सुधन्वा नाम के धनुर्वेत्ताचार्य का तो यथोचित मान तुम करते  
 हो ? ॥ १४ ॥

कच्चिदात्मसमा? शूराः श्रुतवन्तो? जितेन्द्रियाः ॥

कुलीनाश्चेत्तज्ज्ञाञ्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः ॥१५॥

हे तात विश्वसनीय, धीर, नीतिशास्त्रज्ञ, लालच भे न फैलने  
 वाले और प्रामाणिक कुलोत्पन्न लोगों को, तुमने अपना भती  
 बनाया कि नहीं ? ॥ १५ ॥

मन्त्रो विजयमूलं हि राजां भवति राघव ।

सुसंभृतो मन्त्रघरेरमात्यैः शास्त्रज्ञोविदेः ॥ १६ ॥

क्योंकि हे राघव । नीतिशास्त्रनिपुण मन्त्राह करने योग्य  
 मन्त्रियों द्वारा रक्षित गुण परामर्श ही राजाओं के लिए विजय का  
 मूल है ( अर्थात् जिन राजाओं के मन्त्री परामर्शों को गुप्त  
 रखने वाले होते हैं या जिन राजाओं के परामर्श गुप्त रहने हैं  
 वन्हीं राजाओं की जीत होती है ) ॥ १६ ॥

कच्चिन्निद्रावशां नैपीः कच्चित्माले प्रबुध्यसे ।

कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्पर्धनेषुणम् ॥ १७ ॥

१ आत्मसमा — विश्वसनाया इति । ( गो० ) २ शूरा — परा ।  
 ( गो० ) ३ श्रुतवन्त — नीतिशास्त्रज्ञ । ४ जितेन्द्रिया — परित्यक्त भतीना  
 इति । ( गो० ) ५ कुलीना — प्रामाणिककुलोत्पन्ना । ( गो० ) ६  
 सुसंभृत — सुरासुत । ( गो० ) ७ शास्त्रज्ञोविदे — नीतिशास्त्रनिपुण ।  
 ( गो० ) ८ अर्थनेषुणम् — अर्थसंग्रहण इति । ( सि० )

तुम निद्रा के पश में तो नहीं रहते ? यथाममय जाग तो जाते हो ? तुम पिछली रात में अर्थ की प्राप्ति के उपाय तो विचारा करते हो ? ॥ १७ ॥

कच्चिन् मन्त्रयसे नैकः कृच्चिन्न बहुभिः मह ।

कृच्चित्ते मन्त्रितो मन्त्रो राष्ट्रं न परिधानति ॥ १८ ॥

अकेले तो किसी विषय पर विचार नहीं करते अथवा बहुत से लोगों के बीच बैठ कर तो सलाह नहीं करते ? तुम्हारा विचार कार्य रूप में परिणत होने के पूर्व दूसरे राजाओं को विदित तो नहीं हो जाता ॥ १८ ॥

[ टिप्पणी—राजा को अनेका अथवा बहुत से लोगों में बैठे कोई सलाह न करनी चाहिए और न उसने विचार उपयुक्त समय के पूर्व प्रकट हो जाने चाहिए ]

कच्चिदर्थं<sup>१</sup> विनिश्चित्य लघुमूलं महोदयम्<sup>२</sup> ।

क्षिप्रमारभसे कर्तुं न दीर्घयमि राघव ॥ १९ ॥

अल्प प्रयास से सिद्ध होने वाले और बड़ा फल देने वाले कार्य को करने का निश्चय कर, समझा करना तुम तुरन्त आरम्भ कर देते हो कि नहीं ? उसे पूरा करने में देर तो नहीं लगाते ॥ १९ ॥

कचित्ते मुकृतान्येन कृतरूपाणि वा पुनः ।

निद्रुस्ते सर्वकार्याणि न कृतव्यानि पार्थिवाः<sup>३</sup> ॥२०॥

<sup>१</sup> अर्थ—कार्य । ( गा० ) <sup>२</sup> महोदय—महामूल । ( गो० ) <sup>३</sup> पार्थिवा—सामंतनृपा । ( गो० )

तुम्हारे निश्चिन किए हुए मत्र कार्य भली भाँने पूरे हो जाने पर अथवा पूरे होने ही पर छोटे राजा जान पाते हैं न ? कार्य पूरे होने के पूर्व तो उनको वे कहीं नहीं जान लेते ? ॥ २० ॥

कच्चिन्न तर्क्यक्त्या वा ये चाप्यपरिकीर्तिताः २ ।

तया वा तत्र वाऽमात्यैर्गृह्यते तात मन्त्रितम् । २१ ॥

मंत्रियों के साथ की हुई तुम्हारा अप्रशंसित मलाह को, दूसरे लोग, तर्क से अथवा अनुमान से तो कहीं नहीं नाड लेते ॥ २१ ॥

कच्चित्सहस्रान् मूर्खाणामेकमिच्छामि पण्डितम् ।

पण्डितो रक्ष्यकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं महत् ॥ २२ ॥

तुम हजार मूर्खों को त्याग कर, एक पण्डित ( मलाहमार ) का आश्रय ग्रहण करते हो न ? क्योंकि यदि महान् के समय एक भी पण्डित पाम हो, तो बड़े ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है । शर्यान् बड़ा लाभ होता है ॥ २२ ॥

सहस्राण्यपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः ।

अथवाऽप्ययुतान्येन नास्ति तेषु सहायता ॥ २३ ॥

राजा भले ही हजार या दस हजार मूर्खों को अपने पाम रखे, परन्तु उन मूर्खों से उस राजा को कुछ भी साहाय्य नहीं मिल सकता ॥ २३ ॥

१ युक्त्यावा—अनुमानेनवा । (गो०) २ अपरिक्तीता—अनुका  
इतिनादय । (गो०) ३ अर्थकृच्छ्रेषु—कार्यकृच्छ्रेषु । (गो०) ४ महत्—  
निःश्रेयसं महदैश्वर्यं । (गो०)

एकोऽप्यमात्यो मेधावी १ शूरो दत्तो २ विचक्षणः ३ ।

राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन् महतीं श्रियम् ॥ २४ ॥

किन्तु यदि एक भी बुद्धिमान, स्थिरबुद्धि, विचारकुशल और नीतिशास्त्र में अभ्यस्त मंत्री हो, तो राजा को वा राजकुमार को चड़ी लक्ष्मी प्राप्त करा देता है ॥ २४ ॥

कच्चिन् मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।

जघन्यास्तु जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः ॥ २५ ॥

हे तात ! तुम, उत्तम जाति के नौकरों को उत्तम कार्य में, मध्यम जाति के नौकरों को मध्यम कार्य में और छोटी जाति के नौकरों को छोटे कामों में लगाने हो न ? ॥ २५ ॥

अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्छुचीन् ।

श्रेष्ठाञ्श्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयामि कर्मसु ॥ २६ ॥

तुम उन मंत्रियों को, जो ईमानदार हैं, जो बलपरंपरा से मंत्री होते आते हैं, जो शुद्ध हृदय और श्रेष्ठ स्वभाव के हैं, श्रेष्ठ कार्यों में नियुक्त करते हो न ? ॥ २६ ॥

कच्चिन्नोप्रेण दण्डेन भृशमुद्वजितप्रजम् ।

राष्ट्रं तरानुजानन्ति मन्त्रिणः कैकयीसुत ॥ २७ ॥

हे कैकेयीनन्दन ! तुम्हारे राज्य में उग्रदण्ड से उद्वजित प्रजा कहीं तुम्हारा या तुम्हारे मंत्रियों का अपमान तो नहीं करती ॥ २७ ॥

१ शूरः—स्थिरबुद्धिः । (गो०) २ दक्ष.—विचारसमर्थः । (गो०) ।

३ विचक्षणः—अभ्यस्तनीतिशास्त्र । ४ पितृपैतामहान्—कुलक्रमागतान् । (गो०) \* पाटान्तरे—“राजमात्र” ।

कच्चिच्यां नापजानन्ति याजकाः पतितं? यथा ।

उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥ २८ ॥

जिस प्रकार स्त्रियां परस्त्रीगमन करने वाले पुरुष को पतित समझ उसका अनादर करती हैं, या जिस प्रकार यज्ञ करने वाले यज्ञ-कर्म से पतित का अनादर करते हैं, उसी प्रकार कहीं अविद्यु कर लेने से प्रजा तुम्हारा अनादर तो नहीं करती ॥ २८ ॥

उपायकुशलं वैद्यं भृत्यमन्दूपणं रतम् ।

शूरमैश्वर्यकाम च यो न हन्ति स वध्यते ॥ २९ ॥

जो राजा, विशेष धन के लालच में पड़ें, कूट नीति विशारद पुरुष को, सज्जनों में दोष लगाने वाले नौरु को और राजा तरु को मार डालने में भय न करने वाले पुरुष को नहीं मारता, वह स्वयं मारा जाता है। मो है भाई ! तुम कहीं ऐसे लोगों को तो अपने पाम नहीं रखते ? ॥ २९ ॥

कच्चिद्दष्टश्च शूरश्च मतिमान् पृथिमान् शुचिः ।

कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः ॥ ३० ॥

हे भरत ! तुमन किसी ऐसे पुरुष को, जो व्यवहार में चतुर, शत्रु को जीतने वाला, सैनिक कार्यों में (व्युद्वादि की रचनाओं में) चतुर, विपत्ति के समय धैर्य धारण करने वाला, स्वामी का विश्वासपात्र, सत्कुलोद्भूत, स्वामिभक्त और कार्यकुशल हो, अपना सेनापति बनाया है कि नहीं ? ॥ ३० ॥

१ पतितं—दण्डकामपातित । (गो०) २ वैद्य—वैद्यभोजकुटिल-  
नीतिविद्याविद । (गो०) ३ शूर—रात्रहितनेतिनिर्भय । (गो०) ४ वध्यते—राज्याद्भूतो भवति । (गो०)



यत्नन्तश्च कच्चित्ते मुख्या युद्धविशारदाः ।

दृष्टापदानाः विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥३१॥

अत्यन्त वनवान्, प्रसिद्ध, युद्धविद्या में निपुण और जिनके बल की परीक्षा ली जा चुकी है और जो पराक्रमी हैं, ऐसे पुरुषों को पुरस्कृत कर, तुमने उत्साहित किया है कि नहीं ? ॥ ३१ ॥

कच्चिद्बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् ।

सम्प्राप्तकाल दातव्यं ददासि न विलम्बसे ॥ ३२ ॥

तुम सेना के लोगों को कार्यान्तरूप भोजन और वेतन यथा-समय देने में विलम्ब तो नहीं करते ॥ ३२ ॥

कालातिक्रमणाच्चैव भक्तवेतनयोर्भृताः ।

भर्तुः कुर्यान्ति दुष्यन्ति सोऽनर्थः सुमहान् स्मृतः ॥३३॥

क्योंकि भोजन और वेतन समय पर न मिलने से, नौकर लोग कुपित होने हैं और मालिक की निन्दा करते हैं। नौकरों का ऐसा करना, एक बड़े भारी अनर्थ की बात समझी जाती है ॥ ३३ ॥

कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः ।

कच्चित्प्राणास्तरार्थेषु सन्त्यजन्ति समाहिताः ॥३४॥

भला सब राजपूत और सरदार तो तुम्हारे प्रति अनुराग रखते हैं ? और क्या समय पर वे तुम्हारे लिए सावधानता पूर्वक अपने प्राण दे डालने को तैयार हो सकते हैं ? ॥ ३४ ॥

१ दृष्टापदाना—अनुभूत पौरुष । ( रा० ) २ भक्तं—अन्न वेतन । ( रा० ) ३ कुलपुत्राः—क्षत्रियकुलप्रसूताः । ( गो० ) ४ प्रधानतः—प्रधानाः । ( गो० )

कच्चिज्ज्ञानपदो 'विद्वान् दक्षिणः२ प्रतिमानवान् ।

यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डितः ॥ ३५ ॥

हे भरत ! अपने ही राज्य के रहने वाले, दूसरे के अभिप्राय को जानने वाले, समर्थ, हाजिरजगथ, ( प्रयुष्पन्नमति ) यथोक्तवादी और दूसरे की कही बातों को तर्क से गण्डन करने वाले पुरुषों को, तुमने अपना दूत बनाया है कि नहीं ? ॥ ३५ ॥

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च ।

त्रिमिस्त्रिभिरभिजातैर्वृत्ति तीर्थानि चारकैः ॥ ३६ ॥

अन्य राज्यों के अठारह पदाधिकारी और अपने राज्य के तीन ( मंत्री, पुरोहित, युवराज ) को छोड़ शेष, पन्द्रह राज्याधिकारियों का, हाल जानने के लिए प्रत्येक के पास तीन तीन ऐसे भेड़िए जो आपस में एक दूसरे को न जानते हों, नियुक्त कर, इन सब की कार्यवाहियों का हाल तुम जानते रहते हो न ? ॥ ३६ ॥

[ नोट— अठारह पदाधिकारी ये हैं—

१ मंत्री २ पुरोहित, ३ युवराज, ४ सेनापति, ५ द्वारपाल, ६ अन्तःपुराधिकारी, ७ बंधनशुद्धाधिकारी, (दरोगा, जेल) ८ घनाप्यक्ष, ९ राजा का आशुनुसार नौकरों को आश देने वाला, १० प्राङ्गिकार, ( बकील ) ११ घर्माप्यक्ष, १२ सेना को घेरा घाटने वाला, ( स्वयामर्चा ) १३ टेपेदार, १४ नगराप्यक्ष ( कोतवाल ), १५ राष्ट्रान्तभ्रम ( सीमान्त का अफसर ) १६ दुष्टों क दण्ड देने वाला ( मजिस्ट्रेट ) १७ अन्न, पर्वत, तथा धन का रक्षक और १८ दुर्गों का रक्षक । ]

१ विद्वान्—पराभिप्रायकः । ( गो० ) २ दक्षिणः—समर्थः । ( गो० )

कच्चिद्व्यपास्तान् हितान् प्रतियातांश्च२ सर्वदा ।

दुव्लाननवज्ञाय वर्तसे विपुसदन ॥ ३७ ॥

हे विपुसदन ! तू न शत्रुओं को जिनको तुमने अपने राज्य से निराल किया था और जा फिर किसी तरह लौट कर आ गए हैं, उनको दुर्बल समझ, उनकी ओर से तुम वहीं असा रवाना तो नहीं रहते ? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्न लीकायतिकान् ब्रह्मणांस्तात सेवसे ।

अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः ॥ ३८ ॥

तुम वहीं नास्तिक ब्राह्मणों का तो अपने पास नहीं रखते ? क्योंकि ये लोग अपने को बड़ा पण्डित लगाते हैं, परन्तु वास्तव में मूख या अनभिज्ञ होने के कारण वे यथावत् ज्ञानवन् नहीं होते अथवा शास्त्र के तत्व को न जानने के कारण, धर्मानुष्ठान से लोगों का चित्त हटा कर, लोगों को नरक भेजने में बड़े कुशल होते हैं ॥ ३८ ॥

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः४

बुद्धिमान् नीचिर्का प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ॥ ३९ ॥

मुख्य मुख्य प्रामाणिक धर्मशास्त्रों के विद्यमान रहते भी, उनकी बुद्धि सदा बेदमिच्छ तर्कों ही की ओर दौड़ा करती है और शुद्ध तर्क वितर्क करने की आशय पड़ जाने से, वे सदा अनर्थकारी बचन ही बोलते करते हैं ॥ ३९ ॥

[ टिप्पणी—अतः ऐसे नास्तिक दुर्बुद्धियों से सदा दूर रहना ही उचित है भले ही ये लोग ऊँचे पदाधिकारी क्यों न हों । ]

१ व्यपास्तान्—निष्कासितान् । ( गो० ) २ प्रतियातान्—पुनरागतान् । ( गो० ) ३ अनर्थकुशला—यथावत्ज्ञानवन्तःतेनभवन्तीत्यनर्थकुशलाः । ( गो० ) ४ दुर्बुधाः—बेदमार्गविपरिततुद्वयः । ( गो० ) ५ आन्विचिर्कीबुद्धि प्राप्य—शुक्लतर्कविषयाबुद्धिमास्थाय । ( गो० )

वीरंरघ्युपिता पूवमस्माक तात पूवकं ।  
 सत्यनामा दृढद्वारा हस्त्यश्वरयसङ्कुलाम् ॥४०॥  
 ब्राह्मणं क्षत्रियवेश्यं स्वकमनिरतं सदा ।  
 जितेन्द्रियमहोत्साहवृतामार्यं सहस्रश ॥४१॥  
 प्रासादंविधिधाकारं वृता वंद्यजनाकुलाम् ।  
 कच्चित्समुदिता स्फोतामयोध्या परिरक्षसि ॥४२॥

हे तात ! तुम उस प्रयोध्या की तो भसी भांति रसा करते हो जो हमारे पिता पितामहादि घोर पुरुषों की भोगी हुई धपन नाम की चरि साय करन यानी दड़ द्वारों यानी हाथियों घाड़ों घोर रथा से भरी हुई बर्णान्हुप घमशायों में सदा तपर रहन वाले ब्राह्मणा क्षत्रियों और यथा से युवन जितेन्द्रिय घोर महाउत्साही हजारों घाय जना स सुगोभिन विविध घाहार प्रहार के भयनों से पुन विद्वज्जनों से भरा हुई है और जो दिन दिन उन्नतवस्था की प्राप्त हो रही है ॥४०॥४१॥४२॥

कच्चिच्चैत्यशतजुष्टं सुनिविष्टजनाकुलं ।  
 देवस्थानं प्रपाभिश्च तटाकंश्चोपशोभितं ॥४३॥  
 प्रहृष्टनरनारोकं समाजोत्सवशोभितं ।  
 सुदृष्टसीमा पशुमान् हिंसाभिरनिर्वाजितं \* ॥४४॥

१ कचक्रनाकुला—विद्वज्जना संराश्रुतां । ( गा० ) २ समुनिना—  
 सुकुलुष्टजना । ( गो० ) ३ सुनिविष्टजनाकुल—सुप्रतिष्ठितजनस्थान ।  
 ( गा० ) ४ प्रपाभि—पानीपान्यादि । ( गा० ) ५ सुदृष्टसीमा—  
 प्राणा ईशमृणा च भूमिन तपामील । ( गो० ) ६ हिंसामि इतिनि  
 पडमि । ( गा० )

\* पाठान्ते— इतिविश्व ।

अदेवमातृको रम्यः श्वापदः परिवर्जितः ।

परित्यक्तो भयः सर्वैः त्वनिभिश्चोपशोभितः ॥४५॥

विवर्जितो नरैः पापैर्मम पूर्वः सुरक्षितः ।

कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव ॥४६॥

हे राघव ! जिस देश में घने वनमानुष्यजन हो चुके हैं, जहाँ मुप्रतिष्ठित लोग रहते हैं, जो घनेक देवालयों पीसतों घोर तडागों से शोभित है, जो हविर्त स्त्री पुरुषों से घोर सामाजिक उत्सवों से शोभायमान है, जहाँ पर तिल बराबर भी जमीन बिना जुनी नहीं है, जहाँ पर हाथी, घोड़े, गाय, बैल, आदि पशु नरे पड़े हैं, जहाँ १ ईति का कभी भय नहीं होता, जहाँ के लोग मेघजल ही के ऊपर निर्भर नहीं हैं, (अर्थात् सरयू का तटवर्ती देश होने के कारण खेतों की निचाई के लिए वर्षाजल पर ही विस्तार निर्भर नहीं है), जो रमणीक है, जो हिमक पशुओं से रहित है, जो चोरी आदि सब भयों से रहित है जो नाना खानों से शोभित है, जहाँ धारीजन एक भी नहीं है, जो उत्तरोत्तर उन्नति प्राप्त है तथा जो मेरे पूर्व-पुरुषों से सुरक्षित है, वह देश तो सुखी है ? ॥४३॥४४॥४५॥४६॥

[ १ दति—प्रतिवृष्टिरनावृष्टिर्भूषिका. सत्तमा खमा ।

प्रत्यासन्नाश्च राजान पडेता दैतय. स्मृता । (गो०) ]

कच्चित्ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः ।

वात्तियां संश्रितस्तात लोको हि सुखमेधते ॥४७॥

हे तात ! जो लोग खेती कर घोर पशुओं को पाल, अपना गुजारा करते हैं उन पर तुम प्रसन्न तो रहने हो ? क्योंकि ये लोग खेन देन के कार्य में निपुण रह कर घनधान्य युक्त होने हैं ॥४७॥

१ दयिता -- प्रिया । ( सि० ) २ कृषिगोरक्षजीविनः—वैदना (गो०)

तेषां गुप्तपरीहारैः कच्चित्ते भरणं कृतम् ।

रक्षया हि राजा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः ॥४८॥

तुम उन लोगों को उनकी इष्ट वस्तु दे कर तथा उनका परिष्ट दूर करने उनका भरण पोषण तो करते हो ? क्योंकि राजा को उचित है कि वह अपने राज्य में बसने वालों की धर्म से ( ईमानदारी से ) रक्षा करे ॥४८॥

कच्चित्त्रयः सान्त्वयसि कच्चित्ताश्च सुरक्षिताः ।

कच्चिन्न श्रद्धास्यासां कच्चिद्गुह्यं न भावसे ॥४९॥

जब तुम स्त्रियों को प्रमत्त रखते हो ? उनकी भती भ्राति रक्षा करते हो कि नहीं ? उनका विश्वास तो नहीं कर लेते ? कभी स्त्रियों को अपने गुप्त भेद तो नहीं बतला देते ? ॥४९॥

कच्चिन्नागवनं गुप्तं कच्चित्ते सन्ति धेनुकाः ।

कच्चिन्न गणिकाश्वानां कुञ्जराणां विभूषितम् ॥५०॥

जिन वनों में हाथी हैं वे भती-भ्राति रक्षायें तो जाने हैं ? जो हथिनियाँ हाथियों की पकड़वाती हैं, उनका पालन पोषण तो ठीक ठीक होता है ? तुम हाथियों हथिनियों और घोड़ों के साथ में लूत तो नहीं होते ? ॥५०॥

कच्चिद्दृशयसे नित्यं मनुष्याणां विभूषितम् ।

उत्यायोत्याय पूर्वोल्ले राजपुत्र महापथे ॥५१॥

१ गुप्तपरीहारैः—इष्टवस्तुनिष्कारणैः । ( गो० ) २ सान्त्वयसि—प्रबुद्ध्याया पश्ये । ( गो० ) ३ धेनुकाः—गवपट्टायावन्मूढाः बलिभ्यः । ( गो० ) ४ गणिकाः—करिष्य । ( गो० ) ५ महापथे—समाप्तौ । ( गो० )

\* पाठान्तरे—“य तुष्यति” ।

हे राजपुत्र ! तुम अपने को सर्व प्रकार से भूषित कर दोपहर से पहले ही, सभा में जा, प्रजाजनों से मिलते हो कि नहीं ॥५१॥

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षास्तेऽविशङ्कया ।

सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा मध्यमेवात्र कारणम् ॥५२॥

तुम्हारे यहाँ जो काम करने वाले लोग हैं, वे निर्भय हो तुम्हारे निकट तो सदा नहीं चले आया करते या मारे डर के तुमसे प्रति दूर तो नहीं रहते ? क्योंकि ये दोनों ही बातें लाभप्रद नहीं हैं । अतः काम करने वालों के साथ मध्यम व्यवहार करना उचित है । (अर्थात् इनका कभी-कभी तो तुम्हारे पास आना और कभी-कभी दूर रहना ही वाञ्छनीय है) ॥५२॥

कच्चित्सर्वाणि दुर्गाणि धनधान्यायुधोदकैः ।

यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिघनुर्धरैः ॥५३॥

तुम्हारे सब किल तो धन धान्य, हथियार, जल, कत्त, क्रियाकुशल और चलाने वाले घोड़ारों से परिपूर्ण हैं कि नहीं ? ॥५३॥

आयस्ते विपुलः कच्चित्कच्चिदल्पतरो व्ययः ।

अपात्रेषु न ते कच्चित्कोशो गच्छति राघव ॥५४॥

हे राघव ! तुम्हारे कोश में आमदनी अधिक और आमदनों से कम व्यय है कि नहीं, तुम्हारे कोश का धन वहाँ नाचने-गाने वालों को तो नहीं लुटाया जाता ? ॥५४॥

देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाम्यागतेषु च ।

योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चिद्गच्छति ते व्ययः ॥५५॥

१ शिल्पिघनुर्धरैः — क्रियाकुशलघनुर्धरिभिः । (शिव०) २ अपात्रेषु — नटविटगायकेषु । (गो०)

देवता, वितर, बाह्यण, घग्मागत, योद्धा घोर मित्रगण--इन सब के लिए तुम्हारे कोश का धन व्यय किया जाता है कि नहीं ? ॥५५॥

कच्चिदार्यो विशुद्धात्माऽऽक्षारितश्चोरकर्मणा ।

अपृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद्बध्यते शुचिः ॥५६॥

जब अष्ट्रे चरित्र थाले साथ सोग, जो झूठे घोरी घादि अपवादों से दूषित हो, विचारार्थ, ग्यायालय में उपस्थित किए जाते हैं, तुम्हारे नीति-शास्त्रकुशल सोग (सरकारी यकीन) उनसे जिरह कर सत्यासत्य का निर्णय किए बिना ही, सामच में फँस, उनको वहाँ दण्ड तो नहीं दे देते ? ॥५६॥

गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्टः सकारणः ।

कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नरर्षभ ॥५७॥

हे पुरुषधेष्ठ ! जो चोर चोरी करते समय पकड़ा गया घोर जिरह से जिसका चोरी करना सिद्ध हो चुका, वह चोर, वहाँ घूत के सातब से छोड़ तो नहीं दिया जाता ? ॥५७॥

व्यसने कच्चिदाढ्यस्य दुर्गतस्य च राघव ।

अर्यं विरागाः पश्यन्ति तवामात्या बहुश्रुताः ॥५८॥

धनी घोर गरीब का झगडा होने पर तुम्हारे बहुधन (धनभयो) सबिच, लोभरहित हो, दोनों का मुद्दमा, ग्यायपूर्वक निबटाने हैं कि नहीं ? ॥५८॥

यानि मिथ्याभिज्ञस्तानां पतन्त्यस्त्राणि राघव ।

तानि पुत्रपत्नून् घ्नन्ति श्रोत्यर्षमनुशासतः ॥५९॥



क्योंकि हे राघव ! मूठे दोषारोपण के लिए दण्डित लोगों के नेत्रों से गिरे हुए धांसू उस राजा के, जो केवल अपने शारीरिक सुख (पेता प्राराम) के लिए राज्य करता है और न्याय की ओर ध्यान नहीं देता, पुत्रों और पशुओं का नाश कर डालने है ॥५९॥

कच्चिद्वृद्धाश्च वालांश्च वैद्यमुरयांश्च राघव ।

'दानेन मनसा' वाचा' त्रिभिरेतैर्बुभूषसे ॥६०॥

हे राघव ! तुम बूढ़ों, बालकों, बंछों और मुखिया लोगों को, (१) उनकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करके, (२) उनके साथ स्नेहपूर्वक व्यवहार करके और (३) उनसे प्राश्यासनमूचक वचन कह—(इन) तीन तरह से राजी तो रखते हो ? ॥६०॥

कच्चिद्गुरुंश्च वृद्धाश्च तापसान् देवतातिथीन् ।

चैत्यांश्च सर्वान् सिद्धार्यान् ब्राह्मणांश्च नमस्यसि ॥६१॥

तुम गुरुओं, बूढ़ों तपस्वियों देवताओं, प्रतिथियों चौराहे के बड़े बूढ़ों और दिष्टा-तपोनिष्ठ ब्राह्मणों को तो श्रद्धापूर्वक प्रणाम करते हो ? ॥६१॥

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः ।

उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन च न वाधसे ॥६२॥

वहाँ धर्मानुष्ठान के समय को धर्मोपार्जन में अथवा धर्मोपार्जन के समय को धर्मानुष्ठान में तो नष्ट नहीं कर देते ? अथवा सुखान्निताया के लिए विषयवाचना में फँस, धर्मोपार्जन और धर्मानुष्ठान दोनों का समय तो नहीं गँवा देते ? ॥६२॥

१ दानेन—प्रथिमवस्तुप्रदानेन । (गो०) २ मनसा—स्नेहेन । (गो०) ३ वाचा—शान्तवचनेन । (गो०) ४ चैत्यान्—देवतावासमूच-चतुःपयस्य महावृक्षान् । (गो०)

कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतांवर ।

विभज्य काले कालज्ञ सर्वान् भरत सेवसे ॥६३॥

हे जीतने वालों में धेष्ठ ! हे कालज्ञ भरत ! धर्म धर्म और काम इन तीनों को समय विभाग कर किया करते हो रि नहीं ? (प्रातःकाल दानादिधर्म में तदनन्तर राजकाज में और रात—काम के लिए) धर्मात् यहाँ एक ही काम में तो सारा समय नहीं बिता देते ? ॥६३॥

कच्चित्ते ब्राह्मणाः शर्म' सर्वशास्त्रार्थकोविदाः ।

'शाशंसन्ते महाप्राज्ञ पौरजानपदैः सह ॥६४॥

हे महाप्राज्ञ ! पुरातन ज्ञानपदवाली और धर्मशास्त्र के सम्पूर्ण धर्मों को जानने वाले पण्डित तुम्हारे गुल के लिए प्रायना ता किया करते हैं ॥६४॥

नास्तिवयमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।

अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं 'पञ्चवृत्तिताम् ॥६५॥

एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञश्च मन्त्रणम् ।

निश्चितानामनारम्भ मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ॥६६॥

मङ्गलस्याप्रयोगं च प्रत्युत्थानं' च सर्वतः ।

कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषाश्चतुर्दश ॥६७॥

हे भरत ! १ नास्तिवृत्ता, २ अपत्यभाषण, ३ क्रोध ४ अनपमानता, ५ दीर्घसूत्रता, ६ ज्ञानियों से न मिलना, ७ आरम्भ, ८ इन्द्रियों की

१ धर्म—गुण । (गो०) २ शाशंसन्ते—शायत त ३ पञ्चवृत्तिताम्—पञ्चधेन्द्रियपरवशता । (गो०) ४ प्रत्युत्थान ध मवउ —तीव्रस्थानों रस्या-  
ध्यात्मने प्रत्युत्थानमित्यर्थ । (गो०)

परवशता, ६ मन्त्रियों की झवहेला कर स्वयं झकेते ही राज्य सम्बन्धी  
 बातों पर विचार करना, १० अशुभ बन्तकों झयवा उल्टी बात सुनाने  
 वालों से सलाह करना, ११ निश्चित किए हुए कामों को झारम्भ न करना,  
 १२ सलाह को न छिपाना, १३ मङ्गल कृत्यों का परित्याग झौर १४ नीच  
 ऊँच सब को देख उठ सडे होना या सब को झन्यृत्यान देना झयवा चारों  
 झौर मुद्ध करते फिरना—इन चौदह राजदोषों को तो तुमने त्याग दिया  
 है ? ॥६५॥६६॥६७॥

दश पञ्च चतुर्वर्गान् सप्तवर्गं च तत्त्वतः ।

अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघव ॥६८॥

हे भरत ! १ शिवा, २ जुषा, ३ दिन का सोना, ४ पर-निन्दा  
 ५ स्त्री, ६ मद, ७ नृत्य, ८ गीत, ९ वाद्य झौर १० वृषा इषर-उपर  
 घूमना (ये दश कामज दोष हैं) इनको, १ जल सम्बन्धी २ पर्वत सम्बन्धी  
 ३ वृक्ष सम्बन्धी ४ ऊसर भूमि सम्बन्धी झौर ५ निजंतल देश सम्बन्धी,  
 इन पांच प्रकार के दुर्गों को; १ साम २ दान ३ दण्ड झौर ४ भेद—  
 इन चार नीतियों को; १ स्वामी २ मन्त्री ३ राष्ट्र ४ दुर्ग, ५ क्रोश ६ सेना  
 ७ मित्र राज्य, इन सात अर्गों को—तुम भली भांति जानने हो झौर  
 इन पर विचार किया करते हो कि नहीं ? १ चुगली २ दु साहस, ३ झोह,  
 ४ झह ॥६८॥

इन्द्रियाणां जयं बुद्ध्वा पाङ्गुण्यं दैवमानुषम् ।

कृत्यं विशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम् ॥६९॥

१ गूण में दोष दर्शन, ६ अर्थ में दोषारोपण, ७ कठोर वचन, ८ तीक्ष्ण-  
 दण्ड दान (ये क्रोषत्र झ्राठ दोष हैं)—इनको; १ धर्म २ अर्थ झौर  
 ३ काम—इन तीनों को; तीन प्रकार की विद्याओं को (तीनों वेदों का

पढ़ना); १ सन्धि, २ विग्रह, ३ चढ़ाई, ४ समय की प्रतीक्षा, ५ शत्रुओं में फूट फैलाना, और ६ किमी बली को भ्रपना सहायक बनाना—इन छाहों को; १ अग्नि, २ जल, ३ व्याधि ४ दुर्भिक्ष और महामारी इन पाँच तरह की वैदिक विपत्तियों, को तुम भली भाँति जानते तो हो? अधिकारियों से, चोरों से, शत्रुओं से, राजा के कृपापात्रों से और राजा के सासब से उत्पन्न हुई विपत्तियों को तुम भली भाँति जानते और उन पर ध्यान तो देते हो? १ बालक २ वृद्ध ३ दीर्घकालीन रोगी ४ जातिबहिष्कृत, ५ डरपोक, ६ दूसरों को डराने वाला, ७ लोभी ८ लोभी का सम्बन्धी, ९ प्रजा का विरक्ति भाजन १० इन्द्रियासन, ११ बहुत लोगों के साथ परामर्श करने वाला १२ देव ब्राह्मण-निन्दक १३ भाग्यहीन १४ भाग्य पर निर्भर रहने वाला १५ अकाल का मारा, १६ विदेश में मारामारा फिरने वाला, १७ बहुत शत्रुओं वाला १८ यथासमय काम न करने वाला १९ सत्य धर्म पर तत्पर न रहने वाला और २० सेना का सहायक हुआ या बड़ा पहलवान—इन बीमों को; राज्य स्त्री, स्यान, देश, जाति और धन जिनके छोन लिए गए हों (यह प्रवृत्ति मंडल है)—इनको; शत्रु, मित्र, शत्रुवा भली भाँति का शत्रु और परममित्र (ये राजमंडल हैं)—इनको; तुम मित्र का मित्र जानते और इन पर ध्यान देते हो? ॥६६॥

यात्रादण्डविधानं<sup>१</sup> च द्वियोनी<sup>२</sup> सन्धिविग्रहौ ।

कच्चिदेतान् महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे ॥७०॥

हे महाप्राज्ञ ! यात्राविधान, दण्डविधान सन्धि, विग्रह, करने न करने वालों को परख लेना—इन बातों को तुम भली भाँति जानते हो कि नहीं? ॥७०॥

१ यात्रादण्ड विधानं—यात्राया दण्डस्यर्गस्यविधान गविधानं व्यूहभेद विधानं । (गो०) २ द्वियोनी—सन्धिविग्रहयानासनद्वयोन्मावममाश्रयो तपोरूप । (गो०)

मन्त्रिभिस्त्वं ययोद्दिष्टैश्चतुर्भिस्त्रिभिरेव वा ।

कच्चित्समस्तैर्व्यस्तैश्च मन्त्रं मन्त्रयसे मियः<sup>१</sup> ॥७१॥

हे मतिमान् ! तुम नीतिशास्त्र के अनुसार तीन या चार मन्त्रियों को एकत्र कर एक साथ, अथवा उनसे अलग गुप्त परामर्श करते हो ? ॥७१॥

कच्चित्ते सफला वेदाः कच्चित्ते सफलाः क्रियाः ।

कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम् ॥७२॥

क्या तुम अग्निहोत्रादि धनुष्ठान करके वेदाध्ययन को सफल करते हो ? दान और भोग में लगा वर, क्या तुम अपने धन को सफल करते हो ? यथाविधि सत्तानोत्पत्ति कर स्त्रियों को तुम सफल करते हो ? तुमने जो शास्त्र ध्वषण किया है उसके अनुसार आवरण कर तुम शास्त्र-ध्वषण को चरितार्थ तो करते हो ? ॥७२॥

[महाभारत में लिखा है—

अग्निहोत्रफलावेदा, तद्यमुक्तफल धन ।

रतिपुत्रफलादारा चीतवृत्तफल श्रुत ॥

७२वें श्लोक का आशय इस श्लोक में स्पष्ट कर दिया गया है ।]

कच्चिद्वैव ते बुद्धिर्यथोक्ता भम राघव ।

आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थसंहिता ॥७३॥

धर्म, धर्म तथा काम के साधन में जो बातें मने तुमसे अभी कही हैं और जिनके अनुसार चलने से यश और आयु बढ़ती है, वे तुम्हें पसन्द हैं कि नहीं ? ॥७३॥

१ मिय — रहसि मत्र मन्त्रयसे कच्चिन् । (गो०)

यां वृत्तिं वर्तते तातो यां च नः प्रपितामहा ।

तां वृत्तिं वर्तसे कच्चिदद्या च सत्पथगा शुभा ॥७४॥

सन्मार्गानुसारिणी और अनिन्दिता वृत्ति जिसके अनुसार हमारे पूर्वज पिता पितामहादि चलते थे, उसी वृत्ति को प्रबल बन कर तुम भी चलते हो न ? ॥७४॥

कच्चित्स्वादुकृतं भोज्यमेको नाश्नासि राघव ।

कच्चिदाशंसमानेभ्यो मित्रेभ्यः सम्प्रयच्छसि ॥७५॥

हे भरत ! तुम स्वादिष्ठ भोजन अकेले ही तो नहीं खा लेते ? यदि मित्र खाते समय उपस्थित हो उनको देकर खाते हो न ? ॥७५॥

राजा तु धर्मेण हि पालयित्वा

महामतिर्दण्डधरः प्रजानाम् ।

अवाप्य कृत्स्नां वसुधां यथाव-

दितश्च्युतः<sup>१</sup> स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥७६॥

इति शततम सर्ग ॥

देखो, जो नीतिज्ञ और शासनदण्डधारी राजा धर्मानुसार प्रजा का पालन करता है— वह जानी राजा पूर्व राजाओं की तरह सम्पूर्ण पृथिवी का स्वामी हो, मरने पर स्वर्ग में जा वास करता है ॥७६॥

अयोध्याकाण्ड का सौवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

टिप्पणी—श्रीराम ने इस सर्ग में भरत को राजनीति एवं राजा का अनुष्ठेय आचरण का उपदेश बड़ी अच्छी तरह किया है । यह है हमारे भारत की प्राचीन राजनीति ।

— ०० —

<sup>१</sup> च्युत — प्रारब्धकर्मवसानो मृत इत्यर्थं । (गा०)

## एकोत्तरशततमः सर्गः

—:—

रामस्य वचनं श्रुत्वा भरतः प्रत्युवाच ह ।

किं मे 'धर्माद्विहीनस्य राजधर्मः करिष्यति ॥१॥

श्रीराम के वचन सुन, भरत जो बोले कि, मैं तो स्वकुलोचित रीति से रहित हूँ—अतः राजधर्म का उपदेश मेरे लिए किस काम का ? ॥१॥

शाश्वतोऽयं सदा धर्मः स्थितोऽस्मासु नरर्षभ ।

ज्येष्ठपुत्रे स्थिते राजन् न कनीयान्नृपो भवेत् ॥२॥

हे पुण्यश्रेष्ठ ! हमारे कुल में तो सदा से यह रीति चली आती है कि बड़े पुत्र के सामने छोटा पुत्र राजा नहीं हो सकता ? ॥२॥

स समृद्धां मया सार्धमयोध्यां गच्छ राघव ।

अभिषेचय चात्मानं कुलस्यास्य भवाय<sup>१</sup> नः ॥३॥

अत हे राघव ! आप मेरे साथ धनधान्यपूर्ण आयोध्यापुरी में चलिए और अपना राज्याभिषेक करवा कर, हमारे कुल का बल्याण कीजिए ॥३॥

राजानं मानुषं प्राहुर्देवत्वे सम्मतो मम ।

यस्य धर्मार्थसहितं वृत्तमाहुरमानुषम् ॥४॥

१ धर्मविहीनस्य—स्वकुलोचितरीतिः विहीनस्य । (सि०) २ भवाय नशाय । (गो०)

लोग राजा को भले ही मनुष्य कहा करें, किन्तु मैं तो राजा को देवता समझता हूँ । क्योंकि उसके धर्म और अर्थ से अनुमोदित चरित्तोकोतर होते हैं अर्थात् साधारण मनुष्य से भिन्न होते हैं ॥५॥

केकयस्थे च मयि तु त्वयि चारण्यमाश्रिते ।

दिवमार्यो गतो राजा धायजूकः सतां मतः ॥५॥

जब मैं अपनी ननिहाज केकयराज्य में था और तुम धन में घले पाए थे, तब अनेक यज्ञ करने वाले तथा साधु सज्जन लोगो से प्रशंसित महाराज दशरथ स्वर्ग को सिधारे ॥५॥

निष्क्रान्तमात्रे भवति सहस्रानि सलक्ष्मणे ।

दुःखशोकाभिभूतस्तु राजा त्रिदिवमभ्यगात् ॥६॥

सौता और लक्ष्मण के साथ तुम्हारे अयोध्या छोड़ते ही, महाराज दुःख और शोक से ऐसे विकृत हुए कि उन्हें स्वर्ग को जाना पडा ॥६॥

उत्तिष्ठ पुरुषद्वयात्र क्रियतामुदकं पितुः ।

अर्हं चायं च शत्रुघ्नः पूर्वमेव कृतोदकी ॥७॥

हे पुरुषसिंह ! अब इस समय उठ लड़े होइए और नदी तट पर चलकर पिता को जलाञ्जलि दीजिए । शत्रुघ्न और मैं तो पहिले ही जलाञ्जलि दे चुका हूँ ॥७॥

प्रियेण सत्तु दत्तं हि पितृलोकेषु राघव ।

अक्षय्यं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः ॥८॥



हे राघव ! लोग कहा करते हैं कि प्रिय पुत्र का दिया हुआ पिण्ड  
घोर जल पितृलोक में अक्षय्य होकर बना रहता है, सो आप पिता जी  
के प्रिय पुत्र हैं ॥८॥

त्वामेव शोचंस्तव दर्शनेप्सु-

स्त्वप्येव सप्ततामनिवर्त्य बुद्धिम् ।

त्वयाविहीनस्तव शोकहाणः<sup>१</sup> ।

त्वां संस्मरन् स्वर्गमवाप<sup>२</sup> राजा ॥९॥

इति एकोत्तरशततम सर्गः ॥

क्योंकि तुम्हीं को सोचते, तुम्हें देखने की इच्छा करते, तुम्हीं को  
याद करते, तुम्हारे वियोगजनित दुःख से विरल और तुम्हारा नाम लेने  
पिता जी स्वर्ग पवारे हैं ॥९॥

अयोध्याकाण्ड का एकतां एकवां सर्ग समाप्त हुआ ।

— ० : —

## द्व्युत्तरशततमः सर्गः

— ० : —

तां श्रुत्वा कृष्णां<sup>१</sup> वाचं पितुर्मरणसंहिताम् ।

राघवो भरतेनोक्तां बभूव गतचेतनः ॥१॥

श्रीरामचन्द्र ने भरत के मुख से पिता के मरने का जब शोकप्रद  
समाचार सुना, तब वे मूर्छित हो गए ॥१॥

१ कृष्णा — पीड़ित इति यावत् । (गो०) २ कृष्णा — शोकावहा ।  
(गो०) \*पाठान्तरे— "संस्मरन्स्त्वमित" "संस्मरन्नेवगत्." ।

तं तु वज्रमिवोत्सृष्टमाहवे दानवारिणा ।

वाग्वज्रं भरतेनोक्तममनोजं परन्तप ॥२॥

जैसे दंत्यों के शत्रु इन्द्र दंत्यों पर पृथुबाल में वज्र का प्रहार करते हैं, वैसे ही भरत जी के वज्ररूपी वचन का भीषण प्रहार, धीरामचन्द्र पर हुआ ॥२॥

प्रगृह्य वाहूँ रामो वै पुष्पिताग्रो यथा द्रुमः ।

वने परशुना कृत्तस्तथा भुवि पपात ह ॥३॥

राम (पछनावे से) दोनों हाथ मलते हुए कुल्हाड़े से काटे हुए पुष्पित वृक्ष की तरह पृथिवी पर गिर पड़े ॥३॥

तथा निपतितं रामं जगत्यां जगतीपतिम् ।

कूलघातपरिश्रान्तं प्रसुप्तमिव कुञ्जरम् ॥४॥

जगतपति राम पृथिवी पर मूर्छित पड़े ऐसे जान पड़ते थे, मानों कोई मतवाला हाथी, नदी का तट दहाते दहाते घक कर पड़ा हुआ सो रहा हो ॥४॥

भ्रातरस्ते महेष्वासं सर्वतः शोककाशितम् ।

रुदन्तः सह वैदेह्या सिपिचुः सलिलेन च ॥५॥

तत्र राम को मूर्छित हुआ देख जानकी सहित सब भाई शोक से विवश हो रोते रोते महापनुषधारी राम के ऊपर जल छिड़क, उनकी मूर्धा भङ्ग करने का प्रयत्न करने लगे ॥५॥

१ वाहूँ प्रगृह्य—वाग्निना पाणो निनीड्य उद्भृत्वा वा । (गी०)

स तु संज्ञां पुनर्लब्ध्वा नेत्राम्यामस्त्रमुत्सृजन् ।

उपाक्रमत\* काकुत्स्थः कृपणं बहु भाषितुम् ॥६॥

जब श्रीरामचन्द्र जी सचेत हुए, तब वे रोने रोने बहुत विलाप करने लगे ॥६॥

स रामः स्वर्गतं श्रुत्वा पितरं पृथिवीपतिम् ।

उवाच भरतं वाक्यं धर्मात्मा धर्मसंहितम् ॥७॥

धर्मात्मा राम यह सुन कर कि, पिता जी स्वर्ग सिधारे हैं, भरत जी से धर्मसङ्गत यह वचन बोले ॥७॥

किं करिष्याम्ययोध्यायां ताते दिष्टां गतिं गते ।

कस्तां राजवराद्धीनामयोध्यां पालयिष्यति ॥८॥

जब पिता जी ही स्वर्ग चले गए तब मैं अयोध्या जा कर ही क्या करूँगा ? उन राजश्रेष्ठ के बिना अयोध्या का शासन कौन करेगा ॥८॥

किन्तु तस्य मया कार्यं दुजतिन महात्मनः ।

यो मृतो मम शोकेन मया चापि न संस्कृतः ॥९॥

मेरा जैसा व्यर्थ जन्म धारण करने वाला पुत्र, उन महात्मा पिता के लिए क्या कर सकता है ? मेरे वियोगजन्य शोक से तो उनका देहान्त हुआ और हाथ मैं उनका अन्तिम संस्कार भी न कर पाया ॥९॥

अहो भरत सिद्धार्यो येन राजा त्वयाऽनघ ।

शत्रुघ्नेन च सर्वेषु प्रेतकृत्येषु संस्कृतः ॥१०॥

\* पाठांतर—“उपाक्रमत” ।

हे निष्पाप भरत ! तुम्हीं अच्छे रहे कि, तुमने और शत्रुघ्र  
ने पिता जी के सम्पूर्ण अन्यायपूर्ण कर्म तो कर लिए ॥ १० ॥

निष्प्रधानामनेकायां नरेन्द्रेण विनाकृम् ।

निवृत्तजनसोऽपि नायोध्यां गन्तुमुत्सहे ॥ ११ ॥

अभी क्या, मैं तो बनवास से लौट कर भी, उन प्रधान  
पुरुषहीन स्वास्थ्यवर्धित अयोध्या में, जाना नहीं चाहता ॥ ११ ॥

समाप्तजनवासं मामयोध्यायां परन्तप ।

कोऽनु शामिष्यति पुनस्ताते लोकान्तरं गते ॥ १२ ॥

क्योंकि हे परन्तप ! मैं बनवास की अधि पूरी कर यदि  
अयोध्या जाऊँ भी तो वहाँ अब मुझे हिताहित का उपदेश देन  
वांछा है ही कौन ? ॥ १२ ॥

पुरा प्रेक्ष्य स्मृतं मां पिता यान्याह सान्त्वयन् ।

वाक्यानि तानि श्रोष्यामि कुतः कर्णमुखान्यहम् ॥ १३ ॥

मेरे सद् आचरणों को देख, पिता जी मुझे मनेहपूर्वक जो  
उपदेश देते थे, अब उन कर्णमुखद् उपदेशों को, मैं वहाँ किससे  
सुनूँगा ? ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा स भरतं मार्यामभ्येत्य राघवः ।

उवाच शौमन्वतः पूर्यचन्द्रनिमाननाम् ॥ १४ ॥

१ अनेकामा—स्वास्थ्यरहिता । (श्लो०) २ अनुशासित्विति—हिता  
हित विषय प्रवृत्ति निवृत्तिकारिण्यति । (श्लो०)

शोकसन्तप्त श्रीरामचन्द्र जी भरत जी से यह कह कर और सीता की ओर मुख कर, पूर्णमासी के चन्द्रमा सदृश मुख वाली जानकी से बोले ॥ १४ ॥

सीते मृतस्ते श्वशुरः पित्रा हीनोऽसि लक्ष्मण ।

भरतो दुःखमाचष्टे स्वर्गतं पृथिवीपतिम् ॥ १५ ॥

हे सीते ! तुम्हारे समुर स्वर्ग सिधारे । हे लक्ष्मण ! तुम पिता-हीन हो गए । क्योंकि महाराज के स्वर्गवास का यह दुःखदायी संवाद मुझे भरत जी से अवगत हुआ है ॥ १५ ॥

ततो बहुगुणं तेषां वाप्यो, नेत्रेष्वजायत ।

तथा ब्रुवति काकुत्स्थे कुमारार्णां यशस्विनाम् ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसा कहने पर, सब बहुगुणी एवं यशस्वी राजकुमार रोने लगे ॥ १६ ॥

ततस्ते आतरः सर्वे भृशमाशवास्य राघवम् ।

अब्रुवज्जगतीभर्तुः क्रियतामुदकं पितुः ॥ १७ ॥

तदनन्तर उन सब भाइयों ने शोक से चिंकल श्रीरामचन्द्र को बहुत समझाया और कहा, अब आप महाराज को जला-द्वजलि दीजिए ॥ १७ ॥

सा सीता श्वशुरं श्रुत्वा स्वर्गलोकगतं नृपम् ।

नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यामशकन्नोचितुं पतिम् ॥ १८ ॥

सीता जी के नेत्रों में, ससुर के देहान्तरित होने का संवाद सुनने से, इतने आंसू भर गए कि, वे अपने पति को न देख सकी ॥ १८ ॥

सान्त्वयित्वा तु तां रामो रुदन्तीं जनकात्मजाम् ।

उवाच लक्ष्मणं तत्र दुःखितो दुःखितं वचः ॥ १६ ॥

तत्र रुदन करती हुई जानकी जी को श्रीरामचन्द्र जी ने समझा घुमाकर वीरज बैसाया । फिर शोक से विफ़ल हो, श्री रामचन्द्रजी ने, दुःखित लक्ष्मण जी से कहा ॥ १६ ॥

आनयेद्गुदिपिण्याकू चीरमाहर चोत्तरम् ।

जलक्रियार्थं तातस्य गमिष्यामि महात्मनः ॥ २० ॥

है लक्ष्मण ! तुम इस समय इ गुदी के बीजों (द्विगोट) को पीस कर ले आओ और एक नया घोर मेरे पहिने के लिए ले आओ । अब मैं पिता जी को जलाञ्जलि देने को धलता हूँ ॥ २० ॥

सीता पुरस्ताद्भ्रजतु त्वमेनामभितो व्रज ।

अह पश्चाद्गमिष्यामि गतिर्क्षेपा सुदारुणा ॥ २१ ॥

सीता आगे आगे चले और तुम इनके पीछे चलो और मैं सब के पीछे चलूँगा । क्योंकि इस दारुण समय में चलने का यही विधान है ॥ २१ ॥

[ टिप्पणी—ऐसे समय में चलने का नियम घमंशुष का यह प्रमाण है—

“सर्वे कनिष्ठप्रथमा अनुपूर्वरतरे ग्नियोमे ।” ]

ततो निन्यानुगस्नेपां विदितात्मा महामतिः ।

मृदुर्दान्तश्च शान्तश्च रामे च दृढमक्तिमान् ॥ २२ ॥

मुमन्त्रस्त्वं नृपसुतः सार्धमारयास्य राघवम् ।

अवातारयदानन्व्य नदी मन्दाकिनीं शिवाम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर इक्ष्वाकु राजघराने के पुराने अनुचर, ज्ञानी, महामति, क्रोमलहृदय, जितेन्द्र, शान्तस्वभाव और श्रीराम में दृढ़ भक्ति रखने वाले सुमित्र, उन राजकुमारों को अनेक प्रकार से समझा कर, उन्हें निर्मल जलवाली अथवा पवित्र जलवाली मदाकिनी नदी के तट पर ले गए ॥ २२ ॥ २३ ॥

ते सुतीर्यां ततः कृच्छ्रादुपागम्य यशस्विनः ।

नदीं मन्दाकिनीं रम्यां सदा पुष्पितकाननाम् ॥२४॥

रमणीय और सदा फूले हुए वन में होकर बहने वाली मदाकिनी के सुन्दर घाट पर, वे लोग अति कष्ट से गिरते पड़ते पहुँचे ॥ २४ ॥

शीघ्रस्रोतः समासाद्य तीर्थं शिवमकर्दमम् ।

सिषिचुस्तृदकं राज्ञे तत्रैतत्ते भवत्विति ॥ २५ ॥

तदनन्तर उस कीचड़रहित और तेज बहने वाली तथा पुण्यप्रद मदाकिनी नदी के घाट पर पहुँच और "एतद्भवतु" (यह जल आप को मिले) कह कर, महाराज दशरथ को जलाञ्जलि देने लगे ॥ २५ ॥

प्रगृह्य च महीपालो जलपूरितमञ्जलिम् !

दिशं याम्यामभिमुखो रुदन् वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

उस समय महाराज श्रीरामचन्द्रजी अजली में जल भर और दक्षिण की ओर मुख कर नन्दन करते हुए बोले ॥ २६ ॥

१ शिवं—कल्याणप्रदं । ( शि० ) २ तत्रैतत्ते—हे तब एतद्भवतु त्वसन्निधौ तिष्ठतु । ( शि० ) ।

एतत्ते राजशार्दूल विमलं तोयमक्षयम् ।

पितृलोकगतस्याद्य महत्तमुपतिष्ठतु ॥ २७ ॥

हे राजशार्दूल ! आज यह मेरा दिव्या, दुव्या जल, पितृलोक में आप को अक्षय्य हो कर मिले ॥ २७ ॥

ततो मन्दाकिनीतीरात्प्रत्युत्तीर्य स राघवः ।

पितृश्वकार तेजस्वी निनापं\* भ्रातृभिः सह ॥ २८ ॥

तदनन्तर तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने भाइयों सहित मन्दाकिनी के तट से ऊपर आ कर, पिता को पिण्डदान किया ॥ २८ ॥

ऐह्गुदं चदरीमिश्रं पिण्याकं दर्भसंस्तरे ।

न्यस्य रामः सुदुःसार्तो रुदन्वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने, घेर फलों को इगुदी के घुर्ग में मिला, पिण्ड बनाए और कुश मिट्टा कर, पिण्डों को उन कुशों पर रख, दुःखी हो रोते हुए यह कहा ॥ २९ ॥

इदं भुङ्क्ष्य महाराज प्रीतो यदशना वयम् ।

यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देयताः ॥ ३० ॥

हे महाराज ! आज कल हम लोग जो खाते हैं, यहाँ हम समय आप भोजन कीजिए । क्योंकि मनुष्य जो खय खाता है, वसीसे वह अपने देयताओं को भी मन्तुट करता है ॥ ३० ॥

ततस्तेनैव मार्गेण प्रत्युत्तीर्य नदीतटात् ।

आरुरोह ब्रज्याघो रम्यसानुं महीधरम् ॥ ३१ ॥

१ निवाप—विण्डप्रदान । ( गो० ) • पाठान्तरे—“निर्वाप” ।



फिर नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी जिस मार्ग से नदी के किनारे पर उतर कर आए थे, उसी मार्ग से नदी के तट को छोड़, उस मनोहर शिखर वाले पर्वत पर चढ़ गए ॥ ३१ ॥

ततः पर्णकुटीद्वारमासाद्य जगतीपतिः ।

परिजग्राह बाहुभ्यामुभौ भरतलक्ष्मणौ ॥ ३२ ॥

वहाँ वे अपनी पर्णकुटी के द्वार पर पहुँच भरत और लक्ष्मण दोनों को भुजाओं से घाम, रोने लगे ॥ ३२ ॥

तेषां तु रुदतां शब्दात्प्रतिश्रुत्कोऽभवद्गिरौ ।

भ्रातॄणां सह वैदेह्या सिंहानामिव नर्दताम् ॥ ३३ ॥

उस समय चारों राजकुमारों और सीता के, गर्जते हुए सिंहों की दहाड़ जैसे रोने के शब्द से पर्वत गूँज उठा ॥ ३३ ॥

महाबलानां रुदतां कुर्वतामुदकं पितुः ।

विज्ञाय तुमुलं शब्दं वस्ता भरतसैनिकाः ॥ ३४ ॥

पिता जी का जलदान कर चारों भाइयों के रोने का शब्द सुन, भरत की सेना के लोग डर गए ॥ ३४ ॥

अत्रुवंश्चापि रामेण भरतः सङ्गतो ध्रुवम् ।

तेषामेव महाञ्जशब्दः शोचतां पितरं मृतम् ॥ ३५ ॥

वे आपस में कहने लगे कि, श्रीरामचन्द्र से भरत की भेंट अवश्य हो गई । क्योंकि पिता के मरने का संवाद सुन वे अत्यन्त शोकाकुल हो विलाप कर रहे हैं ॥ ३५ ॥

अथ वासान् परित्यज्य तं सर्वेऽभिमुखाः स्वनम् ।

अप्येकमनसोऽ जग्मुर्यथास्थानं प्रघोषिताः ॥ ३६ ॥

वे मय सैनिक अपने डेरों को छोड़, जिन ओर से रोने का शब्द सुन पड़ना था, उस ओर मुग्य कर और एक मन हो दीड़ पड़े ॥ ३६ ॥

ह्यैरन्ये गजैरन्ये रथैरन्ये स्वलंकृतैः ।

सुकुमारास्तथैवान्ये पद्भिरेव नरा ययुः ॥ ३७ ॥

उनमें से बहुत से लोग जो सुकुमार थे वे घोड़े, हाथियों और अर्धे अर्धे एवं मजे हुए रथों पर सवार हो और कितने पैदल ही उस शब्द की ओर गये ॥ ३७ ॥

अचिरप्रोपितं रामं चिरप्रोपितं यथा ।

द्रष्टुकामो जनः सर्वा जगाम महमाऽऽथमम् ॥ ३८ ॥

यद्यपि राम को अयोध्या छोड़े अभी बहुत दिन नहीं हुए थे, तथापि उन सब को ऐसा जान पड़ता था कि, मानों श्रीराम को अयोध्या छोड़े बहुत दिन बीत गए हैं । अनप्य राम को देखने की इच्छा से प्रेरित हो वे सब उनके आश्रम में पहुँचे ॥ ३८ ॥

भ्रातॄणां त्वरितास्तत्र द्रष्टुकामाः समागमम् ।

ययुर्बहुविधैर्यानिः सुरनेमिस्वनाकुलैः ॥ ३९ ॥

पारों भाइयों का समागम देखने के लिए लोग अनेक प्रकार के वाहनों पर सवार हो कर गए । उन वाहनों के पशुओं के सुरों का और पदियों का बड़ा शब्द हुआ ॥ ३९ ॥

मा भूमिर्बहुभिर्यानिः सुरनेमिसमाहता ।

मुमोच तुमुलं शब्दं धीरिसाभ्रवमागमे ॥ ४० ॥

उस समय उन बाहनों के पशुओं के नुरों और पहियों की आहट से वह स्थान उमी प्रकार शब्दायमान हुआ, जिन प्रकार मेघों के समागम में, आकाश शब्दायमान होता है ॥ ४० ॥

तेन विवासिता नागाः करेणुपरिवारिताः ।

आवासयन्ती गन्धेन जग्मुरन्यद्वनं ततः ॥ ४१ ॥

उस शब्द से डर कर हथिनियों सहित हाथी अपने मद की गन्धि से वन को सुवासित करते हुए, उस वन को छोड़ दूसरे वन में चले गए ॥ ४१ ॥

वराहवृकमद्धारच महियाः सर्पवानराः ।

व्याघ्रगोर्कर्णगवया वित्रेसुः पृषतैः सह ॥ ४२ ॥

शूकर और भेड़ियों के झुंड, भैंसा, सर्प, व्याघ्र, गोकर्ण, नीलगाय और पृषत जाति के हिरन बहुत डर गए ॥ ४२ ॥

रथाङ्गमाहा नत्पूहा हंसाः कारण्डवाः श्वाः ।

तथा पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसंज्ञा भेजिरे दिशः ॥ ४३ ॥

चक्रवाक, जलमुर्ग, हंस, कारण्डव, श्व नामक जलपक्षी, कोकिल, क्रौंच ये सब पक्षी उस शब्द से, संज्ञाहीन से ही इधर उधर भाग गए ॥ ४३ ॥

तेन शब्देन वित्रस्तोकाशं पक्षिभिर्वृतम् ।

मनुष्यैरावृता भूमिरुभयं प्रवर्भा तदा ॥ ४४ ॥

उस शब्द से व्रस्त पक्षियों से टका हुआ आकाश और मनुष्य से आच्छादित पृथ्वी दोनों ही अत्यन्त शोभायमान हुए ॥ ४४ ॥

ततस्तं पुरुषव्याघ्रं यशस्विनमकल्मषम्\* ।

आसीनं स्थण्डिले रामं ददर्श सहसा जनः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर उन सब लोगों ने अचानक वहाँ पहुँच कर देखा कि, यशस्वी, निर्दोष और पुण्यसिंह राम चतूरे पर बैठे हुए हैं ॥ ४५ ॥

विगर्हमाणः कैकेयीं सहितो मन्यरामपि ।

अमिगम्य जनो रामं चाप्पपूर्णमुखोऽभवत् ॥ ४६ ॥

उनको उस दशा में बैठा देख, सब लोग कैकेयी व मन्यरा की निन्दा करने लगे और राम के निकट जा, वे सब ये सब रोने लगे ॥ ४६ ॥

तान्नरान् चाप्पपूर्णान् समीक्षयाय सुदुःखितान् ।

पर्यप्वजत धर्मज्ञः पितृवन्मातृवञ्च मः ॥ ४७ ॥

उन लोगों ने अन्दन करते और दुःखी देख, धर्मज्ञ राम उठे और उनको छाती से लगा, उनसे ऐसे मिले, जैसे कोई माता पिता से मिलता हो ॥ ४७ ॥

स तत्र कांश्चित्परिपस्वले राजन्

नराश्च केचित्तु तमभ्यनादयन् ।

चकार सर्वान् मत्रयस्यवान्धवान् ।

यथार्हमासाद्य तदा नृपात्मजः ॥ ४८ ॥

ममान वयस्कों से राम गले मिले; किसी किसी ने उनके प्रणाम किया । उस समय, राजकुमार श्रीरामचन्द्र ने

● पाठान्तरे—‘अरिन्दमन्’ ।

अपनी बरानर की डमर वाले और भाईयदों से यथायोग्य  
व्यह्वार किया ॥ ४८ ॥

स तत्र तेषां रुदतां महात्मनां

भुवं च सं चानुनिनादयन् स्वनः ।

गुहा गिरीणां च दिशश्च सन्ततं

मृदङ्गवोपप्रतिमः प्रशुश्रुवे ॥ ४९ ॥

इति द्व्युत्तरशततमः सर्गः ॥

मिलने के समय उन लोगों के रोने के शब्द से पृथिवी और  
आकाश शंकायमान हो गये । पर्वत की कन्दराओं तथा सब  
दिशाओं में वह रोने का शब्द, मृदङ्ग के शब्द की तरह सुनाई  
पडने लगा ॥ ४९ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥

—

## अुत्तरशततमः सर्गः

— • —

वसिष्ठः पुरतः कृत्वा दारान् दशरथस्य च ।

अभिचक्राम तं देशं रामदर्शनतर्पितः ॥ १ ॥

राम को देखने की अभिलाषा से, वसिष्ठ जी महाराज दशरथ  
की रानियों को आगे कर, राम की ओर गए ॥ १ ॥

१ रामदर्शनतर्पित — रामदर्शनसंज्ञातामिलाप । ( गो० )

राजपत्न्यश्च गच्छन्त्यो मन्दं मन्दाकिनीं प्रति ।  
ददृशुस्तत्र ततीयं रामलक्ष्मणसेपिनम् ॥ २ ॥

मन्दाकिनी के तट की ओर मंद मंद चाल से चलती हुई,  
कौसल्यादि रानियों ने राम और लक्ष्मण के स्नान करने का  
घाट देखा ॥ २ ॥

कौसल्या वाष्पपूर्णं मुखेन परिशुष्यता ।  
सुमित्रामब्रवीद्दीना यारचान्या राजयोपितः ॥ ३ ॥

उस घाट को देख कर देरी कौसल्या का मुख, मारे शोक  
के सूख गया । वे रो कर सुमित्रा तथा अन्य रानियों से कहने  
लगी ॥ ३ ॥

इदं तेषामनाथानां क्लिष्टमक्लिष्टकर्मणाम् ।  
वने प्राक्केरलं तीर्थं ये ते निर्विषयीकृताः ॥ ४ ॥

देवो, हमारे अनाथ, लोकोत्तर कर्म करने वाले तथा (कैनेयी  
द्वारा) राज्य से निर्वाहित श्रीराम, लक्ष्मण और जानकी के  
स्नानादि करने का यह घाट है ॥ ४ ॥

इतः सुमित्रे पुत्रस्ते सदा जलमवन्वितः ।  
स्वयं हरति सौमित्रिर्मम पुत्रस्य कारणान् ॥ ५ ॥

हे सुमित्रा ! जान पड़ता है, इसी घाट से मेरे पुत्र के लिए,  
तेरा पुत्र लक्ष्मण, निरालस्य हो स्वयं जल भर कर ले जाता  
है ॥ ५ ॥

जघन्यमपि ते पुत्रः कृतवान्न तु गर्हितः ।

आतुर्यदर्थं सहितं सर्वं तद्विहितं गुणैः ॥ ६ ॥

यद्यपि पानी भरना छोटा काम है, तथापि इस काम को करने से वह निन्द्य नहीं है । क्योंकि अपने बड़े भाई को सेवा करना प्रशंसा करने योग्य कार्य है ॥ ६ ॥

अधायमपि ते पुत्रः क्लेशानामतयोचितः ।

नीचानर्धसमाचारं सज्जं कर्म प्रमुञ्चतुः ॥ ७ ॥

अब ( भरत के अनुरोध से ) राम के अयोध्या लौट चलने पर, सदा सुख भोगने योग्य अथवा कष्ट सहने के अयोग्य मेरे पुत्र लक्ष्मण को, ये सज्ज हीन पुरुषों के करने योग्य कष्टदायी कार्य नहीं करने पड़ेंगे ॥ ७ ॥

दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु सा ददर्श महीतले ।

पितुरिड्गुदिपिण्याकं न्यस्तमायतलोचना ॥ ८ ॥

तदनन्तर बड़े बड़े नेत्रवाली देवी मौनल्या ने दक्षिणाग्र कुत्रों पर रखा हुआ और पिता के लिए दिया हुआ इगुदी का पिण्ड देखा ॥ ८ ॥

तं भूमौ पितुरात्तेन न्यस्तं रामेण वीक्ष्य स ।

उवाच देवी मौसल्या सर्वा दशरथस्त्रियः ॥ ९ ॥

जब मौसल्य जी ने देखा कि, राम ने दुःखी हो कर, पिता के लिए भूमि पर वह पिण्ड रखा है, तब वे अन्य सब स्त्रियों से बोलीं ॥ ९ ॥

इदमिच्छाकुनाथस्य राघवस्य महात्मनः ।

राघवेण पितुर्दत्तं पश्यतंतद्यथाविधि ॥ १० ॥

इक्ष्वाकुनाथ महाराज दशरथ के लिए राम ने यथाविधि जो यह पिण्ड दिखा है, इसे देगो ॥ १० ॥

तस्य देवसमानस्य पार्ययस्य महात्मनः ।

नैतदौपयिक मन्ये भुक्तभोगस्य भोजनम् ॥ ११ ॥

मैं तो समझती हूँ कि, देवताओं के समान भोग भोगने वाले महात्मा दशरथ जी के योग्य, यह भोजन तो नहीं है ॥ ११ ॥

चतुरन्तां महीं भुक्त्वा महेन्द्रसदृशो विभुः ।

कथमिद्गुदिपिण्यारु स भुङ्क्ते वसुधाधिपः ॥ १२ ॥

चारों समुद्रों तर सारी वसुधा को इन्द्र के समान भोग करने वाले महाराज, किस तरह यह इगुदी का पिण्ड खाँयगे ॥ १२ ॥

अतो दुःखतरं लोके न किञ्चित्प्रतिभाति मा ।

यत्र रामः पितुर्दद्यादिद्गुदीक्षोदःसृष्टिमान् ॥ १२ ॥

हे रानियों ! मुझे तो इससे बड़ कर और कोई दुःख नहीं जान पड़ता कि, बुद्धिमान् राम ने अपने पिता के लिए इगुदी की पिट्टी का पिण्ड दिखा ॥ १३ ॥

रामेणेद्गुदिपिण्यारु पितुर्दत्तं समीक्ष्य मे ।

कथं दुःखेन हृदयं न स्फोटति सहस्रवा ॥ १४ ॥

राम के दिए हुए इस इगुदी की पिट्टी के पिण्ड को देख, मेरा हृदय क्यों नहीं हजार गण्ड हो कर फट जाता ॥ १४ ॥

श्रुतिस्तु सन्नियं सत्या लौकिकी प्रतिभाति मा ।

यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्वस्य देवताः २ ॥ १५ ॥

१ क्षोद—विष्टम् । ( १० ) २ देवता इतिभुक्तिः सत्येत्पन्वयः ।

( गो० )



लोग यह कहावत ठीक ही कहा करते हैं कि, मनुष्य जो कुछ स्वयं खाता है, वही वह अपने देव और पितरों को अर्पण करता है ( अर्थात् इगुड़ी पिण्ड जो केवल पिता ही को नहीं दिव्यात्मलिक राम भय भाग्यही खाता है ) ॥ १५ ॥

एवमातां सपत्न्यस्ता जग्मुराश्वास्य तां तदा ।

ददृशुश्चाश्रमे रामं स्वर्गच्युतमिदामरम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार के कौसल्या जी के वचन सुनती, वे रानियाँ महारानी कौसल्या को धीरज बँधाती, रामाश्रम में पहुँची और वहाँ राम को स्वर्ग में नीचे आण हुए देवता की तरह, बैठे देखा ॥ १६ ॥

सर्वाभोगैः परित्यक्तं राम सम्प्रेक्ष्य मातरः ।

आर्ता मृमुचुरश्रूणि सस्वरं शोककशिताः ॥ १७ ॥

उन्होंने देखा कि, राम मर मुसोपयोगी भोग्य पादार्थों को त्यागे बैठे हुए हैं । तब तो वे मर की सत्र अत्यन्त दुःखी हो कर, उच्चस्वर में रोने लगीं ॥ १७ ॥

तासां रामः समुत्थाय जग्राह चरणाञ्जुमान् ।

मातृणां मनुजव्याघ्रः सर्वासां सत्यसङ्गरः ॥ १८ ॥

सत्यप्रतिज्ञ और पुरुषमिह राम ने माताओं को देगते ही उठ कर, उन सब के चरण हुए ॥ १८ ॥

ताः पाणिभिः सुखस्पर्शैर्मृद्वङ्गुलितलैः शुभैः ।

भ्रममार्ज रजः पृष्ठाद्रामस्यायतलोचनाः ॥ १९ ॥

तब बड़े बड़े नेत्रों वाली सत्र रानियों ने, अपनी कोमल अतवप छने पर सुख देने वाली हथेलियों से श्रीरामचन्द्र जी की पीठ की घूल पोंछी ॥ १९ ॥

सौमित्रिरपि ताः सर्वा मातृः सम्प्रेक्ष्य दुःखितः ।

अभ्यवाद्यतासक्तः शनै रामादनन्तरम् ॥ २० ॥

तदनन्तर लक्ष्मण जी भी माताओं को देख, अत्यन्त दुःखी हुए और उन्होंने राम के बाद, धीरे धीरे अखिरत सब माताओं को प्रणाम किया ॥ २० ॥

यथा रामे तथा तस्मिन् सर्वा वृत्तिरे स्त्रियः ।

वृत्तिं दशरथाज्जातं लक्ष्मणे शुभलक्षणे ॥ २१ ॥

जिस प्रकार उन रानियों ने राम की पीठ की धूल पोंछी थी, उसी प्रकार उन सब ने शुभलक्षणों वाले लक्ष्मण जी की पीठ की भी धूल पोंछी, क्योंकि लक्ष्मण भी तो महाराज दशरथ ही के पुत्र थे ॥ २१ ॥

सीतापि चरणांस्वासामुपसंगृह्य दुःखिता ।

श्वश्रूणामश्रुपूर्णां च सा बभूवाग्रतः स्थिता ॥ २२ ॥

तदनन्तर सीता जी ने भी दुःखिम हो, आँखों में आँसू भर, साँसों के पैर पकड़े और उनके सामने बैठे जा खड़ी हुई ॥ २२ ॥

तां परिप्यज्य दुःखार्तां माता दुहितरं यथा ।

वनवासकृशां दीनां कौमल्या चाक्यमव्रवीत् ॥ २३ ॥

दुःख से पीड़ित और वनवास के कष्टों के कारण कृशा एवं दीन सीता-को, देवी कौमल्या ने अपनी छाती से उसी प्रकार पिपटाया जिस प्रकार माता अपनी बेटी-को छाती से पिपटाती है। छाती से लगा कर, कौमल्या जी यह बात कहने लगी ॥२३॥

१ आसक्त—अखिरत । ( ग ० )

विदेहराजस्य सुता स्तुपा दशरथस्य च ।

रामपत्नी कथं दुःखं सम्प्राप्ता निर्जने वने ॥ २४ ॥

हा ! विदेहराज की बेटी, महाराज दशरथ को बहू और राम की धर्मपत्नी सीता—इम निर्जन वन में कैसे कैसे कष्ट मेल रही है ? ॥ २४ ॥

पद्ममातपसन्तप्तं परिक्लिष्टमिवोत्पलम् ।

काञ्चनं रजसा घ्वस्तं क्लिष्टं चन्द्रमिवाम्बुदैः ॥ २५ ॥

हे जानकी ! धूप से मुर्काये हुए कमल की तरह व मीजे हुए लाल कमल की तरह, अथवा धूलधूसरित सुवर्ण की तरह, अथवा बादल में छिपे चन्द्रमा की तरह ॥ २५ ॥

मुखं ते प्रेक्ष्यं मां शोको दहत्यग्निरिवाश्रयम् ।

भृशं मनसि वैदेहि व्यसनारणिसम्भवः ॥ २६ ॥

तेरे मुख को देख, शोकाग्नि मुझे जलाए डालता है । जिस प्रकार काष्ठ को अग्नि दग्ध करता है उसी प्रकार दुःख रूपी अरणि से उत्पन्न अग्नि, मेरे मन को विल्कुल भस्म किए डालता है ॥ २६ ॥

ब्रुवन्त्यामेवमार्तायां जनन्यां भरताग्रजः ।

पादावासाद्य जग्राह वसिष्ठस्य च राघवः ॥ २७ ॥

महारानी कौमल्या दुःखित हो इस प्रकार कह रही थीं कि भरत जी के बड़े भाई राम ने वसिष्ठ जी के पास जा, उनके घर एकमल स्पर्श किए ॥ २७ ॥

पुरोहितस्याग्निसमस्य वै तदा

बृहस्पतेरिन्द्र इवामराधिपः ।

प्रगृह्य पादौ सुसमृद्धतेजसः

सहैव तेनोपनिवेश राघवः ॥ २८ ॥

इन्द्र जिस प्रकार अपने गुरु बृहस्पति के चरण छूते हैं, वसी प्रकार राम भी अग्निसम तेजस्वी पुरोहित धमिष्ठ के चरण स्पर्श कर, उनके साथ आसन पर बैठ गए ॥ २८ ॥

ततोऽ जघन्यं सहितैः समन्त्रिमिः

पुरप्रधानैश्च सहैव सैनिकैः ।

जनेन धर्मज्ञतमेन धर्मवान्

उपोपविष्टो भरतस्तदाऽग्रजम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर धर्मात्मा भरत जी अपने मंत्रियों, प्रजा के मुखियों और सेनापतियों के साथ राम के पाम, उनके आसन से नीचे अपना आसन डाल उस पर बैठे ॥ २९ ॥

उपोपविष्टस्तु तदा स वीर्यवां-

स्तपस्विवेपुण्य समीक्ष्य राघवम् ।

श्रिया ज्वलन्तं भरतः कृताञ्जलिः

यथा महेन्द्रः प्रपतः प्रजापतिम् ॥ ३० ॥

परा भी भरत तेजस्वी राम के समीप बैठ कर, मुनिवेषधारी राम की ओर घेसे ही हाथ जोड़ कर

१ ततोऽजघन्यं—यद्विष्टरामोऽवेशादनन्तरं । (गो०)

देखते थे, जैसे देवराज इन्द्र, प्रजापति ब्रह्मा के पास हाथ जोड़ कर बैठते और उनकी ओर देखते हैं ॥ ३० ॥

किमेव वाक्यं भरतोऽथ राघवं

प्रणम्य सत्कृत्य च साधु वक्ष्यति ।

इतीव तस्यार्यजनस्य तत्त्वतो

वभूः कौतूहलमुत्तमं तदा ॥ ३१ ॥

उस समय वहाँ जितने विशिष्टजन उपस्थित थे, वे अपने अपने मन में यही सोच रहे थे और उनकी यह जानने के लिए बड़ा कौतुक हो रहा था कि, देखें भरत जी हाथ जोड़े हुए आदरपूर्वक श्री रामचन्द्र जी से कहते क्या हैं ॥ ३१ ॥

स राघवः सत्यधृतिश्च लक्ष्मणो

महानुभावो भरतश्च धार्मिकः ।

वृताः सुहृद्भिश्च विरेजुरधरे

यथा सदस्यैः सहितास्त्रयोऽग्नयः ॥ ३२ ॥

इति श्युत्तरशततमः सर्गः

उस समय सत्यवादी और धृतिवान श्रीरामचन्द्र महानुभाव लक्ष्मण जी और धर्मात्मा भरत जी, सब सुहृदों के साथ शोभित हो रहे थे, मानों यज्ञ में सभासदों के साथ तीनों अग्नि सुशोभित हों ॥ ३२ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ तीसरा सर्ग समाप्त हुआ

## चतुरशततमः सर्गः

— ० —

तं तु रामः समाजायः भ्रातरं गुरुत्सलम् १ ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र भरत जी को अपने मे अत्यन्त भक्तिमान जान,  
लक्ष्मण के साथ, भरत जी से पूछने लगे ॥ १ ॥

किमेतदिच्छेयमहं श्रोतुं प्रव्याहृत त्वया ।

यस्माच्चमागतो देशमिमं चीरजटाजिनी ॥ २ ॥

हे भरत ! तुम चीर जटा और मृगचर्म धारण कर, इस  
वन में आए हो, सो इन राज्यों कारण हो, वह मुझे सुनाओ ॥ २ ॥

• यन्निमित्तमिमं देशं कृष्णाजिनजटाधरः ।

हित्वा राज्यं प्रविष्टस्त्वं तत्सरं वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

तुम राज्य छोड़, काल मृग का चर्म छोड़ और जटा धारण  
कर जिस लिए यहाँ आए हो—सा सब मुझे बतलाओ ॥ ३ ॥

इत्युक्तः कैकयीपुत्रः फाकुत्स्येन महात्मना ।

प्रगृह्य बलरद्भूयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

महात्मा श्रीराम न जब भरत से इस प्रकार पूछा, तब भरत  
जी अतिकष्ट से शोक वेग को रोक, हाथ जोड़ कर बोले, ॥ ४ ॥

आर्यं तातः परित्यज्य कृत्वा कर्म मुदुष्कम् ।

गतः स्वर्गं महाराहुः पुत्रशोकाभिपीडितः ॥ ५ ॥

१ समाजाय—शाखा । (गो०) २ गुरुत्सलम्—गुरोरारिणम् मक ।  
(गो०) • पाठ्यन्द्रे—“ किन्निमित्तमिमम् । ”

हे आर्य ! महाराज पिता जी मेरी माता कैंकेयी के कहने में  
। आ, दुप्कर कम कर और पुत्रशोक से विकल हो, स्वर्गवासी  
हुए ॥ ५ ॥

स्त्रिया नियुक्तः कैयेय्या मम मात्रा परन्तप

चकार सुमहत्पापमिदमात्मयशोहरम् ॥ ६ ॥

हे परन्तप ! मेरी माता कैंकेयी ने अपने यश को नाश करने  
वाला यह महापाप कर डाला है ॥ ६ ॥

मा राज्यफलमप्राप्य विधवा शोककर्शिता ।

पतिप्यति महाघोरे निरये जननी मम ॥ ७ ॥

सो वह मेरी माता राज्यरूपी फल को न पाने के कारण,  
शोकाकुल और विधवा हो, घोर नरक में गिरेगी ॥ ७ ॥

तस्य मे दासभूतस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ।

अभिपिञ्चस्व चाद्यैव राज्येन मघवानिव ॥ ८ ॥

यद्यपि मैं कैंकेयी का पुत्र हूँ, तथापि हूँ तुम्हारा दास । सो  
तुम मुझ पर प्रसन्न हो कर, आज ही अपना राज्याभिषेक करावो  
और इन्द्र की तरह राजसिंहासन पर विराजें ॥ ८ ॥

इमाः प्रकृतयः सर्वा विधवा मातरश्च याः ।

त्यत्सकाशमनुप्राप्ताः प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

देखिए, ये प्रजाजन और ये सब विधवा माताएँ तुम्हारे पास  
आई हुई हैं, अतएव तुम इनको प्रसन्न करो (अथवा कहना  
मान लो) ॥ ९ ॥

तदानुपूर्व्यांश्च युक्तं च युक्तं चात्मनि मानद ।

राज्यं प्राप्नुहि धर्मेण सकामान् सुहृदः कुरु ॥ १० ॥

हे मानव ! तुम ज्येष्ठ होने के कारण राज्य पाने के अधिकारी हो और तुम्ही को राजगद्दी पर बैठना उचित भी है। अतएव धर्मानुसार राज्यभार ग्रहण कर, तुम मुद्गञ्जनों की कामना पूरी करो ॥ १० ॥

भस्त्वग्निधया भूमिः समग्रा पतिना त्वया ।

शशिना विमलेनेव शरदी रजनी यथा ॥ ११ ॥

जिम प्रकार शरदऋतु की रात विमल चन्द्रमा के द्वारा मध्या होती है, उसी प्रकार यह समागरा पृथिव्या तुमसे अपना पति चरण कर मध्या हो जायगी ॥ ११ ॥

एभिरच सखिरः सार्धं शिरसा याचितो मया ।

भ्रातुः शिष्यस्य दामस्य प्रमद कर्तुमर्हामि ॥ १२ ॥

मैं तुम्हारा केवल अपना भाई ही नहीं हूँ, प्रत्युत शिष्य और दास भी हूँ। सो मैं इन मंत्रियों सहित तुमसे प्रणाम कर तुमसे यह भिक्षा माँगता हूँ या प्रार्थना करता हूँ। अतः तुम इनकी प्रार्थना पर ध्यान दो ॥ १२ ॥

तदिदं शार्वतं पित्र्यं सर्वं प्रकृतिमण्डलम् २ ।

पूजितं पुरुषव्याघ्र नातिक्रमितुमर्हामि ॥ १३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! परम्परा से मन्त्रिपद प्राप्त पयं प्रतिष्ठा पाने योग्य इन मन्त्रियों की प्रार्थनाः तुम अस्वीकृत न करो ॥१३॥

एवमुक्त्वा महाबाहुः सचाप्यः कैरुपीमुतः ।

रामस्य शिरसा पादौ जग्राह निधिरत्पुनः ॥ १४ ॥



यह कह महाशत्रु कैकेयीनन्दन भरत जी ने नेत्रों में आँसू भर कर, राम के चरणों में पुनः विधिवत् अपना सिर रख दिया ॥ १४ ॥

तं मत्तमिव मातङ्गं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ।

भ्रातरं भरतं रामः परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

तब राम ने भरत को, जो धार धार मत्त हाथी की तरह साँस ले रहे थे छाती से लगा कर, यह बात कही ॥ १५ ॥

कुलीनः सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः ।

राज्यहेतोः कथं पापमाचरेत्त्वद्विधो जनः ॥ १६ ॥

हे भरत ! तुम जैना कुलवान्, सतोगुणी व्रतधारी पुरुष, राज्य के लिए क्यों अपने बड़े भाई के प्रतिकूल आचरण कर, पापका भागी बनना पसन्द कर सकता ? ॥ १६ ॥

न दोषं त्वयि परयामि सूक्ष्ममप्यरिसूदन ।

न चापि जननीं बाल्यात्त्वं त्रिगर्हितुमर्हसि ॥ १७ ॥

अतः हे अरिसूदन ! मुझे तो तुममें जरासा भी दोष नहीं देख पड़ता । बिना समझे बूझे तुमको अपनी माता की भी निन्दा न करनी चाहिए ॥ १७ ॥

कामकारो महाप्राज्ञ गुरुणां सर्वदाऽनघ ।

उपपन्नेषु दारेषु पुत्रेषु च विधीयते ॥ १८ ॥

१ सत्त्वसम्पन्नः—सत्त्वगुण सम्पन्नः । (गो०) २ बाल्यात्—अज्ञानात् । (गो०) ३ कामकारः—स्वच्छन्दकरण । (गो०) ४ उपपन्नेषु—शिष्य-दासादिषु । (गो०)

हे पापराहित ! महाप्राह ! पिता इत्यादि गुरुजन अपने अनुगत शिष्य, दाम और स्त्री के साथ जैसा चाहे वैसा व्यवहार कर सकते हैं ॥ १८ ॥

वयमस्य यथा लोके संख्याताः सौम्य साधुभिः ।

भार्याः पुत्रारच शिष्यारच त्वमनुष्ठातुमर्हसि ॥१९॥

ससार में साधु लोग स्त्री, पुत्र और शिष्यों को जिन प्रकार आज्ञाकारी कह कर मानते हैं, वम जैसे ही, रिता के लेते, हम भी हैं । यह बात तुम्हें जान लेनी चाहिए ॥ १९ ॥

वने वा चीरवसनं सौम्य कृष्णाजिनाम्बरम् ।

राज्ये वाऽपि महाराजो मां वासयितुमीश्वरः १ ॥२०॥

हे सौम्य ! महाराज हम लोगों के नियन्ता हैं, वे चाहें हमें घोर वसन और मृगचर्म धारण करा वन में रखें, अथवा राज्य में रखें ॥ २० ॥

यावत्पितरि धर्मज्ञे गौरवं लोकेऽमृतम् ।

तावद्दमंभृतांश्रेष्ठ जनन्यामपि गौरवम् ॥ २१ ॥

हे धर्मज्ञों में श्रेष्ठ ! जितना गौरव लोकपूजित पिता का है, उतना ही माता का भी है अर्थात् जितना आदर सम्मान पिता का करना चाहिए उतना ही आदर और सम्मान माता का भी करना चाहिए ॥ २१ ॥

एताभ्यां धर्मशीलाभ्यां वनं गच्छेति राघव ।

मातापितृभ्यामुक्तोऽहं कथमन्यत्तमाचरे ॥ २२ ॥

हे भरत ! जब इन दोनों धर्मात्मा माता और पिता ने मुझसे कहा कि, वन जाओ, तब भला मैं किस प्रकार उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर अन्याय कर सकता हूँ ॥ २२ ॥

त्वया राज्यमयोध्यायां प्राप्तव्यं लोकसत्कृतम् ।

वस्तव्यं दण्डकारण्ये मया वल्कलवाससा ॥ २३ ॥

अतः हे भरत ! तुम अयोध्या में जा कर लोगों की सम्मति से राजसिंहासन पर बैठो और मैं वल्कल धारण कर दण्डद्वयन में वास करूँगा ॥ २३ ॥

एवं कृत्वा महाराजो विभागं लोकसन्निधौ ।

व्यादिश्य च महातेजा दिवं दशरथो गतः ॥ २४ ॥

क्योंकि इसी प्रकार से महाराज, लोगों के सामने, तुम्हारा और मेरा बँटवारा कर, स्वर्गवासी हुए हैं ॥ २४ ॥

स च प्रमारुं धर्मात्मा राजा लोकगुरुस्तव ।

पित्रा दत्तं यथा भागमुपभोक्तुं त्वमर्हसि ॥ २५ ॥

इस समय वे धर्मात्मा महाराज लोकों के और तुम्हारे भी गुरु हैं और उनको ऐसा करने का अधिकार है । अतः हे भरत ! तुम पिता के दिए हुए राज्य का उपभोग करो ॥ २५ ॥

चतुर्दश समाः सौम्य दण्डकारण्यमाश्रितः ।

उपमोक्ष्ये त्वहं दत्तं भागं पित्रा महात्मना ॥ २६ ॥

हे सौम्य ! मैं भी चौदह वर्ष दण्डद्वयन में वास कर, महात्मा पिता जी का विश्वास हुआ हिस्ता (वनवास) उपभोग करूँगा ॥ २६ ॥

यदनेनीन् मां नरलोकमन्वृतः  
 पिता महात्मा विनुघाधिपोषमः ।  
 तदेव मन्ये परमात्मनो हित  
 न सर्वलोकेऽरभावमप्यहम् ॥ २७ ॥

इति चतुर्दशतम सर्ग ॥

मत्र लोगो से पूजित महाराज पिता जी ने जो मुझसे कहा है, उम्मीदों में अपने लिए परम हितकारी समझता हूँ । पिता की आज्ञा या इच्छा के विरुद्ध सर्वलोकेऽर का पद भी, मैं अपने लिए हितकारी नहीं समझता ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक माँ चौथा सर्ग समाप्त हुआ ।

—:ॐ:—

## पञ्चोत्तरशततमः सर्गः

— ०:—

ततः पुरुषसिंहानां घृतानां तैः सुहृद्गणैः ।  
 शोचतामेव रजनी दुःखेन व्यत्यवर्तत ॥ १ ॥

इस प्रकार बन्धु बान्धवों और मित्रों के साथ उन राज-कुमारों की—जो अत्यन्त दुःखित थे, रात मोच ही सोच में थीं ॥ १ ॥

रजन्यां सुप्रमातायां भ्रातरन्मे सुहृद्भृताः ।

मन्दाकिन्यां हृतं जप्यं कृत्वा राममुपागमन् ॥ २ ॥

जब सवेरा हुआ, तब उन भाइयों ने पशुबान्धवों के साथ मन्दाकिनी नदी पर जा स्नानजप होम आदि नित्य कर्म किए । तदनन्तर वे सब के सब पुनः श्रीराम के आश्रम में उपस्थित हुए ॥ २ ॥

तूर्णानि ते समुपासीना न कश्चित्किञ्चिदब्रवीत् ।

भरतस्तु सुहृन्मध्ये रामं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

सब के सब चुपचाप श्रीराम के पास बैठे थे, कोई किसी से कुछ भी बातचीत नहीं करता था । मन्नाटा मा द्याया हुआ था कि, इतने में सहृदों के बीच बैठे भरत जी ने श्रीराम से कहा ॥ ३ ॥

सान्त्विता मामिका माता दत्तं राज्यमिदं मम ।

तद्दामि तवैवाहं भुङ्क्ष्व राज्यमकण्ठकम् ॥ ४ ॥

हे भाई ! वरदान द्वारा महाराज ने जो राज्य मेरी माता को दे, उसे शान्त किआ था, वही राज्य माता ने मुझे दे डाला है । अब मैं वही राज्य तुमको अर्पण करता हूँ । अब तुम इस निष्कण्ठक राज्य का उपभोग करो ॥ ४ ॥

महतेषाम्बुवेगेन भिन्नः सेतुर्जलागमे ।

दुरावारं त्वदन्येन राज्यखण्डमिदं महत् ॥ ५ ॥

चर्पाकाल में जल की थपेड़ों में जब बाँध टूट जाता है, तब (सिवाय उस बाँध के) और कोई उस पानी को नहीं रोक सकता । इसी प्रकार तुम्हारे सिवाय इम बड़े राज्य की रक्षा करने की शक्ति अन्य किसी में नहीं है ॥ ५ ॥

गतिं खर इवारवस्य तान्दर्यस्येव पतत्रिणः ।

अनुगन्तुं न शक्तिर्मे गतिं तत्र महीपते ॥ ६ ॥

हे महिपाल ! जिस प्रकार गया घोड़े की अथवा अन्य पक्षी गरुड़ की चाल को नहीं पा सकते, उसी प्रकार मैं भी

तुम्हारे राज्यपालन की सामग्य नहीं पा सकता अर्थात् जमीन योग्यता राज्यशासन की तुल्य है, वैसी मुझमें नहीं है ॥ ६ ॥

सुजीवं नित्यशस्तस्य यः परैरुपजीव्यते ।

राम तेन तु दुर्जीवं यः परानुपजीवति ॥ ७ ॥

हे राम ! जिस राजा की सेवा अन्य लोग करते हैं, जीना उसी का अन्धा है, किन्तु जो राजा औरों की सेवा कर के जीना है, उसका जीवन दुःखमय है । अथवा निम्नके पीछे अनेक लोग जीते हैं उसी पुष्प का जीना, जीना है और जो दूरों के सहारे जीता है, उसका जीना न जीना बरानर है ॥ ७ ॥

यथा तु रोपितो ऽक्षः पुरूपेण विमथितः ।

ह्रस्वकेन दुरारोहो रुढस्वन्धो महाद्रुमः ॥ ८ ॥

स यथा पुष्पितो भूत्वा फलानि न निदर्शयेत् ॥

स तां नानुमवेत्प्रीतिं यस्य हेतोः प्ररोपितः ॥ ९ ॥

जैसे, किसी आदमी ने वृक्ष लगाया और उसे जल से सींच कर बड़ा किया । वह वृक्ष अपनी टालों और शाखाओं को फँसा कर ऐसा महावृक्ष हो गया कि, उस पर छोटे हीनजनों का आदमी नहीं चढ़ सकता । वही वृक्ष जब पुष्पित तो हो, किन्तु फल न दे, तो जिस आदमी ने वह पेड़ लगाया था, वह क्योंकर सन्तुष्ट रह सकता है ? ॥ ८ ॥ ९ ॥

एषोपमा महाबाहो तमर्थं वेत्तुमर्हसि ।

यदि त्वमस्मान् वृषभोः मर्ता भूत्वान्न शधि हि ॥ १० ॥

हे महाबाहो ! यह एक उपमा है । इसका अर्थ तुम ममत्त्व सकते हो । अतः यदि सर्वश्रेष्ठ स्वामी हो कर, तुम हम भूत्यों का शासन नहीं करते ( तो हम लोगों को उस पुत्र की तरह जिम्मे फलप्राप्ति के लिए वह महावृत्त लगाया था, फल न पाने से, इत्ताश होना पड़ेगा । ) ॥ ६ ॥

श्रेण्यस्त्वां महाराज पश्यन्त्ययाश्च सर्वशः ।

प्रतपन्तमिवादित्यं राज्ये स्थितमरिन्दमम् ॥ ११ ॥

तयाऽनुयाने काकुत्स्थ मत्ता नर्दन्तु कुञ्जराः ।

अन्तःपुरगता नार्यो नन्दन्तु सुसमाहिताः ॥ १२ ॥

हे महाराज ! ऐसा करो जिससे ये प्रजा के लोग शत्रुओं के नाश करने वाले तुम को राज्यासन पर तपते हुए सूर्य की तरह बैठा हुआ देखें तथा ये मत्त हाथी चिंकारते हुए तुन्दारे पीछे पीछे चलें और रनवास में सब छिया शान्ति पा कर, हर्षध्वनि करें ॥ ११ ॥ १२ ॥

तस्य साध्वित्यमन्यन्त नागरा विविधा जनाः ।

भरतस्य वचः श्रुत्या रामं प्रत्यनुयाचतः ॥ १३ ॥

श्रीराम से भरत जी की, की की हुई प्रार्थना सुन, सब नगर-वासी साधु साधु कहने लगे ॥ १३ ॥

तमेवं दुःखितं प्रेक्ष्य विलपन्तं यशस्विनम् ।

रामः कृतात्मा? भरतं समाश्वासयदात्मवान् ॥ १४ ॥

उन यशस्वी भरत को, दुःखी और विलाप करते हुए देख, धैर्यवान् श्रीराम समझा कर बहने लगे ॥ १४ ॥

१ नात्मनः कामकारोऽस्ति पुरुषोऽयमनीश्वरः १ ।

इतरचेतरश्चैन कृतान्तः परिकर्षति ॥ १५ ॥

हे भरत ! मनुष्य का कुट्ट बरा नहीं है । क्योंकि यह परतत्र है । काल ( मृत्यु ) इसको इतर से उधर और उधर से इधर खींचा करता है । अर्थात् नाच नचाया करता है ॥ १५ ॥

सर्वे जयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।

संयोगा निप्रयोगान्ता मरणान्त च जीवितम् ॥ १६ ॥

यावत् मञ्चित पदार्थ नाशवान् हैं, जितने दृश्यस्थित जीव हैं वे ( पुण्यक्षय होने पर ) नीचे गिरने वाले हैं । पुत्र, मित्र, फल-घ्रादि जिनसे संयोग होता है, अन्त में उनसे वियोग भी होता है और जितने जीवधारी हैं, वे मय मरणशील हैं । अथवा समह और क्षय, उन्नति और अवनति, संयोग और वियोग एव जन्म और मरण का अदृढ सम्बन्ध है ॥ १६ ॥

यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद्भयम् ।

एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद्भयम् ॥ १७ ॥

जिस प्रकार पके हुए फल को गिरने से डरना न चाहिए, उसी प्रकार उत्पन्न हुए नर को मरण से डरना न चाहिए । अर्थात् पका हुआ फल गिरता ही है और जो पैदा हुआ है वह मरता ही है ॥ १७ ॥

यथाऽगारं दृढस्थूणं जीर्णं भूत्वाऽयसीदति ।

तथैव सीदन्ति नरा जरा मृत्युवशांगताः ॥ १८ ॥

१ आत्मन — पुरुषस्य । ( गो० ) = कामकारो देन्द्रेण व्यापारोति ।  
( गो० ) ३ अनश्नत् — अस्वतन्त्र इत्यर्थः । ( गो० )



जिस प्रकार मञ्जूत खर्भों पर अबलवित घर पुराना होने पर गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी बुढ़ापे और मृत्यु के वश में हो, नष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते ।

यात्येव यमुना पूर्णा समुद्रमुदकाकुलम् । १९ ॥

हे भरत ! जो रात बीत गई वह फिर नहीं लौटती । यमुना का जल जो एक बार समुद्र में मिल गया, वह फिर लौट कर यमुना में नहीं आता ॥ १९ ॥

अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह ।

आयुंषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः ॥ २० ॥

देखो ! ये दिन और रात जो बीतते चले जाते हैं, सो प्राणियों की आयु की अवधि का शीघ्र शीघ्र कम करते जाते हैं । जैसे ग्रीष्मकाल में सूर्य की किरणों, जल को सुखा कर कम कर देती है ॥ २० ॥

आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि ।

आयुस्ते हीयते यस्य स्थितस्य च गतस्य च ॥ २१ ॥

अतः हे भरत ! तुम अपने लिए ( अर्थात् अपनी आत्मा के उद्धार के लिए ) सोचो, तो सोचो, दूसरों के लिए सोच क्यों करते हो ? आयु तो सभी की खटाती है, चाहे कोई बैठा रहे, चाहे चला फिरा करे ॥ २१ ॥

सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निपीदति ।

गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते ॥ २२ ॥

मीत मनुष्य के साथ ही चलती है, साथ ही बैठती है और दूर जानें पर भी साथ नहीं छोड़ती और साथ जा कर साथ ही लौट भी आती है ॥ २२ ॥

गात्रेषु बलयः प्राप्ताः श्वेताश्चैव शिरोरुहाः ।

जरया पुरुषो जीणः किं' हि कृत्वा प्रमावयेत् ॥२३॥

जब शरीर में मुरिया पड़ गई, मिर के केश सफेद हो गए और शरीर जरा से लज्जरित हो गया, तब मनुष्य घर ही क्या सकता है अथवा तब उसके रोने नीन कैसे रुक सकती है अथवा वह जिस धूल धूते पर दूसरों पर अपना प्रभाव डाल सकता है ॥ २३ ॥

नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमिते रौ ।

आत्मनो नायुष्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम् ॥ २४ ॥

मनुष्य सूर्य के उदय होन पर और अस्त होने पर नित्य ही प्रसन्न होते हैं, किन्तु इससे उनकी आयु घटती है—इस बात को चे नहीं समझते ॥ २४ ॥

हृष्यन्त्युत्तमुरा दृष्ट्वा नरं नयमिहागतम् ।

श्रुत्वां परिव्रतन प्राणिर्ना प्राणमन्वपः ॥ २५ ॥

इसी प्रकार बसन्तादि नयी नयी श्रुतियों को देख, मनुष्य प्रसन्न होते हैं किन्तु श्रुतियों की इस अदल बदल से, उनकी उम्र घटती है—यह वे नहीं जानते ॥ २५ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्यवे ।

समेत्य च व्यपतायां कालमामाय कञ्चन ॥ २६ ॥

१ किं हि कृत्वा प्रमावयेत्—किं कृत्वा नृनुनिवर्तने समर्पेभयेत् ।

( षि० )

एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च धनानि च ।

समेत्य व्यवधानन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः? ॥२७॥

जिम प्रकार महासागर मे अन्य स्थानों से उह कर आयी हुई दो लकड़ियों एक स्थान पर पहुँच कर मिल जाती हैं और फिर काल पाकर पृथक् हो इधर उधर बहती चली जाती हैं, इसी प्रकार भार्या, पुत्र, भाईबन्धु और धन सम्पत्ति जो आ कर अपने को मिलते हैं, इन सब का कालान्तर में वियोग होना भी निश्चित ही है ॥ २६ ॥ २७ ॥

नात्र कश्चिद्यथाभावं? प्राणी समभिवर्तते ।

तेन तस्मिन्न सामर्थ्यं प्रेतस्यास्त्यनुशोचतः ॥ २८ ॥

हे भरत ! इस ससार मे कोई भी प्राणी यथाभिलाप अपने भाईबन्धों के साथ सदा नहीं रह सकता, अतः मृतपुरुष के लिए, उसकी मौत को रो करने का सामर्थ्य किसको है जो मरे हुए के लिए शोक किआ जाय । अर्थात् मौत पर किसी का वश नहीं । अतः मरे हुए के लिए शोक करना व्यर्थ है ॥ २८ ॥

यथा हि सार्थं गच्छन्तं? ब्रूयात्कश्चित्पथि स्थितः ।

अहमप्यागमिष्यामि पृष्ठतो भवतामिति ॥ २९ ॥

जिस प्रकार यात्रियों का दल रास्ते पर चला जाता हो और राह मे बैठा हुआ कोई मनुष्य कहे कि तुम्हारे पीछे पीछे हम भी आते हैं ॥ २९ ॥

१ विनाभव — वियोगः । ( गी० ) २ यथाभावं—न समभिवर्तते । यथाभिलाप इत्युभिः सह न वर्तते । ( गी० ) ३ गच्छन्त सार्थं—पथिक-समूहं । ( गी० )

एवं पूर्वगतो मार्गः पितृपंतामहो ध्रुवः ।

तमापन्नः कथं शोचेद्यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥३०॥

इसी प्रकार बाप, दादे, परदादों के चले हुए मार्ग पर आरुढ़ पुरुष को क्यों शोक करना चाहिए । क्योंकि उस मार्ग पर चलने के अनिश्चिन घोर तो कोई गति ही नहीं है ॥३०॥

वयसः पतमानस्य स्रोतसो वाऽनिर्वर्तिनः ।

आत्मा सुखे नियोजितव्यः सुखभाजः प्रजाः स्मृताः ॥३१॥

जिस प्रकार नदी की धारा भागे ही बहती जाती है पीछे नहीं सौटती, उसी प्रकार प्राण बेचन जाता ही है अर्थात् पड़ता ही है, और आता नहीं अर्थात् बढ़ता नहीं । अतः यह देख कर आत्मा को सुख के साधनपूत्र धर्म कृत्यों में लगाना उचित है । क्योंकि यह प्रजा सुखभोगी हो बही गई है अर्थात् मनुष्यजन्म धर्मकृत्य करते हुए सुख भोगने के लिए ही ब्रह्म गया है अथवा मनुष्यजन्म सुख भोगने ही को होता है ॥३१॥

धर्मात्मा सशुभैः कृतस्नैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ।

धूतपापो गतः स्वर्गं पिता नः पृथिवीपतिः ॥३२॥

हमारे महाराज पिता जो तो अष्टौ मङ्गलरूपी घोर शक्तिशालिन यज्ञों को कर निष्पाप हो स्वर्ग सिपारे हैं ॥ ३२ ॥

भूत्यानां भरणात्सम्यक्प्रजानां परिपालनात् ।

अर्थादानाञ्च धर्मेण' पिता नस्त्रियदियं गतः ॥३३॥

१ धर्मेण अर्थादानात्—धर्मेणैवादिदृष्टान् । (गो०)

भृत्यों का भली भाँति भरण-पोषण कर, प्रजा का भली भाँति पालन कर और उनसे धर्मपूर्वक कर लेकर, हमारे पिता स्वर्ग सिधारे हैं ॥३३॥

कर्मभिस्तु शुभैरिष्टैः<sup>१</sup> ऋतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ।

स्वर्गं दशरथः प्राप्तः पिता नः पृथिवीपतिः ॥३४॥

तालाब, बावडी आदि धनदा, प्रजाजनों के अभोष्ट तथा विपुल दक्षिणा वाले यज्ञ कर, हमारे पिता महाराज दशरथ स्वर्ग सिधारे हैं ॥३४॥

इष्ट्वा बहुविधैर्यज्ञैर्भोगांश्चावाप्य पुष्कलान् ।

उत्तमं चायुरासाद्य स्वर्गतः पृथिवीपतिः ॥३५॥

अनेक प्रकार के यज्ञ कर, तरह तरह के बहून से भोगों को भोग कर और अच्छा आयु भोग कर, महाराज स्वर्ग सिधारे हैं ॥३५॥

आयुरुत्तममासाद्य भोगानपि च राघवः ।

स न शोच्यः पिता तातः स्वर्गतः सत्कृतः सताम् ॥३६॥

हे तात ! अच्छा आयु पा कर, अच्छे भोगों को भोग कर और सज्जनों से सम्मान पा कर, महाराज स्वर्ग सिधारे हैं, अतः उनके लिए शोक करना उचित नहीं ॥३६॥

स जीर्णं मनुष्यं देहं परित्यज्य पिता हि नः ।

दैवीमृद्धिमनुप्राप्तो ब्रह्मलोकविहारिणीम् ॥३७॥

हमारे पिता जीर्ण शरीर को त्याग कर, ब्रह्मलोक में मुक्त भोगने वाले देवताओं के शरीर को प्राप्त हुए होंगे ॥३७॥

१ इष्टं — जनाना स्वस्य चाभिमर्तं । (गो०) २ दामैः कर्मभिः—

महापथेषु तदाकनिर्माणादिभिः । (गो०)

तं तु नैवंविधः कश्चित्प्राज्ञः शोचितुमर्हति ।

तद्विधो यद्विधश्चासि\* श्रुतवान् बुद्धिमत्तरः ॥३८॥

भ्रतएव उन पिता जी के लिए शोक करना तुम जैसे बुद्धिमान् शास्त्र-  
वेत्ता और ज्ञानी पुत्र के लिए उचित नहीं है ॥३८॥

एते बहुविधाः शोका विलापरुदिते तथा ।

वर्जनीया हि धीरेण सर्वावस्थासु धीमता ॥३९॥

तुम बुद्धिमान् तथा धैर्यवान हो भ्रत तुमको इस प्रकार शोकाविवृत  
हो, विलाप करना सर्वथा त्यागना चाहिए ॥३९॥

सस्वस्थो भव मा शोको यात्वा चावस तांपुरीम् ।

तथा पित्रा नियुक्तोऽसि वशिना† यदतांवर ॥४०॥

तुम स्वस्थ हो और शोक को त्याग कर, प्रयोप्यापुरी में जा कर वास  
करो । हे वाम्बिवर ! पिता जी तुमको प्रयोप्यापुरी में स्वयंभ्रतापूर्वक  
रहने की आज्ञा दे गए हैं ॥४०॥

यत्राहमपि तेनैव नियुक्तः पुण्यकर्मणा ।

तत्रैवाहं करिष्यामि पितुरार्यस्य शासनम् ॥४१॥

वह पुण्य कर्मों के करने वाले पुण्य पिता मुझे जंगी आज्ञा दे गए हैं,  
तदनुसार मैं भी रहूँगा ॥४१॥

न मया शासनं तस्य त्यक्तु न्याप्यमरिन्दम ।

तत्त्वयाऽपि सदा मान्यं स वै बन्धुः स नः पिता ॥४२॥

१ वशिना—स्वभ्रतेण । (१०) • पाठान्तरे—“वरि” ।  
† पाठान्तरे—‘शोषीयित्वा ।’

हे शत्रुघ्नो का दमन करने वाले ! मुझको उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना उचित नहीं । क्योंकि हमारे पिता, बन्धु और शासनकर्ता होने के कारण, वे हमारे, तुम्हारे दोनों के लिए सदा मान्य हैं ॥४२॥

तद्वचः पितुरेवाहं सम्मतं धर्मचारिणः ।

कर्मणा पालयिष्यामि वनवासेन राघव ॥४३॥

अतएव मैं तो पिता जी की उसी आज्ञा का, जो धर्माचरण करनेवालों के सम्मत है, वन में वास करके पालन करूँगा ॥४३॥

धार्मिकेणानृशंसेन नरेण गुरुवर्तिना ।

भवितव्यं नरव्याघ्र परलोकं जिगीषता ॥४४॥

हे पुरुषोत्तम ! जो मनुष्य धार्मिक एवं दयानु हैं तथा अपना परलोक बनाने के अभिलाषी हैं, उनको बड़े लोगों का आज्ञाकारी होना चाहिए ॥४४॥

आत्मानमनुतिष्ठ त्वं स्वभावेन नरर्षभ ।

निशान्य तु शुभं वृत्तं पितुर्दशरथस्य नः ॥४५॥

हे नरश्रेष्ठ ! तुम पिता जी की सत्यप्रतिज्ञा को स्मरण कर, अपने मन में अब राजधर्म को स्थापित करो । अर्थात् पिता जी की सत्यप्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए अयोध्या जाकर राज्य करो (शिरोमणिटीकानुसार) ॥४५॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा

पितुर्निदेशप्रतिपालनार्थम् ।

यवीयसं भ्रातरमर्थवच्च

प्रभुर्मुहूर्ताद्विरराम रामः ॥४६॥

इति पञ्चोत्तराशततमः सर्गः ॥

महात्मा धीराम पिता की छात्रा का पालन करने के लिए अपने छोटे भाई भरत से इस प्रकार के धर्मार्थगत वचन कह कर, मुहूर्त भर तक धुप रहे ॥४६॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

### पद्मत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

एवमुक्त्वा तु विरते रामे वचनमर्थवत् ।  
ततो मन्वाकिनीतीरे रामं प्रकृतिवत्सलम् ॥१॥  
उवाच भरतश्चित्रं धार्मिको धार्मिकं वचः ।  
को हि स्यादीदृशो लोके यादृशस्त्वमरिन्दम ॥२॥

प्रजापरासल धीराम, मन्वाकिनी के तट पर जब इस प्रकार के सार्थक वचन कह कर मौन हो गए, तब धर्मात्मा भरत जी धीराम जी से, अनेक प्रकार की मुश्किलों से पूर्ण एक धर्मपुस्तक वचन बोले । भरत जी ने कहा—  
हे शत्रुनाशन ! तुम्हारे तुल्य इस लोके में दूसरा कौन होगा ॥१॥२॥

न त्वां प्रव्यथयेद्दुःखं प्रीतिर्वा न प्रहर्षयेत् ।  
सम्मतश्चासि यद्धानां तांश्च पृच्छसि संशयान् ॥३॥

न तो तुमको दुःख दुःखी कर सकता है धीर न हर्ष हर्षित कर सकता है । सब बड़े बड़े तुमको मानते हैं, तथापि धर्म के विषय में सन्देह होने पर, तुम उन लोगों से पूँछा करते हो ॥३॥

१ चित्रं—अनेकविधमुक्तिविशिष्ट वचः । (त्रि०)



यथा मृतस्तथा जीवन् यथाऽसति तथा सति ।

यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात्परितप्येत केन सः ॥४॥

जिसके लेखे जैसे मरा हुआ आदमी वंसे ही जीता हुआ आदमी हो या जो यह समझ रहा हो कि, यह पदार्थ मेरे पास रहा तो क्या और न रहा तो क्या, ऐसी बुद्धि वाले मनुष्य को भला क्यों किसी वस्तु के लिए सन्ताप होने लगा ? ॥४॥

‘परावरजो यश्च स्याद्यथा त्वं मनुजाधिप ।

स एवं व्यसनं प्राप्य न विपीदितुमर्हति ॥५॥

हे मराधिप ! तुम सरीखा त्रिकालज अथवा जीवात्मा परमात्मा का रूप जानने वाले पुरुष, दुःख पडने पर भी, विषाद को प्राप्त नहीं होता ॥५॥

अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसङ्गरः ।

सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चासि राघव । ॥६॥

हे राघव ! तुम देवताओं की तरह सतोगुणी और महार्घपंथान होने के कारण सत्यप्रतिज्ञ हो, तुम सब जानने वाले, सब कुछ देखने वाले और बुद्धिमान् हो ॥६॥

न त्वामेवं गुणैर्युक्तं प्रभवाभवकोविदम् ।

अविपहृतमं<sup>१</sup> दुःखमासादयितुमर्हति ॥७॥

१ परावरज — त्रिकालज परमात्मजीवात्मस्वरूपज्ञो वा (गी०) २ प्रभवाभवकोविदम् — प्रवृत्तिनिवृत्तिकारणवत्त्वज्ञाननिपुणम् । (शि०) ३ अविपहृतमं — अचरितसहमपि । (शि०)

ऐसे गुणों से युक्त होने के कारण तुम जीवों को प्रयुक्ति और निष्कृति के कारणों को भली भाँति जानने वाले हो । अतः तुमको वे दुःख भी, जो अन्य लोगों को असह्य हैं, नहीं सता सकते ॥७॥

[एवमुक्त्वा तु भरतो रामं पुनरयाग्रधीत् ॥

प्रोषिते मयि यत्पापं मात्रा सत्कारणात्कृतम् ॥८॥

क्षुद्रया तदनिष्टं मे प्रसीदतु भवान्मम ।

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम् ॥९॥

यह कह कर भरत जी ने धीराम से फिर यह कहा कि मेरे विदेह में रहते समय मेरी इस नीच माता ने जो पाप मेरे लिए किया है, वह मेरे लिए अनिष्टकारक है अथवा मुझे इष्ट नहीं है, अतः मेरे ऊपर तुम प्रसन्न हो । क्या इन्हें मैं धर्मबन्धन से बाँधा हूँ नहीं तो मैं इस माता को ॥८॥९॥

हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम् ।

कथं दशरथाज्जातः शुद्धाभिजनकर्मणः ॥१०॥

जानन् धर्ममघमिष्टं कुर्यां कर्म जुगुप्सितम् ।

गुहः प्रियावान् बृद्धश्च राजा प्रेतः पितेति च ॥११॥

जो पाप करने वाली होने के कारण, दण्ड पाने योग्य है, बडोर दण्ड दे मार डालता । मैं ऐसे कुलीन एवं धर्मनिष्ठ महाराज दशरथ के धीरस से उत्पन्न हूँ । क्या धर्म है और क्या अधर्म, यह जान कर मुझे यह निन्दित कर्म करने नहीं बन पड़ता । सब धर्मों की क्रियाओं के करने वाले, युग्म धीर बृद्ध महाराज पिता जी परसोचवासी हुए ॥१०॥११॥

१ प्रियावान्—मत्तादिप्रियावान् । (गो०)

तातं न परिगह्यं दैवतं चेति संसदि ।

को हि धर्मार्थयोर्होनमीदृशं कर्म किल्वियम् ॥१२॥

अतः सब के सामने सना में उनकी निन्दा करना उचित नहीं, किन्तु  
कौन ऐसा पुद्गल होगा जो धर्म और धर्म से रहित ऐसे पाप कर्म, ॥१२॥

स्त्रियाः प्रियं चिकीर्षुः सन् कुर्याद्धर्मज्ञ धर्मवित् ।

'अन्तकाले हि भूतानि मुह्यन्तीति' पुराश्रुतिः ॥१३॥

धर्मज्ञों के धर्म को जान कर भी, स्त्री की प्रीति की वानना से  
करेगा । हे धर्मज्ञ ! यह एक पुरानी कहावत है कि, मरने वाले को  
बुद्धि बिगड़ जाती है ॥१३॥

राज्ञं कुर्वता लोके प्रत्यक्षं सा श्रुतिः कृता ।

'साध्वर्थमभिसन्धाय क्रोधान् मोहाच्च साहसात् ॥१४॥

'तातस्य यदतिक्रान्तं प्रत्याहरतु तद्भवान्' ।

पितुर्हि\* समतिक्रान्तं पुत्रो यः साधु मन्यते ॥१५॥

सो महाराज ने यह कर्म कर, यह कहावत चरितार्थ करके लोगों  
को प्रत्यक्ष दिखला दी । महाराज ने भले ही बड़े-पै के कुपित हो कर  
विष खाकर मर जाने के भय से, अथवा अपने चित्त के विक्षेप से, अथवा  
लोगों के बिना पूछे ही, यह कर्म किया हो, परन्तु अब आप उनके इस

१ अन्तकाले—दिनाशकाले । (गो०) २ मुह्यन्ति—विपरीतबुद्धिं  
प्राप्नुवन्ति । (गो०) ३ साध्वर्थं अभिसन्धाय—उनीचीनार्थं स्मृत्वा (गो०)  
४ तातस्य यदतिक्रान्तं यदतिक्रमण । (गो०) ५ तद्भवान् प्रत्याहरतु—  
निवर्तयतु । (गो०) \* पाठान्तरे—“यदतिक्रान्त” ।

कर्म को ठीक समझ, धन्यवाद विचार न कीजिए । क्योंकि जो पुत्र पिता की मूलचूक को भी ठीक मान लेता है ॥१५॥१५॥

तदपत्यं मतं लोके विपरीतमतोजन्यया ।

तदपत्यं भवानस्तु मा भवान्दुष्कृतं पितुः ॥१६॥

सोचूँ मैं वही पुत्र, पुत्र माना जाता है । इसके विपरीत करने वाला पुत्र, पुत्र नहीं माना जाता । भ्रातृ उनके पुत्र हैं अतः उनकी मूलचूक पर ध्यान न दें ॥१६॥

अभिपत्ता कृतं कर्म लोके धीरविर्गाहितम् ।

कंकेयी मां च तातं च सुहृदो बान्धवाश्च नः ॥१७॥

और उनके उम सोरनिन्दित कर्म को छोड़ो । कंकेयी को भ्रातृ, पिता को, सुहृदों को तथा हमारे भाईबंदों को ॥१७॥

पौरजानपदान् सर्वास्त्रातु सर्वमिदं भवान् ।

यव चारण्यं यव च क्षात्रं यव जटाः यव च पालनम् ॥१८॥

तथा पुरजन आदि सब को प्राप्त इस अथवाइ से बधा सीजिए । हे भाई ! कहीं तो क्षात्रधर्म और कहीं यह जनशून्य बनवाना । कहीं जटाधारण और कहीं प्रजापालन ? ॥१८॥

ईदृशं व्याहृतं कर्म न भवान् कर्तुमर्हति ।

एष हि प्रथमो धर्मः क्षत्रियस्याभिषेचनम् ॥१९॥

धनः प्राप्त इन परस्परविरोधी कार्यों को न कीजिए । क्योंकि क्षत्रिय का सर्वप्रथम कर्तव्य कर्म यही है कि, वह धनना अभिषेक करावे ॥१९॥

[टिप्पणी—क्षत्रियो के लिए वानप्रस्थधर्मपालन का निषेध नहीं तब भरत जी ने वनवाम का निषेध क्यों किया ? इसका समाधान भरत जी ने स्वयं ही ग्रह कह कर किया है कि वानप्रस्थ होने के पूर्व क्षत्रिय को प्रजापालन करना चाहिए प्राथमधर्मपालन में वर्णधर्म की व्यवहृतना नहीं होनी चाहिए ।]

येन शक्यं महाप्राज्ञ प्रजानां परिपालनम् ।

कश्च प्रत्यक्षमुत्सृज्य 'संशयस्थमलक्षणम्' ॥२०॥

जिससे वह प्रजा का पालन कर सके । भला बतलाइये तो इस प्रकार के प्रत्यक्ष फल देने वाले धर्म को छोड़, अप्रत्यक्ष और सुखों से रहित ॥२०॥

'आयतिस्थं चरेद्धर्मं क्षत्रबन्धुरनिश्चितम् ।

अथ क्लेशजमेव त्वं धर्मं चरितुमिच्छसि ॥२१॥

एव कालान्तर में फल देने वाले, अनिश्चित धर्म-कर्म का करना कौन क्षत्रिय स्वीकार करेगा ? अथवा यदि प्राय शरीर को ब्रष्ट देने वाला ऐसा धर्मचरण करना चाहते हैं ॥२१॥

धर्मेण चतुरो वर्णान् पालयन् क्लेशमाप्नुहि ।

चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठानाश्रमम् ॥२२॥

प्राहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमर्हसि ।

'श्रुतेन वालः स्थानेन' जन्मना भवतो ह्यहम् ॥२३॥

तो धर्मानुसार गृहणादि चारों वर्णों के पालन करने का ब्रष्ट तुम स्वीकार करो । क्योंकि हे धर्मज्ञ ! चारों प्राथमों में (दह्यवर्ष, गृहस्थ,

- १ संशयस्थ—अप्रत्यक्ष । ( गो० ) २ अलक्षण—लक्षणरहित । ( गो० ) ३ आयतिस्थ—कालान्तर-भाविफल । ( गो० ) अनिश्चित । ( सि० ) ४ श्रुतेन—विद्यया । ( गो० ) ५ स्थानेन—पदेन । ( गो० )

वानप्रस्थ और सन्यस्त—ये चार आश्रम हैं) गृहस्थ आश्रम ही को, धर्मज्ञ लोग सर्वोत्तम बतलाते हैं। तब इस सर्वोत्तम आश्रम को प्राप्त क्यों छोड़ना चाहते हैं? देखिये, क्या विद्या में, क्या पद में और क्या धर्म में, मैं तुम्हारे सामने बालक हूँ ॥२२॥२३॥

स कथं पालयिष्यामि भूमिं भवति तिष्ठति ।

हीनबुद्धिगुणो<sup>१</sup> बालो हीन स्थानेन चाप्यहम् ॥२४॥

मैं, प्रापके रहते, किस तरह पृथिवी का पालन कर सकता हूँ? मैं बुद्धिहीन और सद्गुणहीन हूँ और आपसे मैं पद में भी नीचा हूँ और बालक हूँ ॥२४॥

भवता च धिनाभूतो न वर्तयितुमुत्सहे<sup>१</sup> ।

इदं निस्पृहमव्यग्रं राज्यं पित्र्यमकण्ठकम् ॥२५॥

अतः मैं आप के बिना रह भी नहीं सकता। फिर राज्य करने की बात तो जाने ही बीजाण। अथवा मैं आपके बिना जो भी नहीं सकता, राज्यपालन करना तो दूर रहा। अतः पिता के इस सम्पूर्ण, उत्तम एवं निष्प्रेमक राज्य का ॥२५॥

अनुशाधि स्वधर्मेण धर्मज्ञ सह वान्धवैः ।

इहैव त्वाभिपिञ्चन्तु सर्वाः प्रकृतयः सह ॥२६॥

ऋत्विजः सबसिष्ठाश्च मन्त्रवन् मन्त्रकोविदाः ।

अभिपिबतस्त्वमस्माभिरयोध्या पालने यज ॥२७॥

हे धर्मज्ञ! आप ही अणुबान्धवों सहित धर्म से वासन कीजिए। यहाँ पर, हे धर्म के जानने वाले! प्रजाजन वसिष्ठ और मन्त्रिजन महिष बंदि

<sup>१</sup> हीनबुद्धिगुण—सद्गुणबुद्धिरहित । ( गो० ) २ वर्तयितु—स्थानुं । ( गो० )

मंत्रों के जाता ऋत्विक् तुम्हारा अभियेक कर वें और तुम अभियेक  
हो कर, हम लोगों के साथ अयोध्या में राज्य करने चलो ॥२६॥२७॥

विजित्य तरसा लोकान् मरुद्भिरिव वासवः ।

ऋणानि त्रीप्यपाकुर्वन् दुर्हृदः साधु निर्दहम् ॥२८॥

सुहृदस्तपयन् कामंस्त्वमेवात्रानुशाधि माम् ।

अचार्य मुदिताः सन्तु सुहृदस्तेऽभिषेचने ॥२९॥

जित प्रकार अपने शत्रुओं की जीत, इन्द्र ने मरुद्गणों के सहित स्वर्ग  
में प्रवेश किया था, उसी प्रकार तुम भी हम लोगों के साथ अयोध्या में  
प्रवेश करो। देवऋण ऋषिऋण और पितृऋण—इन तीनों ऋणों से  
उऋण हो शत्रुओं को भस्म कर सुहृदों की मतीकामना पूर्ण करते हुए,  
मझे अपना सेवक बना, आज्ञा दिया करो। हे धार्य ! आज तुम्हारे अभि-  
येक से सुहृद लोग हर्षित हों ॥२८॥२९॥

अद्य भीताः पलायन्तां दुर्हृदस्ते दिशो दश ।

आक्रोशं मम मातुश्च प्रमूज्य पुरुषर्षभ ॥३०॥

और तुम्हारे शत्रु भयभीत हो दसों दिशाओं में भाग जायें। हे पुरुष  
श्रेष्ठ ! तुम को वनवास दिलाने का जो कलङ्क मेरी माता को लगा है,  
उसको तुम धो डालो ॥३०॥

अद्य तत्रभवन्तं च पितरं रक्ष कित्विषात् ।

शिरसा त्वाऽभियाचेऽहं कुरुष्व करुणां मयि ।

वान्धवेषु च सर्वेषु भूतेष्विव महेश्वरः ॥३१॥

[टिप्पणी—इहाँ श्रीराम के लिए “भवान्” और वहीं ‘त्वा ते’  
सर्वनामो का प्रयोग होने से सर्वत्र आप या तुम का व्यवहार हो नहीं सका।]

१ दुर्हृद—शत्रु । (गो०) २ आक्रोश—निन्दा । (घ०)

घोर पूज्य पिता जो भी पाप से बचाइये । देखिये ! मैं अपना मस्तक नवा तुम से यह याचना कर रहा हूँ । जिस प्रकार महेश्वर—विष्णु सब प्राणियों पर दया करते हैं, उसी प्रकार आप भी, मेरे और सब भाईबंधों के ऊपर कृपा कीजिए ॥३१॥

[टिप्पणी—यद्देदादी स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः ।

तस्य प्रकृतिलीनस्य य पर स महेश्वर ॥

भूषणटीकाकार ने "महेश्वर" का अर्थ श्रुति-इतिहास प्रमाणों से विष्णु प्रतिपादित किया है—इतर टीकाकारों ने महेश्वर का अर्थ वृषभ-ध्वज शिव या महादेव किया है ।]

अयंतत्पृच्छतः कृत्वा वनमेव भवानितः ।

गमिष्यति गमिष्यामि भवता सार्धमप्यहम् ॥३२॥

यदि मेरी इस प्रार्थना को अस्वीकार कर, यहाँ से आप दूसरे वन की ओर चले जायेंगे, तो मैं भी आप के साथ ही साथ चलूँगा ॥३२॥

तथा हि रामो भरतेन ताम्यता

प्रसाद्यमानः शिरसा महीपतिः ।

न चैव चक्रे गमनाय सत्त्ववान्

मतिं पितुस्तद्वचने व्यवस्थितः ॥३३॥

यद्यपि भरत जो इस प्रकार गिड़गिड़ा घोर धरनों पर अपना सिर धारदार रख कर, धीराम को मना रहे थे, तथापि धीराम पिता के वचन पर ऐसे घटस्र थे कि, वे जरा भी उससे विचलित न हुए यद्यपि किसी प्रकार भी अयोध्या लौट जाना उन्होंने स्वीकार न किया ॥३३॥



तदद्भुतं स्वर्यवेक्ष्यम राघवे  
 समं जनो हर्षमवाप दुःखितः ।  
 न यात्ययोध्यामिति दुःखितोऽभवत्  
 स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य हर्षितः ॥३४॥

जो लोग वहाँ उत मगध उपस्थित थे वे श्रीरामचन्द्र जी के विचार की दृढ़ता को देख, हर्ष-विषाद में एक साथ मग्न हो गए । वे दुःखित तो इसलिए थे कि श्रीरामचन्द्र जी अयोध्या जाना स्वीकार नहीं करते थे, साथ ही हर्ष उनको इस बात का था कि, श्रीराम दृढबुद्धि हैं ॥३४॥

तमृत्वजो नैगमयूथवल्लभाः  
 तथा विसंज्ञाश्रुकलाश्च मातरः ।  
 तथा\* व्रुवाणं भरतं प्रतुष्टुवुः  
 प्रणम्य रामं च ययाचिरे सह ॥३५॥

इति षडुत्तरराततमः सर्गः ॥

व्यापारियों के मुखिया, वेदपाठी ब्राह्मण, अथवा ऋत्विज लोग मूर्छित हो गए तथा यदम करती हुई माताएँ भरत जी की प्रशंसा करने लगीं और हाथ जोड़ कर भरत जी की ओर से श्रीराम को मनाने लगीं ॥३५॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ

—:—

\* पाठान्तरे—'तदा ।

## सप्तोत्तरशततमः सर्गः

—: ०० .—

पुनरेवं द्रुवाणं तं भरतं लक्ष्मणाग्रजः ।

प्रत्युवाच ततः श्रीमाञ्जातिमध्येऽभिसत्कृतः<sup>१</sup> ॥१॥

जब भरत जो ने फिर बुद्ध कहना चाहा तब भरत जो से स्तुति द्वारा भली भाँति सत्कार किए गए श्रीराम अपनी जाति के लोगों के सामने उनसे कहने लगे ॥१॥

उपपन्नमिदं वाक्यं यत्त्वमेवमभाषयाः ।

जातः पुत्रो दशरथात्कैकेय्या राजसत्तमात् ॥२॥

हे भरत ! तुम नृपोत्तम महाराज दशरथ जो से, कैकेयी के गर्भ से उत्पन्न हुए हो, धन जो तुम रहते हो सो सब ठीक है ॥२॥

पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्धहन् ।

मातामहे समाश्रयीद्वाज्यशुल्कमनुत्तमम् ॥३॥

पूर्वकाल में जब हमारे पिता दशरथ जो तुम्हारी माता कैकेयी से विवाह करने गये थे तब तुम्हारे नाना से उन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी कि, तुम्हारी बेटी के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही मेरे राज्यमिहामन पर बैठेगा ॥३॥

[टिप्पणी—महाराज दशरथ वा ऐसी प्रतिज्ञा करना अनुचित न था । क्योंकि कैकेयी के साथ उनका विवाह डरती उमर में हुआ था । अन्य राजियों के साथ बहुत दिनों रह कर, वे पुत्रात्पन्न होने से निराग हो चुके थे । कैकेयी के साथ विवाह पुत्र की वामना ही से किया था । धन उनका ऐसी प्रतिज्ञा करना ठीक ही था ।

१ अभिसत्कृतः—भरतेन स्तोत्रादिना सम्बन्धितः । (गो०)

यदि यहाँ यह कोई कहे कि, जब महाराज कँदेयी के गर्भ से उत्पन्न सन्तान ही को राज्य देने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके थे, तब श्रीराम को युवराजपद देने की तैयारियाँ उन्होंने क्यों कीं ? इस सङ्का का समाधान स्मृतिधारों के इस वचन से होता है—

‘उद्गाहकाले रतिप्रयोगे प्रापन्त्ये सर्वधनाग्रहारे ।  
विप्रस्य चार्थेऽप्यनृतवदेयु पञ्चानृतान्याहरपातकानि ॥”

[इसके भतिरिक्त महाराज अपने कुल की परम्परागत प्रथा के अनुसार ज्येष्ठ राजकुमार को राजसिंहासन देने के लिए भी बाध्य थे । यदि वे इस प्रथा के विरुद्ध कार्य करते, तो प्रजा उनके इस अनुचित कार्य का घोर विरोध करती और उनकी निन्दा करती जैसे कि प्रजा ने श्री राम के बनवास के समय किया भी था । फिर एक बात और भी है । जिस समय कँदेयी के पिता के साथ दशरथ ने उक्त प्रतिज्ञा की थी उस समय उन्हें यह ज्ञान न था कि उनकी उन रातियों से पुत्र होंगे जिनके इतने दीर्घकाल तक नहीं हुए थे ।]

देवासुरे च संग्रामे जनन्यै तव पार्थिवः ।

सम्प्रहृष्टो वदौ राजा वरमाराधितः प्रभुः ॥४॥

इसके भतिरिक्त, देवासुर संग्राम में भी तुम्हारी माता के उपकार से सन्तुष्ट हो, पिता जी ने उन्हें दो वरदान देने बहे थे ॥४॥

ततः सा सम्प्रतिश्राव्य तव माता यशस्विनी ।

अयाचत नरश्रेष्ठं द्वौ वरौ वरवर्णिनी ॥५॥

अतः हे नरश्रेष्ठ ! यशस्विनी एवं सुन्दर वचन बोलने वाली तुम्हारी माता ने, पिता जी को वचनबद्ध कर उनसे दोनों वर मांगे ॥५॥

तव राज्यं नरव्याघ्र मम प्रव्राजनं तथा ।

तौ च राजा तदा तस्यै नियुक्तः प्रददौ वरौ ॥६॥

हे पुष्पसिंह ! एक वर से तुम्हारे लिए राज्य और दूसरे से मेरे लिए वनवास । महाराज ने भी माँगने पर इन दोनों वरों को दे अपनी प्रतिज्ञा पूरी की ॥ ६ ॥

तेन पित्राऽहमप्यत्र निपुक्तः पुरुषर्षभ ।

चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वरदानिकम् ॥ ७ ॥

हे नरवर ! उसी वरदान के कारण पिता की आज्ञा से मैंने चौदह वर्ष वन में वास करना म्योगार किया ॥ ७ ॥

सोऽहं वनमिदं प्राप्तो निर्जनं लक्ष्मणान्वितः ।

सीतया श्चाप्रतिद्वन्द्वः सत्यवादे स्थितः पितुः ॥ ८ ॥

और पिता जी के धचन को सत्य करने के लिए सीता और लक्ष्मण को साथ ले और सर्दी गर्मी दुःख सुख की कुछ भी परवाह न कर, मैं इस निर्जन वन में चला आया हूँ ॥ ८ ॥

भवानपि तथेत्येव पितरं सत्यवादिनम् ।

कर्तुमर्हति राजेन्द्र क्षिप्रमेवाभिपेचनात् ॥ ९ ॥

हे राजेन्द्र ! आप भी अपना शीघ्र राज्याभिषेक करवा कर मेरी तरह पिता जी को सत्यवादी बनाओ ॥ ९ ॥

टिप्पणी—यहाँ भीरु ने भरत को “भवान्” कहा है । यह इस लिए कि वे उनको अयोध्या का न्यायतः अधिकारी समझते हैं । ]

शृणान् भीक्ष्य राजानं मत्कृते भरत प्रभुम् ।

पितरं चापि धर्मज्ञं मातरं चामिनन्दय ॥ १० ॥

हे भरत ! मेरी प्रसन्नता के लिए तुम धर्मज्ञ महाराज को इस श्रद्धा से उश्रद्धा करो । साथ ही स्वयं राज्यासन पर घेठ कर माता केकेयी को भी, प्रसन्न करो ॥ १० ॥

श्रयते हि पुरा तात श्रुतिर्गीता यशस्विना ।  
गयेन यजमानेन गयेष्येव पितृन् प्रति ॥ ११ ॥

हे तान् । सुना है कि, पूर्वकाल मे गय नाम के एक यशस्वी राजा गया प्रदेश मे यज्ञ करते थे । उन्होंने पितरों से यह वाक्य कहा था कि, ॥ ११ ॥

पुत्राम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः ।

तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः १पितृन् यत्पाति वा सुतः ॥ १२ ॥

पुत्र पिता को पुत्राम नरक से उद्धार करता है और पितरों के उद्देश्य से इष्ट पूत कार्यों को कर, पितरों को स्वर्ग मे भेज सब प्रकार से पितरों की रक्षा करता रहता है । इसीसे उसको पुत्र कहते हैं ॥ २ ॥

[ नोट—इष्टापूर्त का विवरण स्मृतियों में यह लिखा है—

पूर्त—यापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च ।

अन्नदानमारामाः पूतमर्घ्या प्रचक्षते ॥

इष्ट—एकाग्नि कर्म हवन त्रेताया यच्च हूयते ।

अन्तर्वेद्या च यद्दानमिष्टं तदभिधीयते ॥

एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः ।

तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद्गयां व्रजेत् ॥ १३ ॥

इसीसे लोग विद्वान् और गुणवान् बहुत से पुत्रों की चाहना करते हैं कि, उनमें से कोई पुत्र तो गया जा कर श्राद्धादि द्वारा पितरों का उद्धार करेगा ॥ १३ ॥

१ पितृन् पाति—तदुद्देशकृतैः श्राद्धपूर्तादिना स्वर्लोक प्राप्यरक्षती-  
त्यर्थः । ( गो० )

एवं राजर्षयः सर्वे प्रतीता राजनन्दन ।

तस्मान्नाहि नरश्रेष्ठ पितरं नरमात्प्रमो ॥ १४ ॥

हे राजनन्दन ! मम राजर्षयो राजान् ज्ञात पर विश्वास्य है ।  
अतः हे नरश्रेष्ठ ! तुम पिता जा जा नरक से बच्चा करो ॥ १४ ॥

अयोध्यां गच्छ भरत प्रकृतीरनुरञ्जय ।

शत्रुघ्नमहितो नीर मह सर्वद्विजातिभिः ॥ १५ ॥

हे भरत ! तुम शत्रुघ्न को तथा सब ब्राह्मणादि प्रजा को साथ  
ले कर, अयोध्या में जा कर, प्रजाओं को आनन्दित करो ॥ १५ ॥

प्रवेक्ष्ये दण्डकारण्यमहमप्यभिलम्बयन् ।

आभ्यां तु सहितो राजन् वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥ १६ ॥

हे राजन् ! मैं भी मांसीता और लक्ष्मण को साथ ले कर शीघ्र  
दण्डकारण्य में प्रवेश करूंगा ॥ १६ ॥

त्वं राजा भरत भव स्वयं नराणां

वन्यानामहमपि राजराण्यश्रुगाणाम् ।

गच्छ त्वं पुराणमथ मप्रहृष्टः

सहृष्टस्त्वहमपि दण्डकारण्यप्रवेक्ष्ये ॥ १७ ॥

हे भरत ! तुम मनुष्यों के राजा हो और मैं वनवृत्तों के  
राजाओं का राजा हूंगा । तुम प्रमत्त हो अतः श्रेष्ठ नगर अयोध्या  
को गमन करो और मैं भी आनन्दपूर्वक दण्डकारण्य में प्रवेश  
करूंगा ॥ १७ ॥

[ टिप्पणी—भरत ने अपने कथन में आ समाधान किया है कि  
पर राम की उतियों का कुण्ड भी प्रकाश नहीं पड़ता । यद्यपि अतः म  
यही जो भरत ने कहा था अर्थात् भरत ने कहा महाकाव्य का विद्या  
दुष्का राज्य में प्रहय करता है । साथ ही उस राज्य का मैं अपना

और से आपको अर्पण करता हूँ । घात ठीक थी—क्योंकि जो वस्तु न्यायतः किसी की है—उस वस्तु को वह किसी को दे भी सकता है । यदि ऐसा न होता तो बनवास के अनन्तर राम को अयोध्या का राज्य लेना ही था । किन्तु अभी राज्य ले लेने से महाराज दशरथ का कैदियों को दिए हुए वरदान की अवहेलना होती थी—१४ वर्ष बनवास न होता । अतः मर्यादारक्षक राम ने महाराज दशरथ की बात रखी और भरत की प्रार्थना स्वीकार की । ]

छायां ते दिनकरभाः प्रवाधमानं

१ वर्षं भरत करोतु मूर्ध्नि शीताम् ।

एतेषामहमपि काननद्रुमार्णां

छायां तामतिशयिनीं सुखी श्रयिष्ये ॥१८॥

सूर्य के आतप को रोकने वाले राजद्वार तुम्हारे मस्तक पर शीतल छाया करें और मैं जङ्गल के इन पेड़ों की सघन छाया का आश्रम ग्रहण करूँगा ॥ १८ ॥

शत्रुघ्नः कुशलमतिस्तु ते सहायः

सौमित्रिर्मम विदितः प्रधानमित्रम् ।

चत्वारस्तनयवरा वयं नरेन्द्रं

सत्यस्थं भरत चराम मा विषादम् ॥ १९ ॥

इति सप्तोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे भरत ! यह अमितबुद्धि वाले शत्रुघ्न तुम्हारे सहायक रहेंगे और सर्वलोकों में प्रसिद्ध यह लक्ष्मण मेरी सहायता करेंगे । इस प्रकार नृपश्रेष्ठ महाराज दशरथ के हम चारों पुत्र, महाराज दशरथ को सत्यवादी करें । अतः अब तुम विषाद्युक्त मत हो ॥ १९ ॥

[ नोट — इस प्रकार जब श्रीरामचन्द्र जी ने भरत जी को निरुत्तरित कर दिया, तब भरत जी का चुप देग, उनका पत्रका समर्थन करते हुए जावालि जी ने चाणक्य मन के आधार पर का श्रीरामचन्द्र जी को जो उपदेश दिया था वह आगे के १००-वे अध्याय में है । ]

अयोध्यागण्ड का एक मां साननां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:❁:—

## अष्टोत्तरशततमः सर्गः

—:●:—

आश्रमयन्तं भरतं जावालिर्ब्राह्मणोत्तमः

उवाच राम धर्मज्ञ घमपिठमिदं' वचः ॥ १ ॥

इस प्रकार भरत जी को समझते हुए श्रीरामचन्द्र जी से जावालि नाम के एक श्रेष्ठ ब्राह्मण ने ये धर्मविरुद्ध वचन कहे ॥१॥

(टिप्पणी) — इस श्लोक में जावालि का एक ब्राह्मणोत्तम का विशेषण है । यह ध्यान देने की बात है कि जावालि श्राप नहीं ये एक ब्राह्मण थे । इनकी चाटुकारिता निन्द्य है ।

साधु राघव मा भूत्ते बुद्धिरेवं निरर्थिकार ।

प्राकृतस्य नरस्येव ह्यर्पयुद्धेर्मनस्विनः ॥ २ ॥

याह महाराज याह ! आपकी तो पामरजनों जैसी निरर्थक बुद्धि न होनी चाहिए । क्योंकि आप केवल, श्रेष्ठ बुद्धिवाले ही नहीं, किन्तु मनस्वी भी हैं ॥ २ ॥

कः कस्य पुरुषो बन्धुः किमाप्यं कस्य केनचिन् ।

यदेको जायते जन्तुरेक एव निनश्यति ॥ ३ ॥

१ घमापन — धर्ममार्गविरुद्ध । ( रा० ) २ निरर्थिकार — परमाव्यवस्था । ( शि० )



मला जरा सोचिए तो, कौन किसका बन्धु है और कौन  
किसका वना विगाड़ सकता है । यहाश्राणी अकेला ही जन्म लेता  
है और फिर अकेला ही नष्ट भी होता है ॥ ३ ॥

तस्मात् माता पिता चेति राम सञ्जेत यो नरः ।

उन्मत्त इव स ज्ञेयो नारित कश्चिद्विकस्यचित् ॥ ४ ॥

अतः यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है—जैसा मन्मन्ध मान  
कर जो पुत्रपुत्र सम्बन्धों में आसक्त होता है, उसे पागल की  
समझना चाहिए क्योंकि विचारपूर्वक देखा जाय तो सच-  
मुच कोई भी किसी का नहीं है ॥ ४ ॥

यथा ग्रामान्तरं गच्छन्नरः कश्चित्कचिद्वसेत् ।

उत्सृज्य च तमावासं प्रतिप्लेतापरेऽहनि ॥ ५ ॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने गाँव से दूसरे गाँव को  
जाता हुआ, कहीं मार्ग में ठहर जाना है और अगले दिन वम  
स्थान को छोड़ चल देता है ॥ ५ ॥

एवमेव मनुष्याणां पिता माता गृहं वसु ।

आवासमात्रं काकुत्स्थ सज्जन्ते नात्र सज्जनाः ॥ ६ ॥

इसी प्रकार पिता माता, घर और वनादि सम्पत्ति के साथ  
भी मनुष्य वा थोड़ी देर का टिकाऊ मन्मन्ध है । अतएव सज्जन  
लोग इनमें आसक्त नहीं होते ॥ ६ ॥

पित्र्यं राज्यं परित्यज्य स नार्हमि नरोत्तम ।

अस्थातुं कपिथं दुःखं विषमं बहुकण्टकम् ॥ ७ ॥

अतएव हे नरोत्तम ! तुम पिता के राज्य को छोड़, श्मश्रुमार्ग  
पर, जो दुःख देने वाला, युवास्था के अयोग्य और बहुकण्टकों  
से परिपूर्ण है, आरूढ़ होने योग्य नहीं हो ॥ ७ ॥

१ विषम—यौवनानुचित । (गो०) २ एकवेशाघरा—व्रतपरायण-  
त्वर्थ. (गो०) ३ नगरी—तर्कादेवता । (गो०)

समृद्धायामयोध्यायामात्मानमभिपेचय ।

एकवेणीधरा हि त्वां नगरीं सम्प्रतीचते ॥ ८ ॥

तुम तो चल कर अब धनधान्ययुक्त अयोध्या में अपना अभिपेक करवाओ । क्योंकि अयोध्या की अधिष्ठाता देवी पति-प्रनधारण कर तुम्हारे आगमन की बाट जोड़ रही है ॥ ८ ॥

राजभोगाननुभयन् महाहान्पार्थिवात्मज ।

विहर त्वमयोध्यायां यथा शक्रस्त्रिपिष्टे ॥ ९ ॥

हे राजकुमार ! तुम बड़िया बड़िया राजाओं के भोगने योग्य भोगों का उपभोग करो और अयोध्या में उन्नी प्रकार विहार करो जिस प्रकार इन्द्र अमरावती में विहार करते हैं ॥ ९ ॥

न ते कश्चिद्दशरथस्त्वं च तस्य न करचन ।

अन्यो राजा त्वमन्यः स तस्मात्सुरु यदुच्यते ॥ १० ॥

न तो अब दशरथ तुम्हारे कोई है और न तुम दशरथ के कोई हो । राजा कोई और है और तुम कोई और हो । इसलिए मैं जो कहता हूँ उसे करो ॥ १० ॥

वीजमात्र पिता जन्तोः शुक्रं रुधिरमेव च ।

संयुक्तमृतुमन् मात्रा पुरुषस्येह जन्म तत् ॥ ११ ॥

प्राणी के जन्म में पिता तो वीर्य का एक कारणमात्र है । क्योंकि शत्रुमती माता के गर्भ में एकर ही मिला हुआ वीर्य और रज ही जीव के जन्म का हेतु है ॥ ११ ॥

गतः स नृपतिस्तत्र गन्तव्यं यत्र तेन वै ।

प्रवृत्तिरेषामर्त्यानां त्वं तु शमिध्या विहन्दसे ॥ १२ ॥

१ प्रवृत्ति.—स्वभाव इत्यर्थः । (गो०) ० मर्त्यानां—मरदृशीनां (गो०) १ स्व तु शमिध्याविहन्दसे—शमिध्यामृतन सम्यगेन पीडये । (गो०)

वे महाराज तो जहाँ उनको जाना था वहाँ गए । क्योंकि मरणशील प्राणियों का स्वभाव ही यह है । तुम वृथा ही इस झूठे सम्बन्ध की ले, पीड़ित होते हो ॥ १२ ॥

अर्थधर्मपरा ये ये तांस्ताञ्छोचामि नेतरान् ।

ते हि दुःखमिह प्राप्य विनाशं प्रेत्य मेजिरे ॥ १३ ॥

जो लोग प्रत्यक्ष मिलते हुए सुख को त्याग कर, आगे सुख मिलने की आशा से कष्ट भोग कर, धर्मोपासन करते हैं और ऐसा करते करते नष्ट हो जाते हैं, मुझे उन्हीं लोगों के लिए दुःख है औरों के लिए नहीं अथवा मुझे उन लोगों के लिए शोक है जो प्रत्यक्ष सिद्ध अर्थ को त्याग अप्रत्यक्ष धर्म सन्पादन में तत्पर रह कर, इसलोक में तो दुःख भोगते ही हैं, किन्तु वे नष्ट होने पर भी दुःख भोगते हैं । औरों के लिए नहीं ॥ १३ ॥

अष्टका पितृदैवत्यवित्ययं प्रसृतो जनः ।

अन्नस्योपद्रव २ पश्य मृतो हि किमशिष्यति ॥ १४ ॥

देखिए, लोग जो अष्टकादि श्राद्धकर्म पितरों के उद्देश्य से, प्रतिवर्ष क्रिया करते हैं, उससे लोग अन्न का कैसा नाश करते हैं । भला वहीं कोई मरा हुआ भी कभी भोजन करता है ? ॥ १४ ॥

यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति ।

दद्यात्प्रवसतः श्राद्धं न तत्पथ्यशनं भवेत् ॥ १५ ॥

यदि एक का खाया हुआ अन्न दूसरे के शरीर में पहुँच जाता तो ब्रह्मण्य को रास्ते में भोजन करने के लिए, भोज्य पदार्थ (पाथेय)

१ अर्थधर्मपराः—प्रत्यक्षसौख्यं विहाय केवलार्थसन्पादनपराः । (गो०)

२ उपद्रवं—क्षय । (गो०)

अपने साथ लेने की जरूरत ही क्या है ? क्योंकि हमके सम्पन्धी उससे नाम पर घर पर ही श्राद्ध कर दिखा करते और वही उस बटोहीके लिए, मार्ग में भोजन का काम देता और बटोही बोझ डोने से बच जाता ॥ १५ ॥

१दानसंवनना ह्येते ग्रन्था मेधाविभिः२ कृताः ।

यजस्व देहि दीवस्व तपस्तप्यस्व मन्त्यज ॥ १६ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! अन्य उपायों से धनोपार्जन में लेश देय, दूसरों का धन हरने में चतुर लोगों ने, दान द्वारा लोगों को धरा में करने के लिए, धर्मग्रन्थों में लिख रखा है कि, यज्ञ करो, दान दो, दीक्षा लो, तप करो, सन्यास लो अर्थात् लोगों को धोखा दे कर उनका धन हरण करना ही इन धर्मग्रन्थों की रचना का मुख्य उद्देश्य है ॥ १६ ॥

स नास्ति परमित्येव कुरु बुद्धिं महामते ।

प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु ॥ १७ ॥

हे महामते ! वास्तव में इस लोक में अतिरिक्त परलोक आदि कुछ भी नहीं है । इसे आप भला भौति समझ लीजिए । अतः जो मामने है, उसे ग्रहण कीजिए और जो परोक्ष, अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं है उसे पीठ पीछे कीजिए अर्थात् प्रत्यन में सुगदायक राज्य को ग्रहण कीजिए और परोक्ष की धन ( कि रिता को सत्यप्रतिज्ञ करने से बड़ा पुण्य होगा, ) को भुला दीजिए ॥ १७ ॥

१ दानसंवनना — दानापर्याहारयोग्यता । (गी०) २ मेधा-

विभि — परद्रव्यमह्यकुशलबुद्धिभि । (गी०)

सतां बुद्धिं पुरस्कृत्य सर्वलोकनिदर्शिनीम् ।

राज्यं त्वं प्रतिगृहीष्व भरतेन प्रसादितः ॥ १८ ॥

इति पञ्चोत्तरशततमः सर्गः

देखा भरत जी तुमसे प्रार्थना करते हैं, अतः सर्व जनान् मोदित मज्जनों के मन को स्थीतार कर, राज्य ग्रहण करो ॥१८॥

अयोध्याकाण्ड का एक सा आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:❁:—

## नवोत्तरशततमः सर्गः

—:❁:—

जाबालेस्तु वचः श्रुत्वा रामः सत्यात्मनां वरः ।

उवाच परया भक्त्या स्वबुद्ध्या चाविपन्नया ॥१॥

जाबालि की बातें सुन, सत्यभार वानों में श्रेष्ठ श्रंरामचंद्र अपनी अविचल बुद्धि से विचारे हुए, वैदिक धर्म में श्राद्ध उत्पन्न करने वाले वचन बोले ॥ १ ॥

भवान् मे प्रियकामार्थं वचनं यदिहोक्तवान् ।

आकार्यं कार्यसङ्काशमप्ययं पथ्यसम्मितम् ॥ २ ॥

आपने मुझे प्रसन्न करने के लिए जो बातें कही, वे कार्य रूप में परिणत करने के लिए अल्पयुक्त और न्याय के विरुद्ध

१ सर्वलोकनिदर्शिनीम्—सर्वजनसमतामित्यर्थः । (गो०) १ सत्यात्मना वरः—सत्यत्वभावाना श्रेष्ठः । (रा०) सत्यामना भक्त्या—वैदिकधर्मभक्त्या । (गो०) ३ अविपन्नया—अचलितया । (गो०)

होने पर भी, माधारण दृष्टि से देखने पर, न्यायानुमोदित और करने योग्य जान पड़ती है अर्थात् आपकी सब बातें घनावरी हैं ॥ २ ॥

निर्मयादस्तु पुरुषः पापाचारममन्वितः ।

मानं न लभते मत्सु मित्रचाग्निदर्शनः ॥ ३ ॥

मर्यादारहित, पापाचरण से युक्त, चरित्रद्वेन और माधु-सम्मत शास्त्रों के विरुद्ध आचरण करने वाले पुरुष का मज्जनों के समाज में आदर नहीं होता ॥ ३ ॥

कुर्त्तानमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम् ।

चारित्र्येन व्याख्याति शुचिं वा यदि वाऽशुचिम् ॥४॥

चरित्र ही अकुलीन को कुलीन, भीरु को वीर और अपावन को पावन प्रसिद्ध करता है ४ ॥

अनार्यं स्वार्थमङ्कारः शौचाद्धीनस्तथा शुचिः ।

लक्षययदलक्षयो दुःशीलः शीलमानिन् ॥ ५ ॥

अधर्म धर्मवेषेण यदीमं ह्यलक्षयङ्गम् ।

अभिपत्स्ये शुभं<sup>२</sup> हित्वा क्रियाविधिरिजितम्<sup>३</sup> ॥६॥

कश्चेतपानः<sup>४</sup> पुरुषः कार्याकार्यविचक्षणः ।

यद्गुमं स्यति मां लोके दुर्गुत्तं लोऽदूपयम् ॥ ७ ॥

१ लोकाङ्करम्—लोकाङ्करकारकम् । (गो०) २ शुभं—शुभसाधन वैदिकधर्मम् । (गो०) ३ निराविधिरिजितम्—वैदिकधर्मसंबन्धविधिना च विजितं इत्यन्वयम् । (गो०) ४ चेतपानः—शनान् । (गो०)

यदि मैं श्रेष्ठ पुरुषों को मर्यादा में न रह कर, अनायो की तरह, पवित्र हो कर, शौचहीन की तरह और शीलवान हो कर, दुःशील की तरह, धर्म के वेप में वैदिक धर्म को छोड़, लोगों में सङ्करता बढ़ाने वाली, वैदिक विधि और वैदिक क्रिया से रहित हो आपके बतलाए हुए धर्म को ग्रहण करूँ, तो कार्य अकार्य को जानने वाला कौन ज्ञानवान पुरुष, मुझ दुराचारी और लोक-निन्दित का सम्मान करेगा ? ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

कस्य धास्याम्यहं वृत्तं केन वा स्वर्गमाप्नुयाम् ।

अनया वर्तमानो हि वृत्त्या हीनप्रतिज्ञया ॥ ८ ॥

यदि आपके उपदेशानुसार मैं इस सत्य-प्रतिज्ञ-पालन-हीन वृत्ति को अवलंबन कर लूँ तो, मैं किस कर्म के द्वारा स्वर्ग प्राप्त करूँगा ॥ ८ ॥

कामवृत्तस्त्वयं लोकः कृत्स्नः समुपवर्तते ।

यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः ॥९॥

जब मैं (ही) यथेच्छाचारी हो गया, तब (अन्य) सब लोग मनमाना काम करने लगेंगे । क्योंकि राजा का जैसा आचरण होता है, वैसा ही आचरण प्रजा का भी हो जाता है । ( यथा राजा तथा प्रजा प्रसिद्ध ही है ) ॥ ९ ॥

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम् ।

तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः ॥१०॥

भूतानुष्मया प्रधान और सनातन राजधर्म सत्यरूप है, अतः राज्य सत्यरूप है और सत्य ही से यह लोक टिका हुआ है ॥१०॥

१ अनृशंस—भूतानुष्मयाप्रधानं सनातनं च राजवृत्तं सत्यरूपमेव ।

( गो० )

[ नोट—अर्थात् राजा का धर्म है कि वह प्राणि मान पर दयायुक्त व्यवहार करे और अपने व्यवहार में अशय को स्थान न दे। राजधर्म में झूठ बोलना निषिद्ध है। भूतानुसंग्याप्रदान एवं मय्यरूप राजधर्म अनादिसिद्ध है। यदि मय्यव्यवहार लुप्त हो जाय तो इस लालक में एक बण भी रहना कठिन हो जाय। ]

ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे<sup>१</sup> ।

सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परमं गच्छति जयम् ॥११॥

देवो ऋषि लोग और देवता लोग सत्य को उत्कृष्ट मानते हैं, क्योंकि सत्यवादी पुरुष को अक्षय्य भद्रलोक प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

उद्विजन्ते<sup>२</sup> यथा सर्पान्तरादनृतपादिनः ।

धर्मः सत्यं परो लोके मूलं स्वर्गस्य चोच्यते ॥ १२ ॥

मिव्यावादी पुरुष से लोग धैसे ही डरते हैं जैसे सर्प से। सत्य से युक्त धर्म केवल ममस्त लौकिक व्यवहारों ही का मूल नहीं है, किन्तु स्वर्गप्राप्ति का भी मूल साधन है ॥ १२ ॥

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्यं पद्मा त्रिता सदा ।

सत्य मूलानि सर्वाणि सरयाम्नास्ति परं पदम्<sup>४</sup> ॥१३॥

सत्य ही से ईश्वर की प्राप्ति होती है, सत्य ही से लक्ष्मी वन धान्य मिलता है। सत्य ही मय्य सुतो का मूल है, सत्य से यद कर और कोई यातु नहीं है, जिसका आश्रय लिखा जाय ॥ १३ ॥

दत्तमिष्टं द्रुवं चैव तप्तानि च तपांमि च ।

वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेन् ॥ १४ ॥

१ मेनिरे—उद्विजन्तेविशेष । ( गो० ) २ परम जयम्—परम-  
धाम । ( गो० ) ३ उद्विजन्ते—बना इतिशेष । ( गा० ) ४ पदम्—  
आश्रय । ( शि० )



दान, यज्ञ, तप और वेद—ये सब सत्य हैं, अतएव सब को सदा सत्य पालन के लिए तैयार रहना चाहिए ॥ १४ ॥

एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम् ।

मञ्जत्येको हि निरय एकः स्वर्गं महीयते ॥ १५ ॥

कोई तो अपने कर्मों के फल से अपने कुल का और कोई लोक भर का पालन करता है । कोई नरक में डूबता है और कोई स्वर्ग में पूजित होता है ॥ १५ ॥

सोऽहं पितुर्नियोगं तु किमर्थं नानुपालये ।

सत्यप्रतिश्रवः सत्यं सत्येन समर्थाकृतः ॥ १६ ॥

अतएव मैं ( कर्मफल को जानता हुआ और ) सत्य का पालन करने का प्रतिज्ञा करके, सत्यप्रतिज्ञ और सदाचारी पिता की सत्य रूप उस आज्ञा का, जिसके पालन की प्रतिज्ञा सत्यता-पूर्वक की गई है, पालन क्यों न करूँ ॥ १६ ॥

नैव लोभान्न मोहाद्वा न ह्यज्ञानात्तमोन्वितः ।

सेतुं १ सत्यस्य मेत्स्यामि गुरोः २ संत्यप्रतिश्रवः ॥ १७ ॥

अतएव मैं न तो राज्य पाने के लोभ से, न लोगों के भुलावे में आ और न अज्ञान से क्रोध के घशबर्ती हो, पिता की सत्य-रूपी मर्यादा के तोड़ूँगा, क्योंकि मैं स्वयं सत्यप्रतिज्ञा हूँ ॥ १७ ॥

असत्यसन्धस्य सतश्चलस्यास्थिरचेतसः ।

नैव द्वा न पितरः प्रतीच्छन्तीति नः श्रुतम् ॥ १८ ॥

मैंने सुना है कि, जो मृत्युप्रतिज्ञा को भङ्ग करने वाला, चञ्चल स्वभाव और अस्थिरचित्त है, उसका दिव्या हुआ इन्द्र और वज्र देवता और पितर प्रहृण नहीं करते ॥ १८ ॥

प्रत्यगात्मभिर्म धर्मं सत्यं पश्याम्यहं स्वयम् ।

भारः सत्पुरुषार्थैर्णस्तदर्थमभिमन्यते ॥ १९ ॥

मेरी समझ में प्रत्येक जीवधारी के लिए मृत्युपालन रूपी धर्म सब धर्मों की अपेक्षा प्रधान धर्म है । जिस मृत्युपालन रूपी धर्मभार या वननाम रूपी धर्मभार का पूर्वकाल के सत्पुरुष चठा चुके हैं उस भार को आदर देना मैं पसन्द करता हूँ ॥ १९ ॥

छात्रं धर्ममहं त्यज्ये ऋष्यधर्मं धर्ममंहितम् १ ।

क्षुद्रैर्नृशर्मलुब्धैश्च सेवितं पापकर्मभिः ॥ २० ॥

आपके धतलाए हुए छात्र धर्म को, जिसमें धर्म तो नाम मात्र का है और अधर्म प्रचुर परिमाण में है मैं त्यज्य समझना हूँ ; क्योंकि ऐसे अधर्म रूपी धर्म का सेवन नो—नीच, निष्ठुर लोग और पापी लोग ही मिथ्या करते हैं ॥ २० ॥

कायेन कुरुते पापं मनसा संप्रधार्य च ।

अनृतं त्रिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातरुम् ॥ २१ ॥

आपके धतलाए छात्रधर्म का पालन करने में, तीनों प्रकार के पापों की प्रवृत्ति होती है । वे तीन प्रकार के पाप हैं कायिक, मानसिक और वाचिक । (कायिक वे जो शरीर से किए जाय,

१ सत्पुरुषार्थैर्णस्तदर्थमभिमन्यते—सत्पुरुषैश्चरितः । (गो०) २ अभिमन्यते—अभिमतो भवति । (गो०) ३ अधर्मे—अधर्मप्रचुर । (गो०) ४ धर्ममंहितम्—धर्मनेश्वरितम् । (गो०)

मानसिक वे जो मन में सोचे जायें और वाचिक वे जो जिह्वा द्वारा किए जायें, अर्थात् भूठ बोलना, क्रोध करना, परनिन्दा करना, अपशब्द कहना आदि ।) इन तीनों प्रकार के पापों का परस्पर सम्बन्ध है । पहले तो पाप का मन में सहूल्य उदय होता है, फिर वाणी द्वारा वह प्रकट किया जाता है और फिर वह शरीर से किया जाता है ॥ २१ ॥

भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि ।

स्वर्गस्थं चानुपश्यन्ति सत्यमेव भजेत तत् ॥ २२ ॥

जो लोग सत्यव्रतधारी हैं, उन्हें केवल राज्य, कीर्ति, यश और धन ही नहीं मिलना, किन्तु मरने पर, उन्हें स्वर्ग भी प्राप्त होता है । इसीसे लोगों का मृत्यु बोलना और सत्य व्यवहार करना उचित है ॥ २२ ॥

श्रेष्ठं ह्यनार्यमेव स्याद्यद्भ्रान्तवधार्यं माम् ।

आह युक्तिकरेर्वाक्यैरिदं<sup>२</sup> भद्रं कुरुष्व ह ॥ २३ ॥

आपने अपने मन में निश्चय कर जिसे उचित समझ रखा है, और जिसको करने के लिए आप मुझमें युक्तियुक्त वचन कह कर अनुरोध करते हैं, वह कार्य सर्वथा अनुचित है ॥ २३ ॥

कथं ह्ययं प्रतिज्ञाय वनवासमिमं गुरो ।

भरतस्य करिष्यामि वचो हित्वा गुरोर्वचः ॥ २४ ॥

भला बतलाइये तो, मैं जब पिता से वनवास की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, तब अब क्योंकर मैं उम प्रतिज्ञा को भङ्ग कर, भरत का कहना मानूँ ! ॥ २४ ॥

१ श्रेष्ठमित्यवधार्य निश्चय । ( गो० ) २ इदं भद्रं कुरुष्वेति भवान्युक्तिकरैर्वाक्यैः यदाह तदनाद्यमेव स्यात् । ( गो० )

स्थिरा मया प्रतिज्ञाता प्रतिज्ञा गुरुमन्निधौ ।

प्रहृष्यमाणा सा देवी कैकेयी चामरत्तदा ॥ २५ ॥

जब कि मैंने पिता के सामने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की थी तब देवी कैकेयी अत्यन्त प्रसन्न हुई थी । सो अब मैं अपनी उस दृढ़ प्रतिज्ञा का तोड़ कैकेयी को क्यों कर दुःखी करूँ ॥ २५ ॥

वनवासं वसन्नेव शुचिर्नियतभोजनः ।

मूलैः पुष्पैः फलैः पुण्यैः पितॄन् देवांश्च तर्पयन् ॥२६॥

अतएव मैं पवित्र मूल फल फूलों से देवताओं और पितरों को तृप्त कर और बचे हुएों को स्वयं भोजन कर, शुद्ध हृदय और सन्तुष्ट हो कर, वन में वास करूँगा ॥ २६ ॥

[टिप्पणी—जो पदार्थ देवताओं पितरों को अर्पण कर लाए जाते हैं उनके खाने से हृदय शुद्ध होता है—जो ऐसा नहीं करते वे पाप कर्मों हैं—गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा भी है “भुञ्जते ते स्वप पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्” अर्थात् जो अपने खाने के लिए रसोई बनाते हैं, वे अन्न नहीं, प्रत्युत पाप खाते हैं । ]

१ सन्तुष्टपञ्चवर्गोऽहं लोकयात्रां प्रवर्तये ।

२ अकुहः श्रद्धानः सन् कार्याकार्यविचक्षणः ॥२७॥

मैं छल छिद्र त्याग कर, कार्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार कर, वैदिक क्रियाकलाप में अकृत्रिम श्रद्धा रख कर, तथा पाँचों इन्द्रियों को सन्तुष्ट रख कर, पिता की वचनपालन रूपी लोकायात्रा का निर्वाह करूँगा ॥ २७ ॥

१ सन्तुष्टपञ्चवर्गः—परितुष्टपञ्चेन्द्रियवर्गः । ( गो० ) २ लोकयात्रा—

—विवेकवचनपरिपालनरूपलोकयात्रा । ( गो० ) अकुहः—अकृत्रिमः ।

( गो० )

कर्मभूमिमिमां प्राप्य कर्तव्यं क्व यच्छुभम् ।

अग्निर्वायुश्च सोमश्च कर्मणां फलमाग्निः ॥ २८ ॥

इस कर्मभूमि में आकर प्रत्येक व्यक्ति को शुभकर्मानुष्ठान करना उचित है क्योंकि कर्मों के फल के भागी अग्नि, वायु और चन्द्रमा हैं । अर्थात् मनुष्यों के क्रमानुसार अग्निलोक, वायुलोक और चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है । अथवा शुभकर्मों द्वारा ही जीव अग्नि वायु और चन्द्रमा होते हैं ॥ २८ ॥

शतं क्रतूनामाहृत्य देवराट् त्रिदिशं गतः ।

तपांस्युग्राणि चास्थाय दिवं याता महर्षयः ॥ २९ ॥

( शुभकर्मानुष्ठान का प्रभाव दिखा कर श्रीराम कहते हैं कि ) सौ ब्रह्म करने से, इन्द्र देवराज हो कर स्वर्ग में गये और महर्षि लोग भी तप करके स्वर्ग की प्राप्ति करते हैं ॥ २९ ॥

अमृष्यमारः पुनरुग्रतेजा

निशम्य तन्नास्तिरुहेतुवाक्यम् ।

अधात्रवीत्तं नृपतेस्तनूजो

दिगर्हमाणो वचनानि तस्य ॥ ३० ॥

उग्र तेज वाले नृपनन्दन श्रीरामचन्द्र, जादालि के नास्तिकता से भरे वचन सुन, उनसे सहन न कर सके और उन वचनों की निन्दा करते हुए, उनसे कहा ॥ ३० ॥

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च

भूतानुकम्पां प्रियवादितां च ।

द्विजातिदेवातिथिपूजनं च

पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥ ३१ ॥

हे जात्रालि ! मत्स्यभाषण, अपने अपने वर्ण और आश्रम के धर्म का पालन, समय पर पराक्रम प्रदर्शन, भूतदया, प्रिय-वचन, ब्राह्मण, देवता और अतिथिपूजन,—इन कर्मों के करने से, साधुजन स्वर्ग की प्राप्ति बतलाते हैं ॥ ३१ ॥

तेनैवमाज्ञाय यथावदर्थ-

१मेकोदयं संप्रतिपद्यत्रिषाः ।

धर्मं चरन्तः सकलं यथावत्

काङ्क्षन्ति लोकागममप्रमत्ताः ॥ ३२ ॥

इसी लिए ब्राह्मण लोग, इसका यथावत् अर्थ समझ सावधान हो कर, वर्णाश्रमोचित समस्त धर्मों का पालन करते हुए, ब्रह्मलोकादि की आर्थाँसा करते हैं ॥ ३२ ॥

२निन्दाम्यहं कर्म पितुः कृतं त-

द्यस्त्वामगृह्णाद्विपश्मस्यबुद्धिम् ।

बुद्ध्याज्जर्णवंविधया चरन्तं

सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम् ॥ ३३ ॥

हे जाशानि ! मैं अपने पिता के इस कार्य की निन्दा करता हूँ कि उन्होंने तुम्हारे जैसे चेष्टमार्ग से भ्रष्ट बुद्धि वाले और

१ एकोदय संप्रतिपद्य—एकएक्यं प्रा य । (गो०) २ निन्दाम्यहं—वैदिककर्मभ्योऽदिच्छेतिमि । (गो०) ३ विपश्मस्यबुद्धिं—अवैदिकमार्गं निष्पातबुद्धिं । (गो०)

धर्मच्युत एक नास्तिक को आश्रय दिया या अपने यहाँ रखा । क्योंकि चार्वाकादि नास्तिकमत का जो दूसरों को उपदेश देते हुए घूमा फिरा करते हैं, वे केवल घोर नास्तिक ही नहीं, प्रत्युत धर्ममार्ग से च्युत भी हैं ॥ ३३ ॥

यथा हि चोरः स तथा हि बुद्ध-

स्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि ।

तस्माद्धि यः शङ्क्यतमः प्रजानां

न नास्तिकेनाभिमुखो बुधः स्यात् ॥ ३४ ॥

राजा को चाहिए कि प्रजा की भलाई के लिए ऐसे मनुष्य को बड़ी दृण्डादे जो चोर को दिखा लाता है । यदि इनको दृण्ड देते में असमर्थ हो, तो उन समझदारों या विद्वानों को ऐसे नास्तिकों से बातचीत भी न करनी चाहिए ॥ ३४ ॥

ऋततो जनाः पूर्वतरेवराश्च ।

शुभानि कर्माणि बहूनि चक्रुः ।

जित्वा सदेमं च परं च लोकं

तस्माद्द्विजाः स्वस्ति हृत कृतं च ॥ ३५ ॥

हे जाबाल ! तुमसे पहले के ज्ञान में श्रेष्ठ जनों ने अनेक शुभ कर्म किए और उन शुभ कर्मों के प्रभाव से उन लोगों ने इह लोक और परलोक जीते । इसीसे ब्राह्मणों ने अहिंसा, सत्यादि, तपोदान परोपकारादि तथा यज्ञादि कर्मों का किया ॥ ३५ ॥

१ त्वत्तः—पूर्वतरेपुरातनाश्च, वराश्च शनतः श्रेष्ठाश्च जनाः ।  
(गो) • पाठान्तरे—“त्वत्तो जनाः,” “त्वत्तो वरः” । • पाठान्तरे—  
“जनान्श्च,” “द्विजाश्च” ।

धर्मै रताः सत्पुरुषैः समेताः

तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः ।

अहिंसका वीतमलाश्च लोके

भयन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः ॥ ३६ ॥

जो धर्मानुष्ठान में सदा तप पर रहते हैं, तेजस्वी हैं, जो दान देने में प्रधान हैं, जो हिंसा नहीं करते, जो सत्मन्त्री हैं, ऐसे वशिष्ठादि प्रधान प्रधान मुनि ही ससार में पापरहित हो और वैज धारण कर सब के पूज्य होते हैं (न कि आप जैसे नास्तिक लोग) ॥ ३६ ॥

इति ब्रुवन्तं वचनं सरोपं

रामं महात्मानमदीनसत्त्वम् ।

उवाच तथ्यं पुनरास्तिकं च

सत्यं वचः सानुनयं च मित्र ॥ ३७ ॥

जब दैन्यसमर्गशून्य श्रीरामचन्द्र जी ने, क्रोध में भर जाशलि से ऐसे वचन कहे, तब जाशलि जी विनय युक्त हो यथार्थ, सत्य सन्मत और आस्तिक वचन बोले ॥ ३७ ॥

न नास्तिकानां रचनं ब्रवीम्यहं

न नास्तिकोऽहं न च नास्ति किञ्चन ।

समीक्ष्य कालं पुनरास्तिकोऽमरं

मवेय काले पुनरेव नास्तिकः ॥ ३८ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! मैं नास्तिकों जैसी बातें नहीं कहना और न मैं स्वयं नास्तिक हूँ । मेरे कहने का न यह अभिप्राय ही है कि,

१ अदीनसत्त्वम्—दैन्यसंहरणार्थम् । (पि०)



परलोकादि कुद्र भी नहीं है। परन्तु समय के प्रभाव में पड़  
अथवा समय की आवश्यकतानुसार में आस्तिक अथवा नास्तिक  
हो जाता है ॥ ३८ ॥

स चापि कालोऽयमुपागतः शनैः

यथा मया नास्तिक्वागुदीरिता ।

निवर्तनार्थं तव राम कारणात्

प्रसादनाथ च मयैतदीरितम् ॥ ३६ ॥

इति नवोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे राम ! यह समय ऐसा ही था कि मुझे नास्तिकों जैसे  
वचन कहने पड़े। मैंने यह वचन तुम्हें प्रसन्न करने तथा  
तुम्हें वन से लौटाने के लिए ही कहे थे ॥ ३६ ॥

[ टिप्पणी—जाबालि ने यहाँ अपनी चाटुकारता को स्वीकार कर  
लिखा है। ]

अयोध्याकाण्ड का एक सौ नवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



## दशोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

[ टिप्पणी— ( ११० वें सर्ग में ) श्रीराम जी को जाबालि पर  
क्रुद्ध देख, वसिष्ठ जी जाबालि के वचन का सदुद्देश्य समझने के लिए  
यह युक्ति देते हैं कि खुवंश में सदा ज्येष्ठ राजकुमार ही के राज-  
सिंहासन मिलता आया है। इस युक्ति की पुष्टि में वसिष्ठ जी इक्ष्वाकु-  
वंश की संक्षिप्त वंशावली का निरूपण कर, श्रीराम का ध्यान बँटा कर  
उनका शोध शान्त करते हैं। ]

क्रुद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।

जाबालिरपि जानीते लोकस्यास्य शतानतिम् ॥१॥

वमिष्ट जो ने जय देगा मि, श्रीरामचन्द्र जो जावालि की बातों से क्रुद्ध हो गए हैं, तब वे उन से यह बोले—जावालि जी प्राणियों के आवागमन का मानते है ॥ १ ॥

निवर्तयितुकामस्तु त्वामेतद्वाक्यमब्रवीत् ॥

इमां लोकममुत्पत्तिं लोकनाथ निबोध मे ॥ २ ॥

तुमको लौकानं के लिए ही उन्होंने ऐसी बातें तुमसे कही थीं। हे लोकनाथ ! इस लोक की उत्पत्ति का वर्णन तुम मुझसे सुनो ॥ २ ॥

सर्वं सलिलमेवासीत्पृथिवी यत्र निर्मिता ।

ततः समभ्रमद्ब्रह्मा स्वयंभूर्देवतैः सह ॥ ३ ॥

आरम्भ में जल ही जल था। उसी जल के भीतर पृथिवी बनी। तदनन्तर देवताओं के साथ ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥

स वराहस्ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुन्धराम् ॥

असृजच्च जगत्सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः ॥ ४ ॥

तदनन्तर उन्होंने वराह रूप धारण कर जल से पृथिवी निकाली और अपने पुत्रों सहित इस सम्पूर्ण जगत को बनाया ॥ ४ ॥

आकाशप्रभसो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः ।

तस्मान् मरीचिः संजज्ञे मरीचिः काश्यपः सुतः ॥ ५ ॥

सनातन, नित्य और अक्षय्य ब्रह्मा आकाश से उत्पन्न हुए और उनसे मरीचि और मरीचि से काश्यप हुए ॥ ५ ॥

पित्रस्वान् काश्यपाज्जज्ञे मनुर्वैवस्वतः सुतः ।

स तु प्रजापतिः पूर्वमित्राकुम्भु मनोः सुतः ॥ ६ ॥

करय ली से विवस्वान मूर्यं विवस्वान मूर्यं से मनु ने जन्म  
लिआ । वैवस्वत मनु ही प्रजापतियों में प्रथम प्रजापति हुए और  
इन्हींके पुत्र इक्ष्वाकु थे ॥ ६ ॥

यस्येयं प्रथमं दत्ता समृद्धा मनुना मही ।

तमिद्वाराकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम् ॥ ७ ॥

इन इक्ष्वाकु को महाराज मनु ने समृद्ध पृथिवी दी थी। इन्हीं  
इक्ष्वाकु को हे राम ! तुम अयोध्या का प्रथम राजा जानो ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान् कुक्षिरित्येव० विश्रुतः ।

कुक्षेरथात्मजो वीरो विकुक्षिरुदपद्यत ॥ ८ ॥

हे वीर ! इक्ष्वाकु के पुत्र श्रीमान् कुक्षि नाम से प्रसिद्ध हुए  
और कुक्षि से विकुक्षि की उत्पत्ति हुई ॥ ८ ॥

विकुक्षेस्तु महातेजा वाणः पुत्रः प्रतापवान् ।

वाणस्य तु महाबाहुरनरण्यो महायशः ॥ ९ ॥

विकुक्षि के पुत्र महातेजस्वी और प्रतापी वाण हुए । वाण के  
पुत्र महायशस्वी अनरण्य हुए ॥ ९ ॥

नानावृष्टिर्बभूवास्मिन्न दुर्भिक्षं सतां वरे ।

अनरण्ये महाराजे तस्करो नापि कश्चन ॥ १० ॥

सज्जनों में श्रेष्ठ महाराज अनरण्य के राज्यत्व काल में न  
तो कमी सूखा पड़ा और न कमी अकाल । उनके राज्य में कोई  
चेर भी न था ॥ १० ॥

अनरण्यान् महाबाहुः पृथू राजा बभूव ह ।

तस्मात्पृथोर्महाराजश्चिशङ्करुदपद्यत ॥ ११ ॥

हे महाबाहो ! अनरण्य से प्रथु जी ने जन्म लिया । पृथुजी से परम तेजस्वी त्रिशङ्क ! उत्पन्न हुए ॥ ११ ॥

स सत्यरचनाद्वीरः सशरीरो दिवं गतः ।

त्रिशङ्कोरभवत्सुधुन्धुमारो महायशाः ॥ १२ ॥

हे वीर ! यह त्रिशङ्क ऐसे सत्यवादी थे कि, मशरीर स्वर्ग में गए थे । त्रिशङ्क के पुत्र परम यशस्वी धुन्धुमार हुए ॥ १२ ॥

धुन्धुमारान् महातेजा युवनाशो व्यजायत ।

युवनाशसुतः श्रीमान् मान्धाता समपद्यत ॥ १३ ॥

धुन्धुमार से महातेजस्वी युवनाश्व हुए । युवनाश्व के पुत्र श्रीमान् मान्धाता हुए ॥ १३ ॥

मान्धातुस्तु महातेजाः सुसन्धिरुदपद्यत ।

सुसन्धेरपि पुत्री द्वौ ध्रुवसन्धिः प्रसेनजित् ॥ १४ ॥

मान्धाता से परम तेजस्वी सुसन्धि जन्मे । सुसन्धि से ध्रुवसन्धि और प्रसेनजित् नाम के दो पुत्र हुए ॥ १४ ॥

यशस्वी ध्रुवमन्धेस्तु भरतो रिपुमूदनः ।

भरतात् महाबाहोरमितो नामतोऽभयत् ॥ १५ ॥

ध्रुवसन्धि के पुत्र रिपुमूदन और यशस्वी भरत हुए । महाबाहु भरत से असित का जन्म हुआ ॥ १५ ॥

यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः ।

हैहयास्तालजहारच शूरारच शशिविन्दवः ॥ १६ ॥

हैहत, तालजघ, शशिविन्द शूर ने असित से शत्रुता की ॥ १६ ॥

● पाठान्तरे—“नाम वायत” ।

तांस्तु सर्वान् प्रतिव्यूह्य युद्धे राजा प्रवासितः ।

स च शैलवरे रम्ये बभूवाभिरतो मुनिः ॥ १७ ॥

युद्ध के समय असित ने इन सत्र के मित्र दू सैन्यव्यूह बना कर इनको घेरा, किन्तु इनको परानित करना कठिन जाना और अपना राज्य छोड़, वे तप करने के लिए परम रमणीक हिमालय पर्वत पर चले गए ॥ १७ ॥

द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतिः ।

एका गर्भविनाशाय सपत्न्ये सगर ददौ ॥ १८ ॥

सुना जाता है कि, उनकी दो रानियाँ उस समय गर्भवती थीं । उनमें से एक ने अपनी सौत का गर्भनाश करने के लिए उसे जहर दिया ॥ १८ ॥

भार्गवरच्यवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः ।

तमृषिं ममुपागम्य कालिन्दी त्वभ्यवादयत् ॥ १९ ॥

भृगुनन्दन च्यवन जो उस समय हिमालय पर्वत पर रहते थे । कालिन्दी नाम की रानी ने उन ऋषि के पास जा कर उनको प्रणाम किया ॥ १९ ॥

स तामभ्यवदद्विप्रो वरेणसुं पुत्रजन्मनि ।

पुत्रस्ते भविता देवि महात्मा लोकाश्रितः ॥ २० ॥

महर्षि च्यवन ने जाना कि, इसे पुत्रप्राप्ति की इच्छा है, अतः प्रसन्न हो कर उस पुत्र की कामना रखने वाली रानी से कहा कि, हे देवि ! तुम्हारे गर्भ से बड़ा महात्मा और लोकविख्यात पुत्र उत्पन्न होगा ॥ २० ॥

धार्मिकश्च सुशीलश्च वशकर्तारिष्वदनः ।

कृत्वा प्रदक्षिणं\* मा तु मुनि तमनुमान्य च ॥ २१ ॥

यह धर्मात्मा, सुशील, वश बदलाने वाला और शत्रुओं को संहार करेगा । यह बात मुनि रानी ने बड़ आदर भाव से मुनि की प्रदक्षिणा की ॥ २१ ॥

पद्मपत्रसमानार्क्षं पद्मगर्भममप्रभम् ।

ततः स गृहमागम्य देवीं पुत्रं व्यजायत ॥ २२ ॥

और अपने घर लौट उस रानी ने कमलनयन और कमल गर्भ मट्टश कान्तियुक्त पुत्र जना ॥ २२ ॥

सपत्नया तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया ।

गरेण सह तेनैव जातः स सगरोऽभवत् ॥ २३ ॥

इस पुत्र के उत्पन्न होने के पूर्व मातिया दाह से कालिन्दी को उसकी सौत ने जो त्रिप दिशा था, उसी गर अर्थात् सहर के साथ पुत्र का जन्म होने से उस बालक का नाम सगर हुआ ॥ २३ ॥

स राजा सगरो नाम यः समुद्रमखानयत् ।

इष्ट्वा पर्वणि वेगेन ग्रामयन्तमिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

उसने पर्व के समय यज्ञदीक्षा ली और इस प्रजा को ग्रस्त कर, समुद्र मुदथाया ॥ २४ ॥

असमञ्जस्तु पुत्रोऽभत्सगरस्येति नः श्रुतम् ।

जीवधेव स पित्रा तु निरस्तः पापकर्मकृत् ॥ २५ ॥

● पाठान्तरे—' ह्य मुनि तमनुमान्य च' ।

मुना जाता है कि, इन सगर के असमञ्जस नाम का एक वीर्यवान पुत्र हुआ। वह प्रजा को सताता था। अतः उसके पाप-कर्मों को देख, पिता ने उसे निकाल दिया था ॥ २५ ॥

अशुमानिति पुत्रोऽभूदसमञ्जस्य वीर्यवान् ।

दिलीपोंशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः ॥ २६ ॥

असमञ्जस के पुत्र वीर्यवान अशुमान हुए। अशुमान के पुत्र दिलीप हुए और दिलीप के पुत्र भगीरथ हुए ॥ २६ ॥

भगीरथात्ककुत्स्थस्तु काकुत्स्था येन विश्रुताः ।

ककुत्स्थस्य च पुत्रोऽभूद्रघुर्येन तु राघवाः ॥ २७ ॥

भगीरथ जी के पुत्र ककुत्स्थ, ककुत्स्थ के पुत्र रघु हुए। इन्हीं ककुत्स्थ जो और रघु जी से काकुत्स्थ और राघव नाम की वंश परम्पराएँ चली ॥ २७ ॥

रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः ।

कल्माषपादः सौदास इत्येवं प्रथितो भुवि ॥ २८ ॥

रघु के एक तेजस्वी पुत्र हुआ जो प्रवृद्ध, पुरुषादक, कल्माषपाद और सौदास के नाम से ससार में प्रसिद्ध हुआ ॥ २८ ॥

कल्माषपादपुत्रोऽभूच्छृणुस्त्रिविधं विश्रुतः ।

यस्तु तद्वीर्यमासाद्य सहसेनो व्यनीनशत् ॥ २९ ॥

कल्माषपाद से शङ्खण उत्पन्न हुआ। यह लोकप्रसिद्ध पराक्रम को प्राप्त कर सेनासहित मेरे शाप से नाश को प्राप्त हुआ ॥ २९ ॥

शङ्खणस्य च पुत्रोऽभूच्छूरः श्रीमान् सुदर्शनः ।

सुदर्शनस्याग्निवर्यं अग्निवर्यस्य शीघ्रगः ॥ ३० ॥

राह्वण से शूरवीर श्रीमान् मुदर्शन हुए । मुदर्शन से अग्नि-  
वर्ण और अग्निवर्ण से शीघ्रग हुए ॥ ३० ॥

शीघ्रगस्य मरुः पुत्रो मरोः पुत्रः प्रशुश्रुकः ।

प्रशुश्रुकस्य पुत्रोऽभ्रुदम्बरीषो महाद्युतिः ॥ ३१ ॥

शीघ्रग के पुत्र मरु और मरु के पुत्र प्रशुश्रुक हुए । प्रशुश्रुक  
के पुत्र महाद्युतिमान् अम्बरीष हुए ॥ ३१ ॥

अम्बरीषस्य पुत्रोऽभ्रुन्नहुषः सत्यविक्रमः ।

नहुषस्य च नाभागः पुत्रः परमधार्मिकः ॥ ३२ ॥

अम्बरीष के पुत्र सत्यपराक्रमी नहुष हुए । नहुष के पुत्र  
नाभाग जी बड़े धर्मात्मा थे ॥ ३२ ॥

अजश्च सुव्रतश्चैत्र नाभागस्य सुतापुत्रौ ।

अजस्य चैत्र धर्मात्मा राजा दशरथः सुतः ॥ ३३ ॥

नाभाग के अज और सुव्रत, नाम के दो पुत्र हुए । इनमें से  
अज के पुत्र धर्मात्मा महाराज दशरथ हुए ॥ ३३ ॥

[ यो जित्वा वसुधां कृत्स्नां दिवं शामति स प्रभुः । ]

तस्य ज्येष्ठोऽसि दायादोः राम इत्यभिनिश्चुतः ॥ ३४ ॥

जिन महाराज दशरथ ने सम्पूर्ण पृथिवी जीत कर, स्वर्ग  
लोक का शासन किया—इन्हीं महाराज दशरथ के विश्वविख्यात  
ज्येष्ठ पुत्र तुम हो । (अतएव हे राजन् ! तुम अपने पिता का  
राज्य ग्रहण कर सत्तार का पालन करो) ॥ ३४ ॥



तद्गृहाण स्वकं राज्यमवेक्षस्व जनं नृप ।

इच्छाकृणां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः ।

पूर्वजेनावरः पत्रो ज्येष्ठो राज्येऽभिपिच्यते ॥ ३५ ॥

इति दशोत्तरशततमः सर्गः ।

इच्छाकृ के वंरा में ज्येष्ठ राजकुमार ही राजा होता चला आया है । ज्येष्ठ राजकुमार के विद्यमान रहते छोटे को राजगद्दी नहीं मिल सकती ॥ ३५ ॥

स राघवाणां कुलधर्ममात्मनः

सनातनं नाद्य विहन्तुमर्हामि ।

प्रभूतरत्नामनुशाधि मेदिनीं

प्रभूतराष्ट्रां पितृवन् महायशः ॥ ३६ ॥

अतः तुम रघुवशिष्यो के इस मनातन कुलधर्म को लोप मत करो और अपने पिता की तरह यशस्वी हो कर, इस बहुरत्नों से पूर्ण और अनेक राज्यों से युक्त पृथिवी का शासन करो ॥ ३६ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



## एकादशोत्तरशततमः सर्गः



वसिष्ठस्तु तदा राममुक्त्वा राजपुरोहितः ।

अत्रवीद्वर्मसंयुक्तं पुनरेवापरं वचः ॥ १ ॥

राजपुरोहित वसिष्ठ जी श्रीराम जी से यह कह, फिर धर्म-सम्मत वचन और भी बोले ॥ १ ॥

पुरुषस्येह जातस्य भवन्ति गुरुस्त्रयः ।

आचार्यरचैव काकृतस्थ पिता माता च गघन । २ ॥

हे काकृतस्थ ! हे राम पुरुष जब जन्मता है, तब उसके तीन गुरु होते हैं । पिता, माता और आचार्य ॥ २ ॥

पिता धेनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ ।

प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्त्वम्मात्म गुरुरुच्यते ॥ ३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! पिता माता केवल शरीर को जन्म देते हैं, और आचार्य बुद्धि देता है । अतः वह भी गुरु कहलाता है ॥३॥

सोऽहं ते पितुराचार्यस्तत्र चैव परन्तप ।

मम त्वं वचनं कुर्वन्नातिरतैः सतां गतिम् ॥ ४ ॥

हे परन्तप ! मैं तुम्हारे पिता का और तुम्हारा भी आचार्य हूँ । अतः मैं जो कहता हूँ उसे तुम मानो और सज्जनों के मार्ग का उल्लंघन मत करो ॥ ४ ॥

इमा हि तेऽपरिपदः२ श्रेण्यथ३ द्विजास्तथा४ ।

एषु तात चरन् धर्मं नातिरतैः सतां गतिम् ॥ ५ ॥

हे तात ! देगो, ये सब तुम्हारे सम्बन्धी हैं, ये ब्राह्मणममूह हैं, ये पुरवासी हैं और ये सब क्षत्रिय वंश्य हैं । इनके प्रति निज कर्तव्य का पालन करो और सज्जनों की बाँधी मर्यादा का उल्लंघन मत करो ॥ ५ ॥

१ ते—त्वत्सम्बन्धिनः । ( गो० ) २ परिपदः—ब्राह्मणसूताः । ( गो० ) ३ श्रेण्यथः—वैरवना । ( गो० ) ४ द्विजाः—क्षत्रियाः वैश्याश्च । ( गो० )

वृद्धाया धर्मशीलाया मातुर्नाहिस्यवर्तितुम् ।

अस्यास्तु वचनं कुवन्नातिवर्तेः सर्वां गतिम् ॥ ६ ॥

देखो, यह बेचारा बूटी और धर्मशीला तुम्हारी माता जो कहती है, उसका उल्लंघन करना तुमको उचित नहीं—क्योंकि जो पुरुष माता का कहना मानता है, वह सन्मार्गी कहलाता है ॥ ६ ॥

भरतस्य वचः कुर्वन्वाचमानस्य राघव ।

आत्मानं नातिवर्तेस्त्वं सत्यधर्मपराक्रम ॥ ७ ॥

हे सत्यधर्म पराक्रमी राघव ! देखो, यह भरत तुमसे वाचना कर रहे हैं, सो इनकी बात मानने से भी तुम सद्गति से भ्रष्ट न होने ॥ ७ ॥

एवं मधुरमुक्तस्तु गुरुणा राघवः स्वयम् ।

प्रत्युवाच समासीनं वसिष्ठं पुरुषर्षभः ॥ ८ ॥

जब गुरु वसिष्ठ जी इस प्रकार मधुरवाणी से कह कर आसन पर बैठे हुए थे, तब वसिष्ठ जी ने पुरुषश्रेष्ठ श्रीराम ने उत्तर देते हुए कहा ॥ ८ ॥

यन् मातापितरौ वृत्तं तनये कुरुतः सदा ।

न सुप्रतिकरं तत्तु मात्रा पित्रा च यत्कृतम् ॥ ९ ॥

माता पिता अपने पुत्र की जो सेवा या उपकार करते हैं, उसके बदले में प्रत्युपकार करना सहज नहीं है ॥ ९ ॥

यथाशक्ति प्रदानेन स्नापनोच्छ्वादनेन ।

नित्यं च प्रियवादेन तथा संवर्धनेन च ॥ १० ॥

क्योंकि वे अपने सामर्थ्य से अवित्र पुत्र को उत्तम उत्तम भोजन वस्त्रादि देते हैं, जिशु अवस्था में मुलाते हैं और तेल आदि से मालिश उनटन करते हैं, मधुर से मधुर वचन कह कर लाड़ प्यार करते और पुत्र की वृद्धि व नीप्रित रहने के लिए अनेक उपाय करते रहते हैं ॥ १० ॥

स हि राजा जनयिता पिता दशरथो मम ।

आज्ञातं यन् मया तस्य न तत्मिथ्या मपिप्यति ॥ ११ ॥

सो वै महाराज दशरथ जी मुझे जन्म देने वाले मेरे पिता थे । उन्होंने मुझे जो आज्ञा दी है, वह मिथ्या नहीं होगी ॥ ११ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण भरतः प्रत्यनन्तरम् १ ।

उवाच परमोदारः स्रुतं परमदुर्मनाः ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का यह वचन सुन, परम उदार भरत जी, समीप बैठे हुए सुमत्र से उदात्त हो, बोले ॥ १२ ॥

इह मे स्थण्डिले शीघ्रं कुशानास्तर सारथे ।

आयं प्रत्युपवेक्ष्यामि यावन् मे न प्रमीडति ॥ १३ ॥

हे सारथे ! इस चतूरे पर तुम शीघ्र कुशों को बिछा दो, जब तक मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्रीराम मेरे ऊपर प्रसन्न न होंगे, तब तक मैं इन्हीं कुशों पर घना दे कर बैठा रहूँगा ॥ १३ ॥

अनाहारो निरालोभो घनहीनो यथा द्विजः ।

शेष्ये पुग्स्ताच्छालाया यावन्न प्रतियास्यति ॥ १४ ॥

१ प्रत्यनन्तर—समीपार्थ । (गो०) = प्रपुरवेक्ष्यामि—प्रपुरवेक्षण कर्म करिष्य इत्यर्थ । (गो०) ३ निरालोभो—अरुर्भ्रष्टतानन । (गो०) ४ घनहीन—वृक्षपर्यगुणप्रदानान्निर्धन । (गो०)

जब तक श्रीरामचन्द्र जी नौट कर अयोध्या न चलेंगे, तब तक मैं एक धनहीन ब्राह्मण की तरह भोजन त्याग और मुँह ढक इसी कुटी के द्वार पर पडा रहूँगा ॥ १४ ॥

[ टिप्पणी—“धनहीन” ब्राह्मण से आदिकाव्यकार का अभिप्राय उस ब्राह्मण से है जिसने अपने पास की पूँजी किसान बनिये महाजन के पास अमानतन, व्याज के लाभ में जमा कर दी हो और वह बनिया महाजन बेईमानी कर उसका पूँजी को हड़प जाय । तब उस धनहीन ब्राह्मण के लिए सिवाय धरना देने के और कोई उपाय नहीं रह जाता । ]

स तु राममवेक्षन्तं सुमन्त्रं प्रेक्ष्य दुर्मनाः ।

कुशोत्तरमुपस्थाप्य भूमावेवास्तरत्स्वयम् ॥ १५ ॥

यह सुन सुमन्त्र श्रीराम के मुख की ओर ( उनकी अनुमति के लिए ) देखने लगे । तब भरत जी उदास हो, स्वयं ही कुश विद्धा कर, श्रीराम के सामने धरना दे कर, बैठ गये ॥ १५ ॥

तमुवाच महातेजा रामो राजपिंसत्तमः ।

कि मां भरत दुर्गणं तात प्रत्युपवेक्ष्यसि ॥ १६ ॥

भरत जी को इस प्रकार धरना दिए हुए बैठे देख, राजपिंसों में श्रेष्ठ महातेजस्वी श्रीराम, भरत से बोले । हे भरत भैया ! मैंने क्या अपकार किया है जो तुम मेरे उपर धरना देते हो ? ॥ १६ ॥

ब्राह्मणो ह्येकपाश्वरेण नरान् रोदुमिहार्हति ।

न तु मूर्धाभिपिक्तानां निधिः प्रत्युपवेशने ॥ १७ ॥

यह काम तो ब्राह्मण का है, जो एक करवट पडा हुआ धरना दे कर, अपने दुःखदाता का रोध करता है । किन्तु एक तिलक-धारी क्षत्रिय के लिए धरना देना, उचित नहीं है ॥ १७ ॥

उत्तिष्ठ नरशार्दूल हित्वैतद्दारुणं व्रतम् ।

पुरपर्यामितः विप्रमयोध्यां याहि राघव ॥ १८ ॥

हे नरव्याघ्र ! तुम इस कठोर व्रत को त्याग कर, उठ खड़े हो और शीघ्र ही यहाँ से श्रेष्ठ पुरी अयोध्या का गमन करो ॥ १८ ॥

आसीनस्त्वेव भरतः पौरजानपदं जनम् ।

उवाच सर्वतः प्रेक्ष्य किमार्यं नानुशासथ ॥ १९ ॥

तब भरत उमी प्रकार धरना दिए बैठे रहे और चारों ओर बैठे हुए पुरवासियों और जनपदवासियों की ओर देख कर बोले तुम सब लोग श्रीराम से क्यों कुछ नहीं कहते ? ॥ १९ ॥

ते तमृत्तुर्महात्मानं पौरजानपदा जनाः ।

काकृत्स्थमभिजानीमः सम्यग्प्रदति राघवः ॥ २० ॥

तब वे पुरवासी और जनपदवासी, भरत जी से कहने लगे— हे महाराम ! हम लोग जानते हैं कि, श्रीराम जी का कहना बहुत ठीक है ॥ २० ॥

एषोऽपि हि महाभागः पितुर्वचमि तिष्ठति ।

अतएव न शक्ताः स्मो व्यावर्तयितुमज्जमाः ॥ २१ ॥

वे भरत जी से फिर बोले—श्रीराम से हम लोग आपस नहीं कर सकते क्योंकि महाभाग श्रीराम, पिता की आज्ञा पालन करने का हठ सदृश्य किए हुए हैं । अतः हम लोगों में यह सामर्थ्य नहीं कि, इनसे मुरज्त लौट चलने को कहें ॥ २१ ॥

तेषामाज्ञाय वचनं रामो वचनमब्रवीत् ।

एवं निघोष वचनं मुहुर्दां धर्मचक्षुषाम् ॥ २२ ॥

उन सब लोगों के इन वचनों को सुन कर, श्रीराम बोले—  
हे भरत ! इन धर्मदर्शों अपने मुहुर्दों के वचन सुनो और विचारो  
वे क्या कह रहे हैं ॥ २२ ॥

एतच्चैवोभयं श्रत्वा सम्यक्सम्पश्य राघव ।

उत्तिष्ठ त्वं महाबाहो मां? च स्पृशतथोदकम् ॥ २३ ॥

हे रघुनाथ ! इन दोनों बातों को सुन कर, इन पर भली  
भाँति विचार कर उठ बैठो और जत्रिय के अयोग्य यज्ञा देने के  
कार्य का प्रायश्चित्त करने के लिए आचमन कर, मुझे स्पर्श  
करो ॥ २३ ॥

अथोत्थाय जलं स्पृष्ट्वा भरतो वाक्यमब्रवीत् ।

शृण्वन्तु मे परिपदो मन्त्रिराः श्रेयस्तथा ॥ २४ ॥

यह बात सुन, भरत जी उठ बैठे और आचमन कर यह—  
वचन बोले, हे ब्राह्मणों ! हे पुरुजनों ! हे क्षत्रियों हे वैश्यों ! मेरी  
बात सुनो ॥ २४ ॥

न याचेऽपितरं राज्यं नानुशामामिऽ मातरम् ।

श्रायं परमधर्मज्ञं नानुजानामिऽ राघवम् ॥ २५ ॥

१ धर्मचक्षुषाम्—धर्मदर्शना । ( रा० ) २ मा च स्पृश—इतिहा  
विहितप्रत्युपवेशनप्रायश्चित्तार्थमित्यर्थः । ( रा० ) ३ उदकं स्पृश—  
उदकस्पर्शआचमनार्थः । ( रा० ) ४ न याचे—नचाचित्तवान् ।  
( गो० ) ५ नानुशासामि—नानुशास्ति एवर्त्तवितिनानुशिष्टानस्त्वित्यर्थः ।  
( गो० ) ६ नानुजानामि—वनवासाय नानुशासनान् । ( रा० )

न तो मैंने पिता से राज्य माँगा और न मैंने अपनी माता को कुछ सिखाया पढ़ाया और न मुझे श्रीरामचन्द्र जी के वनवास ही का कुछ हाल मालूम था ॥ २५ ॥

यदि त्वत्पर्यं वस्तव्यं कर्तव्यं च पितुर्वचः ।

अहमेव निरत्स्यामि चतुर्दश समाग्ने ॥ २६ ॥

यदि पिता के आज्ञानुसार वनवास करना आवश्यक ही है, तो मैं श्रीरामचन्द्र जी का प्रतिनिधि बन, १४ वर्ष वन में वास करूँगा । ( और श्रीरामचन्द्र मेरे प्रतिनिधि बन, अयोध्या में जा राज्य करें ) ॥ २६ ॥

धर्मात्मा तस्य तथ्येन भ्रातुराक्षयेन विस्मितः ।

उवाच रामः मग्नेदय पौरजानपदं जनम् ॥ २७ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र का भगत जी के इन मत्स्य वचनों से विस्मित हो, पुरवनों और जापस्थानियों को और देख कर, बोले ॥ २७ ॥

निक्रीतमाहितं क्रीतं यन्पित्रा जीरता मम ।

न तन्नोपपितुं शक्यं मया वा भरतेन वा ॥ २८ ॥

हमारे पिता महाराज दशरथ ने अपने जीते ली, यदि कोई वस्तु बेच जाती, या मोन ली या किसी के यहाँ कोई वस्तु धरोहर धर दो, तो यह या मेरे और भरत के अधिकार से बाहिर है कि, उनके बिचे को मंट दें । अर्थात् बेची हुई चीज फेर ले या धरोहरों हुई चीज लौटा दे या धरोहरों चीज वापिस ले ले ॥ २८ ॥

उपधिर्न मया कार्यो वनरासे जुगुप्सितः ।

युक्तमुक्तं च कैकेय्या पित्रा मे सुकृतं कृतम् ॥ २९ ॥



अत मैं सज्जन जनों से अपनी निन्दा कराने के लिए यह दुष्कर्म न करूँगा कि, अपना प्रतिनिधि बना भरत को बन भेजूँ । कैकेयी ने महाराज से जो कुछ कहा या माँगा सो ठीक ही कहा या माँगा और पिता जी ने जो कुछ किया या दिखा सो भी अच्छा ही किया । २६ ॥

जानामि भरत चान्तं गुरुसत्कारकारिणम् ।

सर्वमेवात्र कल्याणं सत्यसन्धे महात्मनि ॥ ३० ॥

मैं यह जानता हूँ कि, भरत बड़े क्षमाशील और पूज्य तथा बड़ों की मान मर्यादा रखने वाले हैं । इन सत्यसन्ध महात्मा में सब बातें भली ही भली हैं । ( अतएव इनके द्वारा राज्य शासन होने से किसी प्रकार की क्षति नहीं हो सकती ) ॥ ३० ॥

अनेन धर्मशीलेन वनात्प्रत्यागतः पुनः ।

आत्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः ॥ ३१ ॥

( मैं यह वचन देता हूँ कि, ) जब मैं वन से लौट कर आऊँगा, तब मैं अपने इन धर्मशील भाई भरत के साथ, राज्य का शासनभार ग्रहण करूँगा ॥ ३१ ॥

पृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम् ।

अनृतं मोचयानेन पितरं तं महीपतिम् ॥ ३२ ॥

इति एकादशोत्तरशततम सर्गः ॥

है भरत ! महाराज से माता कैकेयी ने जो वर माँगा था, मैंने उस वर के अनुसार कार्य किया और महाराज पिता जी को मिथ्या भाषण से मुक्त किया, तुम भी कैकेयी को दिए हुए

दूसरे वर के अनुमार, राज्य ग्रहण कर, महाराज को मिथ्या-  
भाषण के दोष से मुक्त करो ॥ ३२ ॥

अयोध्याकाण्ट का एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—'०.—

## द्वादशोत्तरशततमः सर्गः

तमप्रतिमतेजोभ्यां भ्रातृभ्यां रोमहर्षणम्

विस्मितः सङ्गमं प्रेक्ष्य समवेता महर्षयः ॥ १ ॥

उम समय वहाँ जो ऋषि आए हुए थे, वे अतुल तेजस्वी  
दोनों भ्राताओं का यह रोमहर्षणकारी समागम देख और यानि-  
लाप सुन विस्मित हुए ॥ १ ॥

१ अन्तर्हितास्तृपिगणाः २ मिद्धाश्च परमर्षयः ३ ।

तौ भ्रातॄौ महात्मानौ काङ्क्षुत्सुधौ प्रशंसन्निरे ॥ २ ॥

पहले जो राजर्षिगण, मिद्धगण और देवर्षिगण अन्तर्धान  
थे, वे इन दोनों भाइयों की प्रशंसा कर फटने लगे ॥ २ ॥

स धन्यो यस्य पुत्रौ द्वौ धर्मज्ञौ धर्मशिक्रमौ ४ ।

श्रुत्वा वयं हि संभाषामुभयोः स्पृहयामहे ५ ॥ ३ ॥

ये दोनों धर्मज्ञ और धर्मशीर राजकुमार जिन महाराज  
दशरथ के पुत्र हैं, ये धन्य हैं । इन दोनों की यानिपीत सुन, हम

१ अन्तर्हिता — पूर्वमेवान्तरधान प्राणाः । (गो०) २ ऋषिगणा —  
राजर्षिगणाः । (गो०) ३ परमर्षयः — देवर्षयः । (गो०) ४ धर्मशिक्रमौ —  
धर्मशीरौ । ५ स्पृहयामहे — पुन पुन.भोत्रुंवाञ्छाम । (गि०)

लोगों की यह इच्छा हो रही है कि, इन दोनों की वार्ता लप हम वार वार सुना करें ॥ ३ ॥

[ टिप्पणी— श्रीराम तथा भरत ने अपने अपने पक्ष समर्थन में जो युक्तियाँ दीं—वे दोनों की युक्ति युक्त थीं । तिस पर भी भरत को अपना पक्ष त्यागने को बाध्य होना पड़ा इसका कारण और बतलाया गया है ।

ततस्तृपिगणाः क्षिप्रं दशग्रीनवधैपिणः ।

भरतं राजशार्दूलमित्यूचुः सङ्गता<sup>१</sup> वचः ॥ ४ ॥

तदनन्तर वे ऋषिगण, जो रावण का बंध शीघ्र करवाना चाहते थे, पुरुषसिंह भरत के पाम गप और एक स्वर से यह बोले ॥ ४ ॥

कुले जात महाप्राज्ञ महावत्त महायशः ।

ग्राह्यं रामस्य वाक्यं ते रपितरं यद्यवेक्षसे ॥ ५ ॥

हे अटल प्रतिज्ञा वाले ! हे शुभचरित्रयुक्त महायशस्वी भरत तुमने कुलीनकुल में जन्म लिप्रा है । यदि तुम अपने पिता<sup>२</sup>को सुखी करना चाहते हो, तो तुम्हें वही करना उचित है, जो श्रीरामचन्द्र जी तुमसे कहते हैं ॥ ५ ॥

सदानृणामिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः ।

अनृणत्वाच्च कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः ॥ ६ ॥

हम सब यही चाहते हैं कि श्रीराम अपने पिता के ऋण से उन्मृण हों । ( क्योंकि ) कैकेयी के ऋण से उन्मृण होने से महाराज दशरथ स्वर्गवासी हुए हैं ॥ ६ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं गन्धर्वाः समहर्षयः ।

राजर्षयरचैव तदा सर्वे स्वां स्वां गतिं गताः ॥ ७ ॥

१ संगता—एककरट्यंप्राप्ताः । ( गो० ) २ पितरं यद्यवेक्षसे—पितुः सुखं यदीच्छसि । ( रा० )

यह कह कर गन्धर्व, राजर्षि, तथा देशर्षि मन् अपने अपने स्थानों को चले गए ॥ ७ ॥

हादिस्तेन वाक्येन शुभेन शुभदर्शनः ।

रामः संहृष्टमदनस्तानृषीन्भ्यपूजयन् ॥ ८ ॥

शुभदर्शन श्रीरामचन्द्र जी ने उन ऋषियों के इस कथन से हर्षित हो, उनसे कहा कि, आपन भली भाँति मेरा धर्म बचाया ॥ ८ ॥

व्रस्तगावस्तु भरतः स वाचा सज्जमानया ।

कृताञ्जलिरिदं वाम्यं राषवं पुनरब्रवीत् ॥ ९ ॥

वस समय भरत जी डर कर गद्गदवाणी से हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी से फिर बोले ॥ ९ ॥

राजधर्ममनुप्रेक्ष्य कुलधर्मानुमन्ततिम् ।

कर्तुमर्हसि काकुन्स्थ ममर मातुरच याजनाम् ॥ १० ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! राज्यपरिपालन धर्म का ज्येष्ठ राजकुमार ही को अधिकार है—इस कुलप्रथा पर भली भाँति विचार कर, मेरी माता कौमल्या की प्रार्थना पूरी करनी चाहिए ॥ १० ॥

रक्षितुं सुमद्राज्यमहमेरुस्तु नोत्सहे ।

पौरजानपदांश्चापि रक्तान् रक्षयितुं तथा ॥ ११ ॥

इस बड़े राज्य को अकेले रक्षा करने का और आपमें अनुराग रखने वाले इन पुरवासियों तथा जनपदवासियोंका मनोरक्षण करने का मुझे साहस नहीं होता ॥ ११ ॥

१ अम्यपूजयन्—सन्पदमाँधर्मनोरक्षितवन्तः । (४०) २ मननात्—  
—कौमल्याया । (४०) ३ रक्तान्—त्वदिदंरक्तानुपान्विशिष्यान् । (४०)

ज्ञातयश्च हि योधाश्च मित्राणि सुहृदश्च नः ।

त्वामेव प्रतिकाङ्क्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः ॥ १२ ॥

जाति विरादरी वाले, सैनिक इष्टमित्र—सब के सप, जल बरसाने वाले मेघ के लिए उत्सुक किसान की तरह, एकमात्र तुम्हारे ही राज्यशासन की प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ १२ ॥

इदं राज्यं महाप्राज्ञ स्थापय प्रतिपद्य हि ।

शक्तिमानसि काकुत्स्थ लोकस्य परिपालने ॥ १३ ॥

अतएव हे युद्धिमान ! तुम इस राज्य को ग्रहण करो और जिसकी चाहो उसे राजसिंहासन पर बिठा दो क्योंकि राज्य-शासन करने को, हे काकुत्स्थ ! तुम्हीं समर्थ हो ॥ १३ ॥

इत्युक्त्वा न्यपतद्भ्रातुः पादयोर्भरतस्तदा ।

भृशं सम्प्रार्थयामास राममेव प्रियंवदः ॥ १४ ॥

यह कह कर भरत जी अपने भाई श्रीराम के चरणों में गिर पड़े और हे राम ! हे राम ! कहते हुए चार चार प्रार्थना करने लगे ॥ १४ ॥

तमङ्गे भ्रातरं कृत्वा रामो वचनमब्रवीत् ।

श्याम नलिनपत्राक्षं मत्तहंसस्वरं स्वयम् ॥ १५ ॥

भरत को चरणों में पड़ा देख, श्रीराम ने नतवाले हम की तरह अनोहर कण्ठ वाले, कमलदल समान नेत्रोंवाले और श्यामवर्ण भरत को उठा कर, अपनी गोद में बिठाया और उनसे बोले ॥ १५ ॥

आगता त्पामियं बुद्धिः स्वजा- धनयित्री च या ।

भृशमुत्सहसे तात रक्षितं पृथिवीमपि ॥ १६ ॥

मेरे बन्वास के विरुद्ध और राज्यशासन स्वीकार कर किसी को राजसिंहासन पर गिठा देने की बात जो तुमने कही, वह स्वाभाविक और गुरु द्वारा शिक्षा प्राप्त होने का फल स्वरूप है । अतः ( इससे स्पष्ट है कि ) तुम भलो भाति राज्यशासन कर सकते हो । ( अर्थात् तुम्हारी पत्नी सुन्दर बुद्धि का होना ही तुममें सुशासन की योग्यता के होने का प्रमाण है ) ॥ १६ ॥

अमात्यैश्च सुदृढिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः ।

सर्वकार्याणि सम्मन्थ्य सुमहान्त्यपि कारय ॥ १७ ॥

अब तुम प्रधान सचिव, मुद्द, बुद्धिमानों और उपमंत्रियों के साथ समस्त बड़े बड़े कार्यों के सम्बन्ध में परामर्श ले राज्य की सुव्यवस्था करो ॥ १७ ॥

लक्ष्मीरचन्द्रादपेयाद्वा हिमयान् वा हिमं त्यजेत् ।

अतीयात्सागरो वेलान प्रतिज्ञामहं पितुः ॥ १८ ॥

चन्द्रमा की शोभा चन्द्रमा को भले ही छोड़ दे, हिमालय भले ही हिम को छोड़ दे । भले ही समुद्र अपनी मीमा को नौप जाय, किन्तु मैं पिता से की हुई अपनी प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ सकता ॥ १८ ॥

कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम् ।

न तन् मनमि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मावृणत् ॥ १९ ॥

१ इयबुद्धि — मदनवाक्यविरोधिनी न्वाप्येनादीकृत्यप्यपानवियदा  
 रा० ) २ स्वबा—राजाविही । ( रा० ) ३ अमात्ये. प्रधानसचिवे-  
 ( गो० ) ४ मन्त्रिभिः — उपमन्त्रिभिः । ( गो० )

हे तात ! तुम्हारी माना ने भले ही तुम्हारे स्नेह वश अथवा तुमको राज्य दिलाने के लोभ के वशवर्ती हो, यह काम किया हो, परन्तु तुम अपनी माता की इच्छा बातों को अपने मन में न रखना और सदा उसके साथ माता के प्रति करने योग्य व्यवहार करना ॥ १६ ॥

एवं ब्रुवाणं भरतः कौसल्यासुतमब्रवीत् ।

तेजसाऽऽदित्यसङ्काशं प्रतिपच्चन्द्रदर्शनम् ॥ २० ॥

जब श्रीराम ने ऐसा कहा तब तेज मे सूर्य के समान अथवा प्रतिपदा के चन्द्रमा की तरह प्रियदर्शन, कौमल्यानन्दन से भरत जी कहने लगे ॥ २० ॥

अधिरोहार्यं पादाभ्यां पादुके हेमभूपिते ।

एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः ॥ २१ ॥

हे आर्य ! इन सुवर्णभूषित पादुकाओं पर आप अपने चरण रखिए, क्योंकि ये ही दोनों खड़ाऊँ सब के योगक्षेम का निर्वाह करेंगी ॥ २१ ॥

टिप्पणी—[ अग्रान्त-वस्तु की प्राप्ति कराना योग और प्राप्त वस्तु की रक्षा 'क्षेम' । ]

सोऽधिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके ह्यवरुह्य च ।

प्रायच्छत्सुमहातेजा भरताय महात्मने ॥ २२ ॥

भरत के ये वचन सुन, श्रीराम ने वे खड़ाऊँ अपने पैरों में पहिन लीं और फिरउनको उतार कर महात्मा भरत को दे दी ॥२२॥

[टिप्पणी—इससे जान पड़ता है कि खड़ाऊँ के और भी जोड़े भरत जी अयोध्या से अपने साथ लाए थे । इसीको एक बार श्रीराम के चरणों में पहना था ।

स पादुके सम्प्रणम्य रामं वचनमब्रवीत् ।

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥ २३ ॥

फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन ।

तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन्ध नगराद्बहिः ॥ २४ ॥

तब भरत जी ने भक्ति सहित उन दोनों गडाइथों को प्रणाम कर, श्रीरामचन्द्र जी से कहा कि, आज से ले कर चौदह वर्षों तक जटा चीर धारण कर और कदमूल पन्न खाकर, तुम्हारे आगमन की वाट जोड़ता हुआ, रघुनन्दन । मैं नगर के बाहिर रहूँगा ॥ २३ ॥ २४ ॥

तत्र पादुकयोर्न्यस्यञ्च राज्यतन्त्रं परन्तप ।

चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ॥ २५ ॥

हे परन्तप । सब राजकार्य तुम्हारी गडाइथों को अर्पण कर, ( मैं राज्य का प्रबन्ध करता रहूँगा परन्तु ) त्रिंशत् दिन चौदहवाँ वर्ष पूरा होगा उस दिन भी यदि तुमको मैंने अयोध्या में न देखा, तो मैं अग्नि में गिर कर, भस्म हो जाऊँगा ॥ २५ ॥

न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि द्रुताशनम् ।

तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम् ॥ २६ ॥

भरत की इस बात को सुन श्रीराम ने "तद्यागु" ( जैसा ही होगा ) कह कर ( चौदहवाँ वर्ष पूरा होने ही लीट पर आ जाने की ) प्रतिज्ञा की और भरत को आदर पूर्वक हृदय में लगाया ॥ २६ ॥

शत्रुघ्नं च परिष्वज्य भरतं चेदमव्रवीत् ।

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु नान् प्रति ॥ २७ ॥

फिर भरत और शत्रुघ्न को हृदय में लगा कर श्रीराम जी ने भरत जी से यह भी कहा कि दैगो माता कैकेयीं की रक्षा करना । स्वभरदार उम पर क्रोध मत करना ॥ २७ ॥



मया च भीतया चैव शप्तोऽसि रघुमत्तम ।

इत्युक्त्वाऽश्रुपरीताक्षो भ्रातरं विससर्ज ह २८ ॥

इमके लिए तुम्हें मेरी और सीता की शपथ है । यह कह  
नेत्रों में आँसू भर श्रीराम ने दोनों भाइयों को विदा किया ॥ २८ ॥

स पादुके ते भरतः प्रतापवान्

स्वलकृते सम्परिपृज्य धर्मवित् ।

प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं

चकार चैवोत्तमनागमूर्धनि ॥ २९ ॥

तब धर्मविमा भरत जी ने उन अति उज्ज्वल सड़ाउओं का  
भली भाँति पूजन किया । तदनन्तर श्रीराम जी की परिक्लमा कर  
उन सड़ाउओं को ( उस ) उत्तम हाथी के मस्तक पर रखा,  
( जिस पर महाराज दशरथ मवार हुआ करते थे ॥ २९ ॥

अथानुपूर्व्यात्प्रतिनन्द्य तं जनं

गुरुंश्च मन्त्रिप्रकृतीस्तथाऽनुजौ ।

व्यमर्जयद्राघववंशवर्धनः

स्थिरः स्वधर्मे हिमवानिवाचलः ॥ ३० ॥

तदनन्तर हिनालय की तरह अपने धर्मपालन में अटल,  
रघुवंश के बढ़ाने वाले श्रीराम ने यथाक्रम गुरु, मंत्री, प्रजा और  
दोनों छोटे भाइयों का यथायोग्य सत्कार कर, उन सब को  
विदा किया ॥ ३० ॥

तं मातरो द्रोणपृथ्वीवकण्ठ्यौ

दुःखेन नामन्त्रयितुं हि शेरुः ।

स त्वेव मातृरुमिवाद्य मर्वा

रुदन्कुटीं स्वां प्रविवेश रामः ॥ ३१ ॥

इति द्वादशोत्तरशततमः सर्गः ॥

गद्गदकरुण और शोक से विकल होने के कारण माताओं से किसी भी माता के मुख से श्रीराम के प्रति एक बात भी न निकल सकी। श्रीराम भी सब माताओं को प्रणाम कर, रोते बिलपते कुटी के भीतर चले गये ॥ ३१ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक मौ बारहवों सर्ग समाप्त हुआ

## त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः



ततः शिरसि कृन्वा तु पादुके भरतस्तदा ।

आरुरोह रथं दृष्टः शत्रुमेव समन्वितः ॥ १ ॥

तदनन्तर भरत जी ने हाथी के मस्तक से गद्गद शब्द शब्द अपने मस्तक पर रखी और क्षिप्त होने हुए और शत्रुओं को अपने साथ ले, रथ पर मवाग ॥ १ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिश्च दृढव्रतः ।

अग्रतः प्रपयुः सर्वे मन्त्रिणो मन्तृश्रिताः ॥ २ ॥

वसिष्ठ, वामदेव, दृढव्रत तथा विचारवतुर अन्य सब मंत्री आगे आगे चले ॥ २ ॥

मन्दाकिनीं नदीं \* पुण्यां प्राङ्मुखास्ते ययुस्तदा ।  
प्रदक्षिणं च कुर्वाणाश्चित्रकूटं महागिरिम् ॥ ३ ॥

सब लोग महागिरि चित्रकूट की परिक्रमा कर रमणीक मन्दाकिनी के सामने पूर्व की ओर जाने लगे ॥ ६ ॥

पश्यन् धातुसहस्राणि रम्याणि विविधानि च ।

प्रययौ तस्य पार्श्वेन ससैन्यो भरतस्तदा ॥ ४ ॥

भरत जी अपनी सेना के साथ नाना प्रकार की मनोहर धातुओं को देखते देखते चित्रकूट पर्वत के उत्तर की ओर चले जाते थे ॥ ४ ॥

अदूराच्चित्रकूटस्य ददर्श भरतस्तदा ।

आश्रमं यत्र स मुनिर्भरद्वाजः कृतालयः ॥ ५ ॥

भरत जी ने चित्रकूट से थोड़ी ही दूर पर एक आश्रम देखा जिसमें ऋषियों सहित भरद्वाज मुनि रहते थे ॥ ५ ॥

स तमाश्रममागम्य भरद्वाजस्य बुद्धिमान् ।

अवतीर्य रथात्पादौ ववन्दे कुलनन्दनः ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् भरद्वाज जी के आश्रम के समीप पहुँचकर, भरत जी रथ से उतर पड़े और मुनि जी को प्रणाम किया ॥ ६ ॥

ततो हृष्टो भरद्वाजो भरतं वाक्यमब्रवीत् ।

अपि कृत्यं कृतं तात रामेण च समागतम् ॥ ७ ॥

तब भरद्वाज जी ने प्रसन्न हो, भरत जी से कहा—हे तात ! क्या तुम्हारी श्रीरामचन्द्र से भेंट हुई ? क्या तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हुआ ? ॥ ७ ॥

एवमुक्तः स तु ततो भरद्वाजेन धीमता ।

प्रत्युवाच भरद्वाजं भरतो भ्रातृवत्सलः ॥ ८ ॥

जनशुद्धिमान् भरद्वाज जी ने इस प्रकार पुँछा तब भ्रातृवत्सल भरत जी ने भरद्वाज जी को उत्तर देन हुए उनसे कहा ॥ ८ ॥

स याच्यमानो गुरुणा मया च दृढधिक्रमः ।

राववः पामप्रीतो वसिष्ठं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

हे भगवन् ! मैंने और गुरु वसिष्ठ जी ने जब श्रीराम से लौटने के लिए प्रार्थना की, तब श्रीराम ने परम प्रसन्न हो वसिष्ठ जी से कहा ॥ ९ ॥

पितुः प्रतिज्ञां तामेव पालयिष्यामि तत्रतः ।

चतुर्दश हि वर्षाणि या प्रतिज्ञा पितुर्मम ॥ १० ॥

पिता जी ने मुझे चौदह वर्ष वन में रहने की जो प्रतिज्ञा की है, मैं उनकी इस प्रतिज्ञा का यथायत् पालन करूँगा ॥ १० ॥

एवमुक्तो महाप्राज्ञो वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।

वाक्यज्ञो वाक्यकुशलं राघवं वचनं महत् ॥ ११ ॥

इस प्रकार पहे जाने पर, यवन घोलने वालों में चतुर और बड़े विद्वान वसिष्ठ जी ने उन वाक्यविशारद श्रीराम से यह महत्व की बात कही ॥ ११ ॥

एते प्रयच्छ संहृष्टः पादुके ह्यमभूपिते ।

अयोध्यायां महाप्राज्ञ योगज्ञेनकरे तव ॥ १२ ॥

हे महाप्राज्ञ ! तब इस समय तुम हर्षित हो, प्रतिनिधि के समान अपनी इन सुवर्णभूषित सड़ाऊँओं को दे दो और अयोध्या के योगक्षेम में तत्पर बने रहो ॥ १२ ॥

एवमुक्तो वसिष्ठेन राघवः प्राङ्मुखः स्थितः ।

पादुके अधिरुह्यैते मम राज्याय वै ददौ ॥ १३ ॥

हे भरद्वाज जी वसिष्ठ जी के ये वचन सुन, श्रीराम जी ने पूर्वकी ओर मुख कर, इन सड़ाऊँओं को पहिना और राज्य के पालन की सामर्थ्य रखने वाली ये सड़ाऊँं मुझे दे दीं ॥ १३ ॥

निवृत्तोऽहमनुज्ञातो रामेण सुमहात्मना ।

अयोध्यामेव गच्छामि गृहीत्वा पादुके शुभे ॥ १४ ॥

उन महात्मा श्रीराम की आज्ञा से, उनको लौटा लाने के उद्देश्य से निवृत्त हो कर, मैं अब इन शुभ सड़ाऊँओं को ले, अयोध्या को लौटा जा रहा हूँ ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः ।

भरद्वाजः शुभतरं मुनिर्वाक्यमुवाच तम् ॥ १५ ॥

महात्मा भरत जी के ये शुभ वचन सुन, महर्षि भरद्वाज जी उनसे ये शुभतर वचन बोले ॥ १५ ॥

नैतच्चित्रं नरव्याघ्र शीलवृत्तवतां वर ।

यदायं त्वयि तिष्ठेत्तु निम्ने? ऽसृष्टमिवोदकम् ॥ १६ ॥

हे सुशील और चरित्रवान् पुरुषसिंह ! वह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि, तुममें ऐसी सुजनता है। क्योंकि पानी वह घर तो तालाब या गढ़े ही में बसा होता है ॥ १६ ॥

अमृतः स महाबाहुः पिता दशरथस्तव ।

यस्य त्वमीदृशः पुत्रो धर्मज्ञो धर्मवत्सलः ॥ १७ ॥

जिनके तुम जैसे धर्मात्मा और धर्मवत्सल पुत्र हैं वे महाबाहु  
महाराज दशरथ अजर अमर हैं ॥ १७ ॥

तमृषिं तु महात्मानमुक्तवाक्यं कृताञ्जलिः ।

ध्यामन्त्रयितुमारेमे चरणानुपगृह्य च ॥ १८ ॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भरद्वाजं पुनः पुनः ।

भरतस्तु ययौ श्रीमानयोध्यां सह मन्त्रिभिः ॥ १९ ॥

इस प्रकार मुनि वा बचन सुन, भरत हाथ जोड़ और उनके  
चरण छु और धार धार परिक्रमा कर, उनसे विदा हो, मंत्रियों  
सहित अयोध्या को प्रस्थानित हुए ॥ १८ ॥ १९ ॥

यानैश्च मकटेश्चैव ह्येनमीश्व सा चमूः ।

पुनर्निवृत्ता पिस्वीणा भरतस्यानुयायिनी ॥ २० ॥

भरत जो फ साय जा सेना थी, वह भी उनके पीछे हो ली ।  
इस सेना के लोगों में से कोई रथों, कोई दण्डों कोई हाथियों  
और कोई घोड़ों पर सवार थे ॥ २० ॥

ततस्ते यमुनां दिव्यां नदीं तीर्थोर्मिमालिनीम् ।

ददृशुस्तां पुनः सर्वे गङ्गां शुभजलां नदीम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर वे सब लोग, लहरों से लहराती यमुना को पार कर  
फिर पवित्रतोया गङ्गा के तट पर पहुँचे ॥ २१ ॥

तां पुण्यजलमभूर्णां सन्तीर्य सहबन्धवः ।

शृङ्गवेरपुरं रम्यं प्रविशेरा ममैनिकः ॥ २२ ॥

भरत जी सेना तथा भाई बंदों के साथ पवित्र बल से पूर्ण  
गङ्गा को पार कर शृङ्गवेरपुर में पहुँचे ॥ २२ ॥

शृङ्गवेरपुराद्भूयस्त्वयोध्यां सन्ददर्श ह ।

अयोध्यां च ततो दृष्ट्वा पित्राभ्राता त्रिवर्जिताम् ॥ २३ ॥

शृङ्गवेरपुर से, चल कर भरत उस अयोध्यापुरी में पहुँचे,  
तो कि, उनका पिता महाराज दशरथ से और भाई श्रीराम से  
हीन थी ॥ २३ ॥

भरतो दुःखसन्तप्तः सारथिं चेदमब्रवीत् ।

सारथे पश्य विध्वस्ता साऽयोध्या न प्रकाशते ।

निराकाराः निरानन्दा दीना प्रतिहतस्वरा ॥ २४ ॥

इति त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः ॥

ऐसी उदास अयोध्यापुरी को देख भरत जी दुःख से सन्तप्त  
हो सारथी से बोले कि, हे सारथे ! देखो, यह अयोध्या कैसी  
ध्वस्त हो रही है । यह अब पहले जैसी शोभायुक्त अयोध्या नहीं  
रही । क्योंकि इसमें न तो कहीं सजावट है और न कहीं  
आनन्दोत्सव ही देख पड़ते हैं । यह बड़ी दीन दिखलाई पड़ती  
है । देखो, नगर भर में कैसा सन्नाटा छाया हुआ है ॥ २४ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



## चतुर्दशोत्तरशततमः सर्गः



स्निग्धगम्भीरयोपेण स्यन्दनेनोपयान् प्रभुः ।

अयोध्यां भरतः त्विप्र प्रविशेश महायशाः ॥ १ ॥

इस प्रकार महायशस्वी भरत जी ने, चलते समय गम्भीर ध्वनि करने वाले रथ में बैठ, शीघ्र ही अयोध्या में प्रवेश किया ॥ १ ॥

विदालोलूकचरितामालीननखारणाम् ।

विमिराभ्याहतां कार्त्तमप्रकाशां निशामिन् ॥ २ ॥

नगरी में जा कर, भरत जो न देखा कि, अयोध्या में जिधर देवों वर ही मिलिजयाँ और उलूक दिग्गलाई पड़ते हैं। घरों के द्वार बंद हैं। चारों ओर वैसे ही अंधकार छा रहा है, जैसे कुण्डलपर्व की रात में अंधकार ही अंधकार देख पड़ता है ॥ २ ॥

राहुशत्रोः प्रियां पत्नीं श्रिया प्रज्वलितप्रभाम् ।

ग्रहेणाभ्युत्थितेनैकां रोहिणीमिन् पीडिताम् ॥ ३ ॥

अथवा जिस प्रकार चन्द्रमा के राहु द्वारा ग्रसे जाने पर रोहिणी की शोभा नष्ट हो देख पड़ती है, उसी प्रकार अयोध्या की दशा हो रही है ॥ ३ ॥

अन्पोष्यत्सुखसलिलां घर्मोत्तमविहङ्गमाम् ।

लीनमीनभ्रूप्रार्हां कृशां गिरिनदीमिन् ॥ ४ ॥

अथवा गर्मों के मौसम में जिस समय पहाड़ी नदियों का बज्र सूर्य का गर्मी से गरम और मीना हो जाता है और पर्वों के जलपसी गर्मों के कारण पर्वों से दूर कर, अन्यत्र चले जाते हैं

● पाठान्तरे—“अनिनेत्तुम्ब” ।



और मछलियाँ मर जाती हैं, तथा अन्य जन्तु भी वहाँ नहीं रहते, एव उम नदी की जो शोच्य दशा होती है, वही शोच्य दशा अयोध्या की है ॥ ४ ॥

विधूमामिन् हेमामामघ्नगग्नेः समुत्थिताम् ।

हविरभ्युक्षितां पथाच्छिखां प्रविलयं गताम् ॥ ५ ॥

अथवा, जिस प्रकार घी की आहुति से अग्नि की शिखा पहले तो सोने के समान उज्ज्वल ज्योति का प्रकाश करती है, पीछे उसमें कीसी गिली वस्तु ने गीरने से वह सहमा मन्द पड़ जाती है और अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार श्रीराम के विरह में अयोध्यादेव्य पड़ती है ॥ ५ ॥

प्रिध्वस्तकवचां रुग्णगजवाजिरथध्वजाम् ।

हतप्रवीरामापन्नां चमूमिन् महाहवे ॥ ६ ॥

अथवा अयोध्या ऐसी जान पड़ती है, जैसी वह सेना जिसके (वीरों के) कवच, हाथी, घोड़े, रथ और ध्वजा किसी महायुद्ध में क्षिन्न भिन्न हो जाने तथा वीर योद्धाओं के मारे जाने के कारण, विपन्न दशा को प्राप्त हुई हो ॥ ६ ॥

ऋमफेनां सस्वनां भूत्वा सागरस्य समुत्थिताम् ।

प्रशान्तमारुतोद्धृतां जलोर्मिमिव निःस्वनाम् ॥ ७ ॥

अथवा, प्रचल वायु के वेग से समुद्र की लहरें जिस प्रकार भागों सहित गरजती हुई उठती हैं, और पीछे मंद पवन के चलने से शान्तरहित हो जाती हैं, उसी प्रकार अयोध्यापुरी हो रह है ॥ ७ ॥

त्यक्तां यज्ञायुधैः सर्वैरभिरूपैश्च याजकैः ।

सुत्याकाले विनिर्मुच्ये वेदिं गतरवामिव ॥ ८ ॥

अथवा जिस प्रकार यज्ञ की ममाप्ति हो चुरने पर, योभ्य याचकों से रहित हो, यज्ञशाला सुनमान हो जाती है उसी प्रकार अयोध्या सुनमान देव्य पड़ती है ॥ ८ ॥

गोष्ठमध्ये स्थितामार्तामचरन्तीं तृणं नयम् ।

गोनृपेण परित्यक्तां गवां पत्नीमिवोत्सुकाम् ॥ ९ ॥

अथवा जिस प्रकार भौंड के त्रियोग में तरुण गाय उत्कण्ठित हो ताड़ी हरी घास न खा कर, उदाम हो, गोशाला में खड़ी रहती है—उसी प्रकार अयोध्या भी उदाम देव्य पड़ती है ॥ ९ ॥

प्रमाकराद्यैः सुस्निग्धैः प्रज्वलद्भिरिवोत्तमैः ।

त्रियुक्तां मणिभिर्जात्यैर्नरां मुक्तावलीमिव ॥ १० ॥

अथवा जैसे चमकीली और सुन्दर मणियों से हीन, मोतियों का नया हार शोभा रहित हो जाता है, वैसे ही अयोध्या शोभाहीन हो रही है ॥ १० ॥

सहसा चलितां स्थानान् महीं पुण्यत्रयाद्गताम् ।

संहतघुतविस्तारां तारामिव दिग्दर्शयुताम् ॥ ११ ॥

अथवा जिस प्रकार पुण्यक्षय होने पर, अग्ने म्यान से बलायमान हो आसारा से दिन में गिरने से, तारा प्रभादीन हो जाता है, उसी प्रकार अयोध्या भी प्रभादीन हो रही है ॥ ११ ॥

पुष्पनद्धां वसन्तान्ते मत्तभ्रमरनादिताम् ।

द्वुवदाग्निविष्णुष्टां क्लान्तां वननतामिव ॥ १२ ॥

अथवा, यत्नन्तश्चतु के अन्त में जैसे मतवाले भौरों से सुझारित रिले हुए फूनों वाली बनलता, वन की आग से झुनस जाती है, वैसे ही अयोध्या भी झुनसो हुई सी देख पड़ती है ॥ १२ ॥

१संमूढनिगमां स्तब्धां संचिप्तविपणापणाम् ।

प्रच्छन्नशशिनक्षत्रां घामिवाम्बुधरैर्वृताम् ॥ १३ ॥

अयोध्या के राजमार्ग सुनमान पड़े हैं । वाजारसत्र ध्रुव हैं न वो कोई दुकान ही खुली है और न वही कोई चीज ही विक्र रही है । जैसे वर्षाकाल म मेघों से आकाश व्याप्त होने के कारण, चन्द्रमा और नक्षत्रों से हीन रात डरावनी जान पड़ती है, वैसे ही अयोध्या भी डरावनी देख पड़ती है ॥ १३ ॥

क्षीणपानोत्तमभिन्नैः शरावैरभिसंवृताम् ।

हतशौण्डामिवाकाशेऽपानभूमिसंस्कृताम् ॥ १४ ॥

अथवा अयोध्यापुरी ऐसी जान पड़ती है, मानों मद पीने वालों के मारे जाने से मद से रहित, टूटे फूटे पात्रों से भरी, बिना भण्डी बुहारी, मैदान में, मद्यपानशाला हो ॥ १४ ॥

३वृक्षभूमितलां निर्म्ना वृक्षपात्रैः समावृताम् ।

उपयुक्तोदकां च भग्नां प्रपां निपतितामिव ॥ १५ ॥

अथवा अयोध्यापुरी उस पीशाला की तरह देख पड़ती है जिसकी भूमि विदीर्ण होने के कारण ध्वस्त हो गई हो और

१ संमूढनिगमा—घनसञ्चाररहितमार्गाम् । ( गो० ) २ आकाशे—अनावृतदेशे । ( गो० ) ३ वृक्षभूमितला—विदीर्णभूमितला । ( गो० ) ४ उपयुक्तोदका—उमात्तसलिला । ( शि० ) ५ निपतिता—विवासाय विपतितवना । ( शि० )

जिममे दूटे फूटे बरतन भरे पडे हों और जहाँ पानी चुक जाने के कारण प्यासे लोग पडे हों ॥ १५ ॥

विपुलां पिततां चैव युक्तपाशां तरस्विनाम् १ ।

भूमौ वासैर्विनिष्कृत्वा पतितां ज्यागिनायुधात् ॥१६॥

अथवा अयोध्या वैभी ही शोभाहीन देल पड़ती है, जैसी कि किसी बड़े धनुष पर चढ़ी हुई प्रत्यक्षा ( टोरी ) बभ्रवान बीरों के बाणों से कट कर धनुष से गिर पृथिवी पर, वही शोभाहीन होती है ॥ १६ ॥

सहसा युद्धशीघ्रेण ३ हयारोहेण वाहिताम् ।

४ निक्षिप्तमाण्डामृत्मृष्टां ५ किशोरीमिव दुर्बलाम् ॥१७॥

अथवा जैसे युद्धचतुर मनुष्य से दृष्टान् मयारी की गई दुर्बल बोधी शत्रुसैन्य से मार कर गिरा दी गई हो, वैभी ही शोभाहीन अयोध्या देख पड़ती है ॥ १७ ॥

भरतस्तु रथस्थः सञ्ज्रीमान् दशरथात्मजः ।

वाहयन्तं रथश्रेष्ठं मारयिं वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥

रथ पर बैठे हुए श्रीमान् दशरथनन्दन भरत जी दन सुमंत्र से बोले, जो उम उत्तम रथ को हार रहे थे ॥ १८ ॥

किं नु सन्वद्य गम्भीरो मूर्धितो न निशम्यते ।

यथापुरमयोध्यायां गीतनादिप्रनिःश्वनः ॥ १९ ॥

१ तरस्विना—वीरणा । ( गो० ) २ आयुधार्—धनुषः ।

( गो० ) ३ युद्धशीघ्रेण—आह्वयनपेन । ( गो० ) ४ निक्षिप्तमाण्डाम्—

अपरोपितप्रत्यक्षां । ( गो० ) ५ उग्रा—बहनानहीं । ( गो० )

६ किशोरी—शल्पवटवा । ( गो० ) ७ किनुगनु—अरुण्य वातनिःश्वनः

( गो० )

हाय ! कैसे दुःख की बात है कि, इस पुरी में जैसे पहले गाना बजाना हुआ करता था, वैसे आज कहीं नहीं सुनाई पड़ता ॥ १९ ॥

श्वारुणीमदगन्धश्च माल्यगन्धश्च मूर्च्छितः ।

धूपितागुरुगन्धश्च न प्रजाति समन्ततः ॥ २० ॥

फूल मालाओं की मस्त करने वाली एव चन्दन अगर की धूप की सुगन्धि, पहले की तरह चारों ओर फैली हुई नहीं जान पड़ती । अथवा जैसा पहले पुष्प चन्दन और अगर का गन्ध चारों ओर फैला रहता था, वैसे आज नहीं फैल रहा ॥ २० ॥

यानप्रवरघोषश्च स्निग्धश्च हयनिःस्वनः ।

प्रमत्तगजनादश्च महान्श्च रथनिस्वनः ॥ २१ ॥

नेदानीं श्रूयते पुर्यामस्यां राम विज्ञासिते ।

चन्दनागरुगन्धांश्च महार्हांश्च नवस्रजः ॥ २२ ॥

गते हि रामे तरुणाः सन्तप्ता नोपभुञ्जते ।

बहिर्यात्रां न गच्छन्ति चित्रमाल्यधरा नराः ॥ २३ ॥

हे मुमत्र ! जैसा कि, पूर्वकाल में रथ आदि सजारियों के चलने का शब्द, घोड़ों के हिनहिनाने और हाथियों के चिंघाडने का शब्द सुन पड़ता था, वैसे आज इस पुरी में श्रीराम के धन में चले जाने के कारण, नहीं सुन पड़ता । हाय चन्दन और बड़े मूल्यवान् ताजे पुष्पहारों को श्रीराम के त्रियोग में मन्तव्य हो अयोध्यावासी तन्त्रियों ने धारण करना त्याग दिया है । अब लोग चित्रचित्र पुष्पमालाएँ धारण कर बाहिर नहीं निकलते ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

नोत्सवाः सम्प्रवर्तन्ते रामशोकादिते पुरे ।

सह नूनं मम आत्रा पुरस्यास्य द्युतिर्गता ॥ २४ ॥

श्रीराम के वियोगजनित शोक से भय नगरवासी ऐसे विकल हैं कि, उत्तम का नाम तक सुनाई नहीं पड़ता, मानों इस नगरी की शोभा मेरे भाई के माथ चली गटे हो ॥ २४ ॥

न हि राजत्ययोध्येयं शमामरेजार्जुनी<sup>१</sup> क्षपाः ।

कदा नु खलु मे आता महोत्सव इमागतः ।

जनपिष्यत्ययोध्यायां हर्षं श्रीष्म इमाम्बुदः ॥ २५ ॥

हा ! यह अयोध्या तो मूमलाधार वर्षा से युक्त शुक्लपत्र की रात्रि की तरह प्रकाशहीन हो गई है । ( अर्थात् शुक्लपत्र की रात बड़ी सुहावनी होती है, किन्तु बदली छा जाने के कारण उसका सुहावनापन नष्ट हो जाता है । ) सो कब उत्तम रूप मेरे भाई श्रीरामचन्द्र यहाँ आ कर, श्रीष्मकालीन मेघ की तरह, अयोध्या में आनन्द की वर्षा करेंगे ॥ २५ ॥

तरुणैश्चारुवैश्वैश्च नरेरुन्नतगामिभिः<sup>४</sup> ।

सम्पद्भिरयोध्यायां नाभिमन्ति महापथाः ॥ २६ ॥

जैसे पहिले सुन्दर वेष धारण कर और अरुढ़ कर चलने वाले जवानों से राजमार्ग की शोभा दृष्टा करनी थी, वैसी शोभा अयोध्या के राजमार्गों की अब नहीं देख पड़ती ॥ २६ ॥

एवं बहुविधं जन्वन् विप्रेण वसतिं पितुः ।

तेन हीनां नरेन्द्रेण मिहहीनां गुहामिव ॥ २७ ॥

१ साधारा—वेगवद्दृष्टिर्हरिता । ( गो० ) २ अर्जुनी—शुक्ल-  
पत्र उग्रविधनी । ( गो० ) ३ क्षपा—रात्रि । ( रा० ) ४ उन्नतगामिभिः—  
उग्रवर्गमनैः । ( गो० )

इस प्रकार शोक सन्ताप दरते हुए, भरत जी ने, अपने पिता के निवासस्थान में, जो मझारान के पिता सिंहरहित गुफा की तरह जान पड़ता था, प्रवेश किया ॥ २७ ॥

तदा तदन्तःपुरमुज्जितप्रभं

सुरैरिवोत्सृष्टमभास्वरं दिनम् ।

निरीक्ष्य सर्वं तु विविक्तमात्मवान्

श्रुमोच वाप्यं भरतः सुदुःखितः ॥ २८ ॥

इति चतुर्दशोत्तरशततमः सर्गः ॥

हम ममय शोभाहीन निर्जन रनवाम को देख, भरत रोने लगे और नसी प्रकार अन्यन्त दुःखी हुए, जिस प्रकार देवासुर संप्राम में सूर्यरहित दिन को देख, देवता लोग दुःखी हुए थे ॥ २८ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:❀:—

## पञ्चदशोत्तरशततमः सर्गः

— • —

ततो निक्षिप्यः मानुः स अयोध्यायां दृढव्रतः ।

भरतः शोकसन्तप्तो गुरुनिदमथात्रवीन् ॥ १ ॥

दृढव्रतधारी भरत जी ने माताओं को अयोध्या में पहुँचा दिया । तदनन्तर वे शोक से पीड़ित हो, यमिष्ठादि गुरुजनों से बोले ॥ १ ॥

नन्दिग्रामं गमिष्यामि सर्वाभ्यामन्त्रयेऽथ वः ।

तत्र दुःसमिदं सर्वं सहिष्ये राघव पिता ॥ २ ॥

मैं नन्दिग्राम जाऊगा, इनके लिए मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ। वहाँ रह कर जैसे होगा वैसे, श्रीराम के रियोग के ममस्त दुःख सहूँगा ॥ २ ॥

गतश्च हि दिवं राजा वनस्थश्च गुरुर्मम ।

रामं प्रतीक्षे राज्याय स हि राजा महायशाः ॥ ३ ॥

महाराज जो स्वर्ग प्यारे, और बड़े भाई वन में जा बैठे। अतः मैं राज्यशामन के लिए श्रीराम की प्रतीक्षा करूँगा। क्योंकि महायशस्वी श्रीराम ही अधोष्या के राजा हैं ॥ ३ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महारमनः ।

अधुवन् मन्त्रिणः सर्वे वमिष्ठश्च पुरोहितः ॥ ४ ॥

महात्मा भरत जी के ऐसे शुभ वचन सुन, समस्त मंत्री और पुरोहित वमिष्ठ जी उनसे बोले ॥ ४ ॥

सुभृशं श्लाघनीयं च यदुक्तं भरत त्वया ।

वचनं आवृत्तात्सन्त्याटनुरूपं त्वं वत् ॥ ५ ॥

हे भरत ! तुमने भ्राता के नेद्वेष जो कुछ कहा, यह अत्यन्त श्लाघनीय है। क्यों न हो, वे वचन तुम्हारे ही सुन से निकलने योग्य हैं ॥ ५ ॥

नित्यं ते वन्द्युलुब्धस्य तिष्ठतो आवृत्सोददे ।

शार्प्यमार्गं प्रपन्नस्य नानुमन्येत वः पुमान् ॥ ६ ॥

जब तुम अपने भई में प्रीतिवान् हो और वनवा सीदार सम्पादन कर अत्यन्त श्रेष्ठ मार्ग में पहुँचे हुए हो, तब भना हीन पुरुष तुम्हारी बात न मानेगा ॥ ६ ॥



मन्त्रिणां वचन श्रुत्वा यथाऽभिलाषितं प्रियम् ।

अत्रवीत्सारर्थिं वाक्यं रथो मे युज्यतामिति ॥ ७ ॥

अपनी अभिलाषा के अनुसार मन्त्रियों के सुग्न से प्रिय वचन सुन भरत जी ने सुमन्न से कहा कि, मेरा रथ तैयार करो ॥ ७ ॥

प्रहृष्टवदनः सर्वा मातृः समभिवाद्य सः ।

आरुरोह रथं श्रीमाञ्छत्रशत्रुघ्नेन समन्वितः ॥ ८ ॥

जब रथ आ गया, तब भरत जी, सब माताओं से अच्छी तरह वातालाप कर और उनसे आज्ञा ले, शत्रुघ्न नी सहित प्रसन्न हो कर रथ पर सवार हुए ॥ ८ ॥

आरुह्य च रथं शीघ्रं शत्रुघ्नभरताबुधौ ।

ययतुः परमप्रीतौ वृतौ मन्त्रिपुरोहितैः ॥ ९ ॥

उस रथ पर शीघ्र संचार हो, मन्त्रियों और पुरोहितों को साथ ले, दोनों भाई भरत और शत्रुघ्न परम प्रसन्न होते हुए वहाँ से चले ॥ ९ ॥

अग्रतो गुरवस्तत्र वसिष्ठप्रमुखा द्विजाः ।

प्रययुः प्राङ्मुखाः सर्वे नन्दिग्रामो यतोऽभवत् ॥ १० ॥

वसिष्ठादि पूज्य ब्राह्मण, भरत के रथ के आगे पूर्व को मुख कर सब को साथ लिए हुए नन्दिग्राम की ओर चले ॥ १० ॥

पलं च तदनाहृतं गजाश्वरथसङ्कुलम् ।

प्रययौ भरते याते सर्वे च पुरवासिनः ॥ ११ ॥

भरत जी के वहाँ से रवाने होते ही, उनकी सेना भी हाथी घोड़ों रथों के सहित बिना बुलाए ही उनके पीछे होती तथा सब पुरवासी भी उनके साथ हो लिए ॥ ११ ॥

रथस्यः स हि धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः ।

नन्दिग्रामं ययौ तृणं शिरस्याधोऽप पादुके ॥ १२ ॥

धर्मात्मा एव भ्रातृवत्सल भरत अपने माथ पर भाई की ग्यडाउध्रों की रसें हुए, रथ पर नजार हो, दहृत शीघ्र नन्दिग्राम पहुँचे ॥ १२ ॥

ततन्तु भरतः क्षिप्रं नन्दिग्रामं प्रविश्य सः ।

अथत यै रथात्तृणं गुरूनिदमुवाच ह ॥ १३ ॥

तदनन्तर भरत जो तुरन्त हा नन्दिग्राम में प्रवेश कर और तुरन्त रथ में उतर गुरुओं से यह बोले ॥ १३ ॥

एतद्राज्य मम आत्रा दत्तं सन्न्यामस्वयम् ।

योगक्षेममहं चेमे पादुके हेमभूपिते ॥ १४ ॥

भाई श्रीरामचन्द्र ने यह श्रेष्ठराज्य मुझे वरोहर की तरफ सौंपा है सो इनकी ये सुरक्षाभूषित पादुका ही हमके योगक्षेम का निर्वाह करेगी ॥ १४ ॥

भरतः शिरसा कृत्वा सन्न्यामं पादुके ततः ।

अत्रयीदुःखमन्ततः सर्वप्रकृतिमण्डलम् ॥ १५ ॥

अनन्तर धाराम की दी हुई प्रतिनिधि रूरी उन पादुकाओं को अपने भीम पर लगा, दुःखमन्तत हो, भरत जो मर प्रजाजनो से बोले ॥ १५ ॥

ह्यत्रं धारयत विप्रमायेपादाभिभौ मती ।

शर्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुगेर्मम ॥ १६ ॥

१ कृत्वा पादुके—रथप्रतिनिधिभेदनन्तरेपादुके । ( मा० ) २ प्रकृतिमण्डलम्—प्रदासमूर । ( वि० )

इन पादुकाओं को साक्षात् श्रीरामचन्द्र जी के चरण नमस्क, इनके ऊपर शीघ्र छत्र तानों, चँवर डुलाओ, क्योंकि ये मेरे परम गुरु को पादुकाएँ हैं और इनसे राज्य में मानों धर्म स्थापित हुआ है ॥ १६ ॥

[ टिप्पणी — “पादुकाओं में राज्य में धर्म का स्थापित होना” अर्थात् बड़े के रहते छोटे या राजसिंहासन पर बैठना अधर्म था । अतः ज्येष्ठ राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी की प्रतिनिधि रूप पादुकाओं के अर्च राजसिंहासन पर स्थापित होने से, अधर्म दूर हुआ है और धर्म स्थापित हुआ है । ]

आत्रा हि मयि सन्न्यासो निश्चितः सौहृदादयम् ० ।

तमिमं १पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति ॥ १७ ॥

श्रीराम ने प्रेमपूर्वक जो यह धरोहर मुझे सौंपी है, सो इसकी मैं उनके लौट कर आने तक, रक्षा करूँगा ॥ १७ ॥

क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम् ।

चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकाँ ॥ १८ ॥

फिर जब कि, ये अयोध्या में आ जाँयगे, तब मैं अपने हाथों उनके चरणों में ये पादुका पहिना, पादुकासहित उनके चरणों के दर्शन करूँगा ॥ १८ ॥

ततो निश्चितभारोऽहं राघवेण समागतः ।

निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवृत्तिताम् २ ॥ १९ ॥

१ पालयिष्यामि—रक्षयिष्यामि । ( गो० ) २ गुरुवृत्तिताम् भजिष्ये—पितरौवशुभ्रपाकरिष्यामि । ( गो० ) ० पाठान्तरे—“साहृदादसौम् ।”

तदनन्तर श्रीराम से मिल और उनका राज्य उनको सौंप, पिता की सेवा जैसी पुत्र को करना चाहिए, यैसा मैं उनकी सेवा करूँगा ॥ १६ ॥

राघनाय च मन्त्यासं दरभे वरपादुके ।

राज्यं चेदमयोध्यां च धृतपापोः भवामि च ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीराम को इन धरोहररूपी पादुकाओं को, इस राज्य को और इस राजधानी अयोध्या को सौंप, अपना माता के कारण अपने ऊपर लगे हुए अपयश को मैं धो डालूँगा ॥ १७ ॥

अभिषिक्ते तु काकुत्स्थे प्रहृष्टमुदिते जने ।

प्रीतिमम यशश्चैव मदेद्राज्याद्यतुर्गुणम् ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक होने पर, प्रजाजन, हरित और आनन्दित होंगे । उस समय इस राज्य को श्रीराम के अर्पण करने से लोगों की मेरे प्रति चांगुनी प्रीति ही नहीं होगी, बल्कि मुझे यश भा मिलेगा । ( अर्थात् अज जो अपयश मिला है वह दूर हो कर मुझे यश की प्राप्ति होगी ) ॥ १८ ॥

एवं तु विलपन् दीनो भरतः स महायशाः ।

नन्दिग्रामेऽकरोद्राज्यं दुःखितो मन्त्रिभिः सह ॥ १९ ॥

महायशस्वा चार भरत इस प्रकार विजाप कर और दीन दुःखी हो, मात्र्यों की सहायता से नन्दिग्राम में रह, राज्य करने लगे ॥ १९ ॥

स वन्कलजटाधारी मुनिवेषधरः प्रभुः ।

नन्दिग्रामेऽसद्वीरः ससैन्यो भरतस्तदा ॥ २० ॥

१ धृतपापः— इत्यत्र रामचन्द्रेण कुरुदीनिभिः समस्त उपपत्ते । ( गो० )

वीर भरतवीर बसन और लटाजूट धारण कर, मुनियों का वेप बना समस्त सेनासहित नन्दिग्राम में रहने लगे ॥ २३ ॥

[ टिप्पणी—अत्याची रूप से भरत जी ने नान्दग्राम में राजधानी स्थापित की थी । अतः राजधानीकी रक्षाके लिए सेना का रहना भी वहाँ आवश्यक था । अतः भरतजी नन्दिग्राम में सेनासहित रहने लगे थे । ]

रामागमनमाकाङ्क्षन् भरतो भ्रातृवत्सलः ।

भ्रातुर्वचनकारी च प्रतिज्ञापारगस्तथा ॥ २४ ॥

पादुके त्वमिषिच्यथ नन्दिग्रामेऽवमत्तदा ।

सवालव्यजनं ह्यत्रं धारयामास स स्वयम् ॥

भरतः शासनं सर्वं पादुकाम्यां न्यवेदयत् ॥ २५ ॥

भ्रातृवत्सल, श्रीराम के आने की आकांक्षा रखने वाले, श्रीराम के आज्ञाकारी और अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने वाले भरत राजसिंहासन पर श्रीराम की पादुकाओं को अभिषिक्त कर, नन्दिग्राम में रहने लगे । उन्होंने स्वयं उन पादुकाओं पर ह्यत्र तान और चँवर डुला, समस्त राज्य का शासन उन पादुकाओं को निवेदन किया ॥ २४ ॥ २५ ॥

ततस्तु भरतः श्रीमानमिषिच्यार्यपादुके ।

तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा ॥ २६ ॥

तब श्रीमान् भरत जी इस प्रकार पादुकाओं का राज्याभषेक कर, उनके अधीन हो, राज्यशामन करने लगे ॥ २६ ॥

तदा हि यन्कार्यमुपैति किञ्चि-

दुषायनं चोपहृतं महार्हम् ।

स पादुकाम्यां प्रथमं निवेद्य

चकार पश्चाद्भरतो यथावत् ॥ २७ ॥

इति पञ्चदशोत्तरशततमः सर्गः ॥

एस मसय राज्यशामन सम्बन्धी जो कुद्ध फरजा होता, वह पादुकाओं को जना कर किआ जाना अथवा कोई वही मूल्यवान भेंट आती तो वह पहिले पादुकाओं के मामने रखी जाती थी पीछे उसका यथाविधि व्यवहार किआ जाता था ॥ २० ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—•—

## पोडशोत्तरशततमः सर्गः

—

प्रतिप्रयाते भरते वमन् रामस्तपोने ।

लक्षयामासः सोद्वेगमर्थात्सुक्यं२ तपस्विनाम् ॥ १ ॥

भरत जो जब अयोध्या को लौट गए तब श्रीराम ने देखा कि, चित्रकूट पर्वतवामी तपस्विगण डरे हुए हैं और वे स्थानान्तरित होने को उमुरु हो रहे हैं ॥ १ ॥

ये तत्र चित्रकूटस्य पुरस्तात्तापसाधमे ।

राममाश्रित्य अनिरतास्तानलक्षयदुत्सुकान् ॥ २ ॥

जो तपस्वी पहले चित्रकूट के समीप तापसाधन में श्रीराम के महारे रहा करते थे, उन्हें भी उम स्थान को छोड़, अन्यत्र जाने के लिए, श्रीराम ने उमुरु देखा ॥ २ ॥

नयनैर्भ्रुकुटीभिश्च रामं निदिश्य शङ्किताः ।

अन्योन्यमुपजल्पन्तः शनैरचक्रुर्मिथः४ कथाः ॥ ३ ॥

१ सोद्वेग — समभवन् । (गो०) २ अत्सुक्य — आभनान्तरगमना-भिलाषं । ( गा० ) ३ निरतास्तान् — उमुहानगमनोन्मुहान् । अलक्षयनराम, इत्यनुपद्वं । ( गा० ) ४ मिथः — परस्परं । ( गो० )

वयोंकि वे नेत्रों और भ्रुकुटियों के सङ्केतों से, श्रीराम को दिखा दिखा, सन्देहयुक्त हो, आपन में बातचीत और धीरे धीरे कुछ गुप्त परामर्श क्रिया करते थे ॥ ३ ॥

तेपामौत्सुक्यमालक्ष्य रामस्त्वात्मनिः शङ्कितः ।

कृताञ्जलिरुवाचेदमृषिं कुलपतिं ततः ॥ ४ ॥

श्रीराम ने उनको उत्सुक और अपने विषय में उनको सशङ्कित देख, अर्धक्षत्र ऋषि से हाथ जोड़ कर कहा ॥ ४ ॥

न कचिद्भगवन् किञ्चित्पूर्ववत्तमिदं मयि ।

दृश्यते विकृतं येन विक्रियन्ते तपस्विनः ॥ ५ ॥

हे भगवन् ! क्या पूर्वकालीन मेरे आचरण में किसी प्रकार की त्रुटि आप लोगों को देख पड़ी, जिससे तपस्वि लोगों के मन में मेरे प्रति विकार पैदा हो गया है ॥ ५ ॥

प्रमादाचरितं किञ्चित्किञ्चिन्नावरजस्य१ मे ।

लक्ष्मणस्यपिभिर्दृष्टं नानुरूपमिवात्मनः ॥ ६ ॥

अथवा क्या ऋषि लोगों ने मेरे छोटे भाई महानुभाव लक्ष्मण जी को अनवधानतावश कोई अन्यायाचरण करते देखा है ॥ ६ ॥

कचिल्लुश्रूपमाणा वः शुश्रूपणपरा मयि ।

प्रमदाभ्युचितां वृत्तिं सीतायुक्तं न वदते ॥ ७ ॥

१ आत्मनि शङ्कितः—स्वस्मिन् सञ्जातशङ्कः । २ अवरजस्य—लक्ष्मणस्य । ( गो० ) ३ नानुरूपं—अनुचितम् । ( रा० )

या आप लोगों की सेवा करनी हुई और मेरी मूर्खा में निरत सीता ने तो अनवधानतावश कोई ऐसा कार्य नहीं किया जिसका करना मंत्रियों के लिए अनुचित हो ॥ ७ ॥

अथपिर्जरया वृद्धस्तपमा च जरां गतः ।

वेपमान इमोवाच रामं भूतदयापरम् ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र की कही इन बातों का सुन, एक बूढ़ महर्षि, जिनका शरीर बहुत दिना तर तप करने करते नीरव हो गया था, कौपते हुए मन्त्र प्राणियों पर दया करने वाले श्रीराम के बोले ॥ ८ ॥

दुःखः कल्याणसत्त्वायाः? कल्याणाभिरतेस्तया ।

चलनं तात वैदेह्यास्तपस्त्रिषु विज्ञेयतः ॥ ९ ॥

हे तात ! कल्याण स्वभाव वाली और प्राणियों का कल्याण करने में तत्पर सीता ज्ञा क्या कभी किसी के साथ—तो भी विशेष कर ऋषियों के साथ, किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार कर सकती है ? ॥ ९ ॥

तन्निमिचमिदं तारत्तापमान् प्रति उतते ।

रत्तोऽपस्तेन सग्निताः कथयन्ति मियः? कथाः ॥१०॥

यद्यप्ये तात तो यह है कि, तुम्हारे कारण, ऋषियों के ऊपर राक्षसों ने अत्याचार करना आरम्भ कर दिया है । इसी लिए ऋषिगण भयभीत हो आदम में अपने वचन के लिए गुप्त परामर्श किया करते हैं ॥ १० ॥

१ कल्याणसत्त्वाया — कल्याणस्वरभाष्या । ( ग० ) २ मिय — रहसि । ( गो० )



रावणावरजः कश्चित्खरो नामेह राक्षसः ।

उत्पाद्य तापसान्सर्वाङ्घ्रिनस्थाननिकेतनान् ॥ ११ ॥

रावण का छोटा भाई खर नाम का राक्षस जनस्थानवासी सब तपस्वियों को उनके जनस्थानस्थित आश्रमों से निकाल बाहर कर रहा है ॥ ११ ॥

वृष्टश्च जितकाशीर च नृशंसः पुरुपादकः ।

अबलिपश्च पापश्च त्वां च ताव न मृष्यते ॥ १२ ॥

हे ताव ! वह बड़ा टीठ और जयी है तथा ऐसा निपटुर है कि मनुष्यों को मार कर ग्याया करता है । अतः यह महापातकी है और तुम्हारा यहाँ रहना उमको मध्य नहीं है ॥ १२ ॥

त्वं यदाप्रमृति ह्यस्मिन्नाश्रमे ताव वर्तसे ।

तदाप्रमृति रक्षांसि विप्रकुर्वन्ति तापसान् ॥ १३ ॥

हे ताव ! जब से तुम इस आश्रम में आ कर रहने लगे हो, तब से राक्षस लोग और भी अधिक तपस्वियों को सताने लगे हैं ॥ १३ ॥

दर्शयन्ति हि वीभत्सैः ३ क्रूरैर्भीषणकैरपि ।

५ नानारूपैर्विरूपैश्च ६ ७ रूपैर्विकृतदर्शनैः ८ ॥ १४ ॥

वे लोग अनेक प्रकार के जुगुप्सित, भयङ्कर, भीषण और विलक्षण विकट शक्त बना टेढ़ी आँसों कर तपस्वियों को डराया करते हैं ॥ १४ ॥

१ उत्पाद्य—निष्कास्यति । ( गो० ) २ जितकाशी—जिताहवः । ( गो० ) ३ वीभत्सैः—जुगुप्सितः । ( गो० ) ४ क्रूरैः—भयङ्करैः । ( गो० ) ५ नानारूपैः—अनेक प्रकारैः । ( गो० ) ६ विरूपैः—लोकविलक्षण संस्थानैः । ( गो० ) ७ रूपैः—शरीरैः । ( गो० ) ८ विकृतदर्शनैः—विकृतदृष्टिमिः । ( गो० )

अप्रशस्त्रैशुचिभिः सम्प्रयोज्य च तापसान् ।

प्रतिमन्त्यपरान् चिप्रमनार्याः पुरतः स्थिताः ॥ १५ ॥

ये अशुभ और अपवित्र वस्तुएँ तपस्विया के आश्रमों में डाल करियों को तग करत हैं । अतिन्तर तो ये सीधे सादे तपस्विया का दरते ह' मार डालते हैं ॥ १५ ॥

तेषु तेन्याश्रमस्थानेष्वनुद्धरमवलीय च ।

रमन्ते तापसांस्तत्र नाशयन्तोऽल्पचेतसः ॥ १६ ॥

वे सुदूर बुद्धि वाले राक्षस द्विप कर सबत्र घूमा करते हैं, और जहाँ वही यदि किसी तपस्वी को असावधान पाते हैं, तो तत्क्षण ही उसे मार डालते हैं ॥ १६ ॥

अपक्षिपन्ति स्रुग्मायडानग्नीन् मिश्रन्ति वारिणा ।

कलशाश्च प्रमृद्नन्ति हवने समुपस्थिते ॥ १७ ॥

जब तपस्वि लोग हवन करने बैठते हैं, तब राक्षस आकर धुवों और यज्ञशत्रा का फूट कर, अग्नि के ऊपर पानी डाल उसे बुझा देते हैं और कलसा को फाड डालते हैं ॥ १७ ॥

तैर्दुरात्मभिरामृष्टानाश्रमान् प्रतिहामरः ।

गमनायान्पदेशस्य चोदयन्त्युपयोज्य माम् ॥ १८ ॥

हे आराम ! उन दुर्गों में इन उपद्रवों से तग आ कर, तपस्वि गण इन आश्रमों को त्याग कर दूसरे आश्रमों में चलन के लिए मुझे प्रेरणा कर रहे हैं ॥ १८ ॥

१ अप्रशस्त्री — अशुभ । (गो०) २ अनुद्धर — अतिदूर । (गो०)

३ अल्पचेतस — सुदूरदूर । (गो०)

तत्पुरा राम शारीरामुपहिंसां तापस्विषु ।

दर्शयन्ति हि दुष्टास्ते त्यक्त्याम इममाश्रमम् ॥ १६ ॥

हे शाराम ! वे दुष्ट राजस इस वन के तपस्वियों को मार डालन की धमकियाँ दिखा करते हैं, अतः हम लोग इस आश्रम को त्यागे देते हैं ॥ १६ ॥

बहुमूलफलं चित्रमविदूरादितो वनम् ।

पुराणाश्रममेतहं श्रयिष्ये सगणः पुनः ॥ २० ॥

यहाँ से थोड़ी ही दूर पर, महर्षि अश्व का, बहुत से कन्द-मूल फलों से युक्त एक विचित्र तपोवन है । हम मत्र मुनियों को साथ ले, वहीं जायेंगे ॥ २० ॥

खरस्त्वय्यपि चायुक्तं पुरा तात प्रवर्तते ।

सहास्माभिरितो गच्छ यदि बुद्धिः प्रवर्तते ॥ २१ ॥

हे तात ! अगर तुमको ठीक जान पड़े तो तुम भी हम लोगों के साथ वही चलो । क्योंकि वह खर राजस तुमको भी तग करेगा ॥ २१ ॥

समलत्रस्य सन्देहो नित्य यत्तस्य राघव ।

समर्थस्यापि हि सतो वासो दुःखमिहाय ते ॥ २२ ॥

हे राघव ! यद्यपि तुम उससे अपनी रक्षा करने में समर्थ हो, तथापि म्नी को साथ ले कर, यहाँ रहना सदा खटके से खाली न होने के कारण, तुम्हारे लिए क्लेशदायी होगा ॥ २२ ॥

इत्युक्तवन्तं रामस्तं राजपुत्रस्तपस्विनम् ।

न शशाकोत्तरैर्मान्यैरवरोद्धुं समुत्सुकम् ॥ २३ ॥

( १ शरीरसन्निवनाम्—दिवा तपस्विपुद्दर्शयन्त । ( शि० )

• पाठान्तरे—“समुत्सुक ।”

कुलपति का ऐसा बचन सुन श्रीराम और जानें के लिए उनकी  
अत्यन्त उन्मुक्त देख, राजकुमार श्रीरामचन्द्र किसी प्रकार भी  
समझा बुझा कर, वह स्थान त्यागने से उन्हे न रोक सके ॥२३॥

अभिनन्द्य समापृच्छद्य समाधाय च राघवम् ।

स जगामाश्रमं त्यक्त्वा कुलैः कुलपतिः मह ॥ २४॥

तदनन्तर कुलपति, श्रीराम की प्रशंसा कर, उनकी समझा  
बुझा और उनसे विदा हो तथा मग्न तपस्वियों को साथ ले, उम  
आश्रम को त्याग कर, चल दिए ॥ २४ ॥

। रामः१ संभाद्य त्वृषिगणमनुगमनाद्

देशात्तस्मात्कुलपतिमभिराद्य ऋषिम् ।

सम्यक्प्रीतिंस्तेरनुमत उपदिष्टार्थः

पुण्यं वासाय स्वनिलयमभिमपेदे ॥ २५ ॥

उम प्रकार जब उन लोगों की प्रस्थान करने की तैयारी हुई,  
तब श्रीरामचन्द्र भी भी कुछ दूर तक उनकी पहुँचाने गए । तदन-  
न्तर श्रीराम कुलपति की अनुमति ले और उनकी प्रशंसा कर,  
अपनी पवित्र पराशाला में लौट आए । जब श्रीराम लौटने लगे,  
तब ऋषियों ने प्रीतिपूर्वक योग्य पक्षेय्यकर्म का भवो भाति  
उनको उपदेश दे, उनकी विदा किया ॥ २५ ॥

आश्रम त्वृषिभिर्हितं प्रभुः

क्षणमपि न विजहो म राघवः ।

राघव हि सततमनुगता-

स्तापसाञ्चर्पिचरितधृतगुणाः ॥ २६ ॥

इति षोडशोत्तरशततमः सर्गः ॥

श्रीराम उस ऋषिहीन आश्रम को जण भर के लिए भी सूना नहीं द्वाड़ते थे । उनम से कुछ ऋषि ऐसे थे जो श्रीराम का तपस्वियों जैसा आचरण देख, उनको अपना मन समर्पित कर चुके थे । अत वे ऋषि श्रीराम को अपने मन में सदा स्मरण किया करते थे ॥ २६ ॥

[ श्लोक २५, २६ का वृत्त भूषणकार ने चिन्त्य बतलाया है । ]

अयोध्याकाण्ड का एक सौ सौलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

— ० —

## सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः

राघवस्त्वथ यातेषु तपस्विषु विचिन्तयन् ।

न तत्रारोचयद्वासं कारणैर्नहुमिस्तदा ॥ १ ॥

ऋषियों के उस आश्रम को त्याग कर चले जाने पर श्रीराम चन्द्र जी ने अनेक बातों को सोच विचार कर, वहाँ रहना ठीक न समझा ॥ १ ॥

इह मे भरतो दृष्टा मातरश्च सनागराः ।

सा च मे स्मृतिरन्वेति तां नित्यमनुशोचतः ॥ २ ॥

१ श्वापचरिते रामे धृतगुणा — समर्पित मनस तापसा राघव सतत मनुगता मनसा प्राप्ता । ( शि० )

श्रीरामचन्द्र ने विचारा कि, इस स्थान पर नगरवासियों से, माई भरत से और माताओं से मेरी भेंट हुई थी, मो यहाँ रहने से मेरी चित्तवृत्त सदा उन्हींकी ओर लगी रहती है और वह मुझे शोकाकुल किय्या करती है ॥ २ ॥

स्कन्धावारनिवेशेन तेन तस्य महात्मनः ।

हृयहस्तिकर्षपरच उपमर्दः कृतो भृशम् ॥ ३ ॥

विशेष कर यहाँ महात्मा भरत की सेना के टिकने से, हाथी घोड़ों ने ( जो लीढ़ और भूत्र त्याग किय्या था अथवा ) जो रौंदा था, इससे यहाँ की भूमि अत्यन्त गन्दी हो गई है ॥ ३ ॥

तस्मादन्यत्र गच्छाम इति मञ्चिन्त्य राघवः ।

प्रातिष्ठत स वैदेद्या लक्ष्मणेन च मङ्गतः ॥ ४ ॥

अतः इस आश्रम को त्याग दूसरी जगह चलना ठीक है । इस प्रकार मोच विचार कर, श्रीराम अपने साथ सोना और लक्ष्मण को ले, वहाँ से चल गये ॥ ४ ॥

मोऽत्रैराश्रममामाद्य तं वन्दे महापगाः ।

तं चापि भगवानग्निः पुत्रपत्न्यत्यपद्यत ॥ ५ ॥

महायशस्वी श्रीराम ने यहाँ से प्रस्थान कर अग्नि मुनि के आश्रम में पहुँच, मुनि को प्रणाम किय्या । अग्नि मुनि ने भी उनको पुत्रभाव से देखा ॥ ५ ॥

स्वयमानिष्यन्मादिश्य सर्वमस्य सुमत्कृतम् ।

सौमित्रिं च महाभार्गाभातां चमममान्त्ययत् ॥ ६ ॥

१ प्रातिष्ठत—प्रस्थितः । ( १०० ) २ अनिष्यन्मादिश्य—आदिष्यं कृत्वा । ( १०० ) ३ सममान्ययत्—प्रतिपुञ्जेनचक्षुःपरयत् । ( १०० )

अत्रि ऋषि ने स्वयं श्रीरामचन्द्र का यथाविधि अतिथि सत्कार कर, मङ्गलमण लक्ष्मण और सीता जो दो स्नेह की दृष्टि से देखा ॥ ६ ॥

पत्नीं च ममनुप्राप्तां वृद्धामामन्वप नत्कृताम् ।  
सान्त्वयामास धर्मज्ञः सर्वभूतहिते रतः ॥ ७ ॥

मन्व प्राणियों के हित में रत, धर्मज्ञ अत्रि मुनि ने वहाँ पर उपस्थित, अपनी वृद्धा तपस्विनी पत्नी अनुमृगा जो दो बुन्ना कर, उनको आदरपूर्वक निठा कर नमस्कारा ॥ ७ ॥

अनमृगां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम् ।  
प्रतिगृह्णीष्व वैदेहीमत्रशीटपिसत्तमः ॥ ८ ॥

तदनन्तर ऋषिश्रेष्ठ अत्रि जी ने उन महाभाग्यवती, तपस्विनी और धर्म में निरत अनुमृगा जी से कहा कि, जानती हमारे आश्रम में आई है, जो इनको अपने नाथ ले जा कर, इनका आदर सत्कार करो ॥ ८ ॥

रामाय चाचक्ष्रे तां तापसीं धर्मचारिणीम् ।  
दश वर्षाण्यनावृष्ट्या दग्धे लोके निरन्तरम् ॥ ९ ॥  
यया मूलफले सृष्टे जाह्नवी च प्रवर्तिता ।  
उग्रेण तपमा युक्ता नियमैश्चाप्यलंकृता ॥ १० ॥  
दश वर्षमहस्राणि यया तप्तं महत्तरः ।  
अनमृगाव्रतैः स्नात्वा प्रत्यूहाश्च निवर्तिताः ॥ ११ ॥

तदनन्तर अत्रि जी ने श्रीराम से तपस्विनी एवं धर्मचारिणी अनुमृगा का यह मन्व वृत्तान्त कहा कि, दस वर्ष तक बराबर

जल की वृष्टि न होने से जब मसार भग्म होने लगा था, तब  
 । अनुमूया जी ने किस प्रकार अपनी उग्र तपस्या से ऋषियों के  
 लिये फलमूल उत्पन्न किए और स्नान करने को गङ्गा नदी बहाई  
 बहाई और किस प्रकार हजार वर्षों तक उग्र तपस्या कर और  
 तपस्या के प्रभाव से, सब ऋषियों के तप के विघ्न नष्ट किए थे  
 ॥ ६ ॥ १० ॥ ११ ॥

देवकार्यनिमित्तं च यया सन्त्वरमाणया ।

दशरात्रं कृता रात्रिः सेयं भातेव तेऽनघ ॥ १२ ॥

अत्रि जी ने श्रीराम से कहा—हे अनघ ! यह बड़ी अनुमूया  
 हैं, जिन्होंने देवताओं का काम बनाने के लिए, तुरन्त ही दस रात  
 की एक रात कर दी थी ॥ १२ ॥

तामिमां सर्वभूतानां नमस्कार्यां यशस्विनीम् ।

अभिगच्छतु वैदेही वृद्धामक्रीधनां सदा ॥ १३ ॥

अतः इन्दी सब कारणों से यह यशस्विनी सब प्राणियों से  
 नमस्कार किए जाने योग्य अर्थात् सब की पूज्या हैं । इन वृद्धी  
 बड़ी तथा सदा क्रोध रहित मनवाली अनुमूया जी के माय  
 जानकी जी जाँय ॥ १३ ॥

अनसूयेति या लोके कर्मभिः रयातिमागता ।

तां शीघ्रमभिगच्छ त्यमभिगम्यां तपस्विनीम् ॥ १४ ॥

जो अपने अष्ट कर्मों के कारण लोगों में अनुमूया के नाम  
 से प्रसिद्ध हैं, इन तपस्विनी के साथ जाने के योग्य अनुमूया  
 के पास जानकी जी शीघ्र जाँय ॥ १४ ॥



एवं ब्रुवाणं तमृषिं तथेत्युक्त्वा स राघवः ।  
सीतामुवाच धर्मज्ञामिदं वचनमुत्तमम् ॥ १५ ॥

अत्रि जी के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे कहा “तथास्तु”—( बहुत अच्छा सीता अनुसूया जी के साथ जायँगी) तदनन्तर धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी से यह उत्तम वचन कहा ॥ १५ ॥

राजपुत्रि श्रुतं त्वेतन् मुनेरस्य समीरितम् ।  
श्रेयोर्थमात्मनः शीघ्रमभिगच्छ तपस्विनीम् ॥ १६ ॥

हे राजपुत्रि ! मुनि जी ने जो कहा सो तो तुमने सुन ही लीया । अतः अब तुम अपने कल्याण के लिए शीघ्र इन तपस्विनी जी के साथ गमन करो ॥ १६ ॥

सीता त्वेतद्वचः श्रुत्वा राघवस्य हितैषिणः ।  
तामत्रिपत्नीं धर्मज्ञामभिचक्राम मैथिली ॥ १७ ॥

हितैषी धीराम के ये वचन सुन, सीता जी, पतिव्रत धर्म की जानने वाली अत्रिपत्नी—अनुसूया के साथ गई ॥ १७ ॥

शियिलां वलितां पृद्धां जरापाण्डुरमूर्धजाम् ।  
सततं वेपमानार्द्रां प्रवाते कदली यथा ॥ १८ ॥

अनुसूया जी का शरीर, चुहापे के कारण शिथिल हो गया था । मग्न शरीर की खाल सिकुड़ गई थी और सिर के सब बाल सफेद हो गए थे । हवा के वेग से दौपते हुए केले के पेड़ की तरह, उनका शरीर सदा काँपा करता था ॥ १८ ॥

तां तु सीता महाभागामनम्रयां पतिव्रताम् ।

अभ्यवाटयद्व्यग्रा स्वं नाम समुदाहरत् ॥ १६ ॥

उन महाभाग्यवती और पतिव्रता अनुम्रया जी को, सीता जी ने अपना नाम ले कर, प्रणाम किया ॥ १६ ॥

[ टिप्पणी—धर्मशास्त्र में वहाँ प्रणाम करने की विधि लिखी है, वहाँ प्रणाम करने वालों के लिए स्वनामोच्चारण पूर्वक प्रणाम करने का विधि निर्दिष्ट है। यथा—“अमुक गात्रात्मनोऽहं अनुक शर्माऽहं त्वा अभिवाटयामि ।” चरणस्पर्श करने का भी विधि है। जिसके चरणस्पर्श किए जाँव, उसका वामपाद अपने वाम हस्त में और उसका दक्षिण पाद अपने दक्षिण हस्त से ग्रहण करें । ]

अभिवाद्य च वेदही तपस्वीं तामनिन्दिताम् ।

वद्वाञ्छलिपृष्ठा हृष्टा पर्यपृच्छदनामयम् ॥ २० ॥

उन अनिन्दिता तपस्विनाजी को वेदही ने प्रणाम करके हाथ जोड़ और प्रसन्न हो उनसे कुशल प्रश्न किया ॥२०॥

ततः सीता महाभागां दृष्ट्वा तां धर्मचारिणीम् ।

सान्त्वयन्त्यत्रादीदृष्ट्वा दिष्ट्याः धर्ममवेक्षसे ॥२१॥

धर्मचारिणी और महाभाग्यवता सीता जी को प्रणाम करते और कुशलप्रश्न पूछते देख, अनुम्रया जी ने धीरेज धीरे के लिए सीता जी से कहा—हे सीते ! यह षड् महाभाग्य की बात है कि तुम पतिव्रतवर्म की ओर भली भाँति ध्यान देती हो ॥ २१ ॥

त्यक्त्वा ज्ञातिजनं गीतैः ५ मानमृद्धिं च मानिनि ० ।

५ अरुद्धं वने रामं दिष्ट्याः ६ त्वमनुगच्छामि ॥ २२ ॥

१ समुदाहरत्—प्रणाम विधिभोग्यचारयानात् । ( शि० ) २ दिष्ट्या—भाग्येन । ( २०० ) ३ धर्ममवेक्षसे—पतिव्रत धर्ममवधानेन समीक्षसे । ( ग० ) ४ मानं—अहंकारं । ( गो० ) ५ अरुद्धं—निमुक्तं । ( शि० ) ६ दिष्ट्या—भाग्यनेतत् । ( शि०, ० पाठान्तर—“मानिनि” ।

हे मानिनी ! तुम्हारे लिए यह बडे ही मौभाग्य की बात है कि, तुम अपनी जाति वालों को, राजकुमारी होने के अहङ्कार को और धन सम्पत्ति को त्याग कर, वनवामी श्रीराम की अनुगामिनी हुई हो ॥ २२ ॥

नगरस्थो वनस्थो वा पापो वा यदि वा शुभः ।

यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः ॥ २३ ॥

पात वन मे रहे अथवा नगर मे रहे, पति पापी हो अथवा पुरयात्मा हो ; जो अपने पति से प्रीति रखती है, वह उत्तमोत्तम लोको को प्राप्त करती है ॥ २३ ॥

दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः ।

स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥ २४ ॥

भले ही पति कर स्वभाव का हो, कामी हो, धनहीन हो, निन्तु श्रेष्ठ स्वभाव वाली स्त्रियों के लिए उनका पति देवता के तुल्य है अथवा पति ही उनका परम देवता है ॥ २४ ॥

नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशन्त्यहम् ।

१ सर्वत्र योग्यं वैदेहि तपः कृतमिवाव्ययम् ॥ २५ ॥

हे वैदेही ! मैंने भली भाँत विचार कर देखा, परन्तु पति से अधिक स्त्रियों का बन्धु कोई नहीं पाया । क्योंकि पति सब अवस्थाओं मे, अन्तय तप की तरह, पत्नी को रक्षा करने में समर्थ है ॥ २५ ॥

न त्वेवमवगच्छन्ति गुणदोषमसत्स्त्रियः ।

कामवक्तव्यहृदया भर्तृनाथाश्चरन्ति याः ॥ २६ ॥

हे वैदेही ! कामासक्त, पत्नियों की म्यामिनी दुष्टा स्त्रियाँ,  
भलाई बुराई का विचार नहीं करती ॥ २६ ॥

प्राप्नुवन्त्ययशश्चैव धर्मभ्रंशं च मैथिलि ।

अकार्यवशमापन्नाः स्त्रियो याः खलु तद्विधाः ॥२७॥

हे मैथिली ! देसी स्त्रियों निश्चय ही अनशरने कामों में काम  
अपनी निन्दा करवानी और धर्मभ्रष्ट भी होती हैं ॥ २७ ॥

त्वद्विधास्तु गुणैर्युक्ता दृष्टलोकपरावराः ।

स्त्रियः स्वर्गे चरिष्यन्ति यथा धर्मकृतस्तथा ॥ २८ ॥

किन्तु तुम्हारी तरह जिन गुणवती स्त्रियों ने संसार के अन्धे  
बुढ़े कर्मों को जान लिया है, वे पुण्यकर्म पुरुषों की तरह  
स्वर्ग प्राप्त करती हैं ॥ २८ ॥

तदेवमेतं त्वमनुव्रता मती

पतिव्रतानां समयानुवर्तिनी ।

भर स्वमर्तुः सह धर्मचारिणी

यशश्च धर्मं च ततः समाप्स्यमि ॥ २९ ॥

इति सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे मती ! इसी प्रकार तुम पनि के बहने में चल और पति-  
व्रताओं के आचरण करती हुई, अपने पनि की महधर्मिणी हो ।  
ऐसा करने से तुम्हें यश और पुण्य दोनों मिलेंगे ॥ २९ ॥

अयोध्यावाण्ड का एक भी मगधर्चा मग पूरा हुआ ।

—:०:—

## अष्टादशोत्तरशततमः सर्गः

सा त्वेवमुक्ता वैद्रीही त्वनसूयानसूयया ।

प्रतिपूज्य वचो मन्दं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

जब निन्दारहित अनुसूया ने इस प्रकार कहा, तब नीता जी उसके वचन का अनुमोदन कर धीरे से बोली ॥ १ ॥

नैतदारचर्यमार्याया यन्मां त्वमनुभापसे ।

विदितं तु मयाप्येतद्यथा नार्याः पतिर्गुरुः ॥ २ ॥

हे आर्ये ! आपका मुझे इस प्रकार का उपदेश देना—कोई आरच्य की बात नहीं है । परन्तु मैं भी यह जानती हूँ कि, नारी का पति ही गुरु होता है ॥ २ ॥

यद्यप्येष भवेद्भर्ता ममार्ये वृत्तवर्जितः ।

अद्वैवमुपचर्तव्यस्तथाप्येष मया भवेत् ॥ ३ ॥

यद्यपि पति अच्छी वृत्ति से होत और दारिद्र ही क्यों न हो, तथापि मुझ जैसी स्त्रियों को उसके प्रति द्वैधी भाव न रखना चाहिए अर्थात् पति के साथ श्रुतिपूर्वक वर्ताव करना चाहिए ॥३॥

किं पुनर्यो गुणरलाध्यः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ।

स्थिरानुरागो धर्मात्मा मातृवत्पितृवत्प्रियः ॥ ४ ॥

१ अद्वैध—द्वैधीभावगहित । ( गो० ) २ मातृवत्पितृवत्प्रिय—  
अत्यन्तहितप्रत्वेन । ( गो० )

फिर जो पनि गुणवान होने के कारण सराहनीय है, दयावान्, जितेन्द्रिय, स्थिरानुराग, धर्मज्ञ और माता पिता की तरह अत्यन्त हित में तत्पर है, उमरा तो कहना ही क्या है ॥ ४ ॥

यां ऽत्ति वर्तते गमः कौमल्यायां महापलः ।  
तामेव नृपनारीणामन्यामामपि वर्तते ॥ ५ ॥

देगिए श्रीरामचन्द्र जो की जो भावना अपनी जननी कौमल्या में है, उनही यही भावना महाराज की अन्य सब रानियों में भी है । अर्थात् उनही भी श्रीराम निज मातृपत् ममक उनके साथ माता जैसा व्यवहार करते हैं ॥ ५ ॥

सकृद्दृष्टास्वपि स्त्रीषु नृपेण नृपवत्सलः ।

मातृपद्वर्तते वीरो मानमुत्तमृज्य धर्मभिन् ॥ ६ ॥

इतना ही नहीं—दिन्तु, महाराज दशरथ ने जिन स्त्रियों का ओर एक बार भी आस पठा कर देखा अर्थात् अपनी स्त्री मान कर देखा, उन स्त्रियों का भी महाराज के प्यारे पीरपर और धर्मज्ञ श्रीराम मातृवग सम्मान ही दृष्टि में देखते हैं ॥ ६ ॥

आगच्छन्त्याश्च पित्रेण नमेव भयापहम् ।

समाहितं मे शश्र्वा हृदये तद्धृत महन् ॥ ७ ॥

मैं जब इस भयानक निज्जन वन को आने लग, तब माता कौमल्या जी ने अपनी तरह मुझे जो उपदेश दिया था, यह मेरे हृदय में है अर्थात् मेरा हृदयपटल पर अंकित है और उसे मैं भूली नहीं ॥ ७ ॥

पाणिप्रदानकाले च यन्पुग त्वग्निमग्निघां ।

अनुशिष्टा जनन्यास्मि वाक्य तदपि मे शृतम् ॥ ८ ॥

विवाह के समय अग्नि के मामने मेरी माता ने मुझे को उपदेश दिया था, वह भी मुझे याद है ॥ ८ ॥

नवीकृतं च तत्सर्वं वाक्यैस्ते धर्मचारिणि ।

पतिशुश्रूषणान्धार्यारतपो नान्यद्विधीयते ॥ ९ ॥

हे धर्मचारिणी ! पतिसेवा को छोड़ स्त्री के लिए दूसरी तपस्या नहीं है—इत्यादि उपदेश जो मेरे दन्धुवान्धवों ने मुझे दिए थे, उनको आपने पुनः ( आज ) मेरी स्मृति में ताजे ( नवीन ) कर दिए ॥ ९ ॥

सावित्री पतिशुश्रूषां कृत्वा स्वर्गं महीयते ।

तथावृत्तिश्च याता त्वं पतिशुश्रूषया दिवम् ॥ १० ॥

देखिए, सावित्री अपने पति की सेवा कर के ही, स्वर्ग में, आदर प्राप्त कर निवास करती हैं। इसी प्रकार आप भी पतिसेवा द्वारा स्वर्ग पावेंगी ॥ १० ॥

वरिष्ठा सर्वनारीणामेषा च दिवि देवता ।

रोहिणी न विना चन्द्रं मुहूर्तमपि दृश्यते ॥ ११ ॥

सब स्त्रियों में श्रेष्ठ और स्वर्ग की देवी रोहिणी भी, चन्द्रमा के बिना एक क्षण भी नहीं देख पड़ती ॥ ११ ॥

एवंविधाश्च प्रवराः स्त्रियो भर्तृदृढव्रताः ।

देवलोके महीयन्ते पुण्येन स्वेन कर्मणा ॥ १२ ॥

इसी प्रकार की और भी अनेक उत्तम स्त्रियों, जो नृपातिव्रत धर्म धारण करने वाली हैं, वे अपने पुण्यकर्मों के प्रभाव से स्वर्ग में जाती हैं ॥ १२ ॥

ततोऽनसूया सहृष्टा श्रुत्वा उक्तं मीतया वचः ।

शिरस्याघ्राय चोपाचं मैथिलीं हर्षयन्त्युत ॥ १३ ॥

मीता जी की बातें सुन, अनुसूया ने हर्षित हुई और सीता जी का महान मूँघ उनको हर्षित कर, रहने लगी ॥ १३ ॥

नियमविधिधैरात्तं तपो हि महदस्ति मे ।

तत्प्रश्रित्य बलं मीतेच्छन्दये त्वां शुचिस्मिते ॥ १४ ॥

हे सीते ! मैंने अनेक प्रकार के धननियम आदि का पालन कर, जो तप फल मन्त्रित किआ है, वह थोड़ा नहीं बहुत अधिक है । अतः हे शुचिस्मिते ! उस तप फल के बल से मैं तुम्हें धर देना चाहती हूँ सो तू धर माँग ॥ १४ ॥

उपपन्नं मनोज्ञं च वचनं तव मैथिलि ।

प्रीता चास्म्युचेतं किं ते करणानि प्रीहि मे ॥ १५ ॥

क्योंकि हे मैथिली ! तूने जो उचित पर मनोहर बातें कही हैं, उनसे मैं तेरे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ । अथ नू यतना कि, मैं तेरा क्या प्रियकार्य करूँ ॥ १५ ॥

तस्यास्तद्रचनं श्रुत्वा मिस्मिता मन्दस्मिया ।

कृतमित्यप्रीत्मीता तपोबलसमन्विताम् ॥ १६ ॥

पातिप्रथमं की जानने वाली तपोबल से युक्त अनुसूया जी के यह वचन सुन, मीता जी ने विगिमत हो तथा मुमक्या कर, कहा कि, आपके अनुग्रह ही से मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो गई ॥ १६ ॥

सा त्वेवमुक्ता धर्मज्ञा तथा प्रीततराऽभवत् ।

सफलं च प्रदत्तं ते हन्त सीते परोम्यहम् ॥ १७ ॥



पातिप्रथमं ही व नने या ती अनुमृया जा मीत जी रे यह वचन सुन, उन पर आंग भी अधिक प्रमत्त हुई और बोनी—हे नीत ! तुमों देग्य कर नुक्ते जा हर्ष हु प्रा है, उनके अनुरूप उसे में प्रवश्य मफल करुंगी ॥ १५ ॥

इदं दिव्य रं मान्य रत्नमामरणानि च ।

अङ्गराग च वेदहि महाहै वानुलेपनम् ॥ १६ ॥

यह उत्तम दिव्य माना. रत्न, भूषण, अङ्गराग तथा मूल्यवान् उवटन, जो मैं देती हूँ, इनसे तेरे अंग सुशोभित होंगे ॥ १६ ॥

मया दत्तमिदं सीते तव गात्राणि शोभयेत् ।

अनुरूपमसंस्निष्टं नित्यमेव भविष्यति ॥ १६ ॥

अङ्गरागेण दिव्येन लिप्ताङ्गी जनकात्मजे ।

शोभयिष्यति भवतिरं यथा श्रीविष्णुमव्ययम् ॥ २० ॥

हे जनरदनन्दिनी ! इन रत्नओं का नित्य व्यवहार करने से भी वे रुमी मैं ली नहीं होंगी और तेरे शरीर के लिए ठीक होंगी और तेरे अंगों की शोभा बढावेंगी । मेरे दिये हुए इस दिव्य अङ्गराग को अपने अंगों में लगाने से तुम अपने पति को वसी प्रकार शोभित करोगी जैसे लक्ष्मीदेवी नाशरहित भगवान् श्रीविष्णु को शोभित करती हैं ॥ १६ ॥ २० ॥

सा पञ्चमङ्गरागं च भूषणानि तत्रस्त्वया ।

मैथिली प्रतिवग्राह प्रीतिदानमनुत्तमम् ॥ २१ ॥

जानकी जी ने अनुमृया जी ने दिए हुए उत्तम प्रेमोपहार वत्त अङ्गराग, आभूषण और माला आदि को प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया ॥ २१ ॥

१ अनुरूपम्—तद्गुणानुरूपं । (गो०) २ अस्निष्टं—अवाविव-  
शोभमित्यर्थ । (गो० )

प्रतिगृह्य च तत्सीता प्रीतिदानं यशस्विनी ।

रिलष्टाञ्जलिपुटा तत्र समुपास्त तपोधनाम् ॥ २२ ॥

यशस्विनी सीता न अनुसूया जी क दिए हुए, उस प्रेमोहार को ग्रहण किया और हाथ जाड़ कर तपस्विनी अनुसूया के पास बैठी ॥ २२ ॥

तथा सीतामुपानीनामनसूया दृढव्रता ।

वचनं प्रष्टुमारैमे कथां कांचिदनुप्रियाम् ॥ २३ ॥

जानकी जो को पाव बैठी देख, दृढव्रतिव्रत धारण करने वाली अनुसूया जी सीता जी से कोई मनोरंजन वान सुनने की इच्छा से पूछने लगी ॥ २३ ॥

स्वयं परे क्लिप्त प्राप्ता त्वमनेन यशस्विना ।

रामवेगेति मे सीते कथा श्रुतिमुपागता ॥ २४ ॥

हे जानकी ! इन यशस्वी श्रीरामचन्द्र ने तुमको स्वयं पर मे पाया यह वधा मैं ( सक्षीर से तो, मन चुकी हूँ ॥ २४ ॥

तां कथां श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण च मैथिलि ।

यथाऽनुभूत सान्न्ध्येन तन्मे त्वं वक्षतुमर्हसि ॥ २५ ॥

किन्तु हे मैथिली 'इमं वृत्तान्तं को मे विस्तारपूर्वक सुनना चाहती हूँ । जो जो कुछ हुआ था यह मन्सा मुझे मनाओ ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा तु सा सीता तां ततो धर्मचारिणीम् ।

श्रुयतामिति चोरुया वै कथयामास तां कथाम् ॥ २६ ॥

सीता जी ने, अनुसूया जी से ये वचन मन, धर्मचारिणी तपस्विनी अनुसूया जी से यह वधा कि, मनिष यह वृत्तान्त सुनाती हूँ ॥ २६ ॥

मिथिलाधिपतिर्भीरो जनको नाम धर्मवित् ।

क्षत्रधर्मे ह्यभिरतो न्यायतः शास्त्रि मेदिनीम् ॥२७॥

सीता जी बोलों—मिथिला के अधिपति, वीर और धर्मव्र महारान जनक, जात्ररर्चाव्य पालन में सदा तत्पर रहते हैं, और न्यायपूर्वक राज्य का शासन करते हैं ॥ २७ ॥

तस्य लाङ्गलहस्तस्य कर्पतः क्षेत्रमण्डलम् ।

अहं रिलोत्थिता भित्त्वा जगतीं नृपतेः सुता ॥ २८॥

यज्ञ के लिए यज्ञभूमि का मन्त्रार करने को जब हल हाथ में ले, वे खेत जोतने लगे, तब, भूमि पृथिवी को भेद कर उनकी पुत्री के रूप में निकल आई ॥ २८ ॥

स मां दृष्ट्वा नरपतिर्मुष्टिनिक्षेपतत्परः ।

पांसुकुण्डितगर्वाङ्गीं जनको विस्मितोऽभवत् ॥ २९ ॥

उस समय राजा जनक'लो मत्रपाठपूर्वक मुट्टी में ले श्रीपति के बीच बोलने में तत्पर थे मेरे सारे शरीर में धूल लगी देख, विस्मित हुए ॥ २९ ॥

अनपत्येन च स्नेहादङ्गमारोप्य च स्वयम् ।

ममेयं तनयेत्युक्त्वा\* स्नेहो मयि निपातितः ॥३०॥

सन्तानहीन होने के कारण, उन्होंने स्नेह से स्वयं मुझे उठा अपनी गोदी में लिआ और यह कहा कि, यह मेरी बेटी है। वे मेरे ऊपर बड़ा स्नेह करने लगे ॥ ३० ॥

अन्तरिक्षे च वागुक्ताप्रतिमामानुषी किल ।

एवमेतन्नरपते धर्मैश्च तनया तव ॥ ३१ ॥

१ अनपत्येन च तेन—स्नेहान्मामङ्गमारो य । ( गो० )

\* पाठान्तरे—“तनयेत्युक्त्वा” ।

उस समय आकाश से मनुष्य जैसी बोली में यह वचन सुन पड़े कि—हे राजन ! निश्चय ही यह तुम्हारी धर्मपुत्री है ॥३१॥

ततः प्रहृष्टो धर्मात्मा पिता मे मिथिलाधिपः ।

१ अयाप्तो रिपुलामृद्धिं मामयाप्य नराधिपः ॥ ३२ ॥

तब तो मेरे धर्मात्मा पिता मिथिलाधीश बहुत प्रसन्न हुए और मेरे मिलने से नरेन्द्र को बड़ी समृद्धि प्राप्त हुई ॥ ३२ ॥

दत्ता चास्मीष्टप्रदेव्यै२ ज्येष्ठायै पुण्यकर्मणा३ ।

तया संभाविताश्चास्मि स्निग्धया मातृसौहृदात् ॥३३॥

मदा यक्षानुष्ठान करने वाले महाराज जनक ने मुझे अपनी पटरानी को जो सन्तान की इच्छा रखती थीं, ईप्सित-वस्तु की तरह सौंप दिया । वे आदर और स्नेह से और माता जैसे अनुराग से, मेरा लालन पालन करने लगीं ॥ ३३ ॥

५ पतिसंयोगमुत्तमं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता ।

चिन्तामभ्यगमद्दीनो विचनाशादिवाधनः ॥ ३४ ॥

मुझे विवाह करने के योग्य उमर में पहुँची देख, पिता जी उसी प्रकार चिन्तामस्त और चिन्तन हुए, जिम प्रकार धन के नाश से निर्धन मनुष्य विफल और चिन्तामस्त होता है ॥ ३४ ॥

सदशाचापकृष्टाच्च लोके कन्यापिता जनात् ।

६ प्रधर्षणामयाप्नोति शत्रूणापि ममो भुवि ॥ ३५ ॥

१ मन्लामोत्तरं तस्य महतीं समृद्धिर्जनिति भावः । ( रा० ) २ इष्टव-  
हेत्ये—इच्छावारी देखै । ( गो० ) ३ यदा सन्तानेन्द्रावपै देखै । ( रा० )  
४ पुण्यकर्मणा—अनवरतपहादिकर्मपुकेनवनकेन । ( गो० ) ५  
संभाविता—संबंधितेवर्धः । ( गो० ) ६ पतिसंयोग मुत्तमं—पाणिमहसो-  
चित । ( रा० ) ६ प्रधर्षणां—तिरस्त्रिणी ( गो० )

क्योंकि, कन्या का पिता चाहे इन्द्र के समान ही क्यों न हो, और वर के पक्ष के लोग बराबर या हीन दर्जे ही के क्यों न हों किन्तु कन्या के पिता को नीचा ही देखना पड़ता है ॥ ३५ ॥

तां धर्षयामदूरस्थां दृष्ट्वा चात्मनि पार्थिवः ।

चिन्तास्रवगतः पारं नासमादास्रवो यथा ॥ ३६ ॥

अतः मेरे पिता उम तिरस्कार के होने में कुछ भी विलम्ब न देख, चिन्तासागर में निमग्न हो गए और नीकाहीन जन की तरह वे उम चिन्तासागर के पार न जा सके ॥ ३६ ॥

अयोनिजां हि मां ज्ञात्वा नाध्यगच्छद्विचिन्तयन् ।

सदृशं चानुरूपं च महीपालः पतिं मम ॥ ३७ ॥

पिता जी, मुझे अयोनिजा जान, मेरे मन्त्रा और मेरे योग्य वर, बहुत हूँ डरने पर भी न पा सके । अतः उनसे हम बात की सदा चिन्ता बनी रहती थी ॥ ३७ ॥

तस्य बुद्धिरियं जाता चिन्तयानस्य सन्ततम् ।

स्वयंवरं तनूजायाः करिष्यामीति धीमतः ॥ ३८ ॥

निरन्तर सोचते सोचते मेरे बुद्धिमान् पिता ने यह विचार कि, हम पुत्री के विवाह के लिए स्वयंवर की योजना करनी उचित है ॥ ३८ ॥

महायज्ञे तदा तस्य वरुणेन महात्मना ।

दत्तं धनुर्वरं प्रीत्या तूष्णीं चाक्षयसायकौ ॥ ३९ ॥

पूर्वकाल में किसी समय किसी महायज्ञ में मेरे पिता जी के किसी पूर्वज को, वरुण जी ने प्रीतिपूर्वक एक श्रेष्ठ धनुष और अक्षय बाणों से पूर्ण दो तरकम दिए थे ॥ ३९ ॥

असंचान्यं मनुष्यैश्च यत्तेनापि च गौरवान् ।

तत्र शक्ता नमयितुं स्वप्नेऽपि नराधिपाः ॥ ४० ॥

यह धनुष दाना भारा था कि अनेक मनुष्य मिल कर बड़ा प्रयत्न करने पर भी उसे सरका भा नहीं सकते थे और राजा लोग स्वप्न में भी उसका नहीं लचा सकते थे ॥ ४० ॥

तद्धनुः प्राप्य मे पित्रा व्याहृत मृत्यवादिना ।

ममवापे नरेन्द्राणां पृथमामन्त्य पार्थिवान् ॥ ४१ ॥

मेरे मृत्यवादी पिता महाराज जनक ने पुरुषानुक्रम से वह धनुष पाया था । सो उन्होंने राजाओं को निमंत्रण दे कर व किआ और फिर सब के सामने बोले ॥ ४१ ॥

इदं च धनुर्दधम्य मज्यं यः कुरुते नरः ।

तस्य मे दुहिता भार्या भविष्यति न मंशयः ॥ ४२ ॥

हे राजा लोगों ! आप लोगों में से जो पुष्प उम धनुष को उठा कर, हम पर रोहा चढा देगा, मैं अपनी पत्नी यमीश्री व्याह दूँगा । हमसे कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ४२ ॥

तद्य दृष्ट्वा धनुःश्रेष्ठं गौरवाद्गिग्मिधिमम् ।

अभिवाद्य नृपा जग्मुरशक्तस्तस्य कौलने ॥ ४३ ॥

राजा लोग पहाड़ की तरह भारी उम धनुषश्रेष्ठ को देख, और उसे दृष्टाने की अपने में शक्ति न पा कर, धनुष को प्रणाम कर कर चले गए ॥ ४३ ॥

सुदीर्घस्य तु कालस्य गधरोऽयं महापुतिः ।

विश्वामिश्रेय महितो यज्ञं द्रष्टुं समागतः ॥ ४४ ॥

स्वयंवरं ~~सुखं~~ समाप्त होने के बहुत दिनों बाद यह महायुति-  
मान् श्रीराम विश्वामित्र जी के साथ, पिता जी का यज्ञ देखने  
आए ॥ ४४ ॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामः सत्यपराक्रमः ।

विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा मम पित्रा सुपूजितः ॥ ४५ ॥

मेरे पिता जी ने भाई लक्ष्मण के साथ आये हुए सत्यपराक्रमी  
श्रीराम और धर्मात्मा विश्वामित्र जी का भली भाँति आदर सत्कार  
किया ॥ ४५ ॥

प्रोवाच पितरं तत्र भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।

सुतौ दशरथस्येभौ धनुर्दर्शनकाङ्क्षिणौ ॥ ४६ ॥

तदनन्तर विश्वामित्र जी ने मेरे पिता से कहा कि ये महाराज  
दशरथ के दोनों पुत्र श्रीराम और लक्ष्मण हैं और यह आपका  
धनुष देखना चाहते हैं ॥ ४६ ॥

धनुर्दर्शय रामाय राजपुत्राय दैविकम्<sup>१</sup> ।

इष्ट्युक्तस्तेन विप्रेण तद्धनुः समुपानयत् ॥ ४७ ॥

अतः आप श्रीरामचन्द्र जी को वरुण का दिया हुआ वह  
धनुष दिखला दीजिए । विश्वामित्र जी के यह कहने पर, जनक  
जी ने वह धनुष मँगवा दिया ॥ ४७ ॥

निमेषान्तरमात्रेण तदानम्य महाबलः ।

ज्यां समारोप्य भटिति पूरयामास वीर्यवान् ॥ ४८ ॥

और पराक्रमी श्रीराम ने पलक मारते उस धनुष को नवा,  
उस पर भट रोड़ा चढ़ा दिया और उसे टंकीरा ॥ ४८ ॥

तेन पूरयता वेगात् मध्ये भग्नं द्विधा धनः ।

तस्य शब्दोऽभनद्धीमः पतितस्याशनेरिव ॥ ४६ ॥

टहोर देने के लिए जोर से डोरी गीचने के कारण, बीच से उसके दो टुकड़े हो गए । उसके टूटने से ऐसा भयङ्कर शब्द हुआ मानों कहीं बज्र गिरा हो ॥ ४६ ॥

ततोऽहं तत्र रामाय पित्रा सत्यामिसन्धिना ।

निधिता दातुमुद्यम्य जलमाजनमुत्तमम् ॥ ५० ॥

तदनन्तर मेरे सत्यमन्ध पिता ने मेरा दान करने के लिए उत्तम जलपात्र मँगवाया और श्रीरामचन्द्र को मुझे देने को कहा वचन हुए ॥ ५० ॥

दीयमानां न तु तदा प्रतिजग्राह राघवः ।

अविज्ञाय पितुश्छन्दमयोध्याधिपतेः प्रमोः ॥ ५१ ॥

किन्तु देने के लिए वचन होने पर भी अपने अयोध्याधिपति पिता का अभिप्राय जाने बिना, श्रीराम ने मुझे ग्रहण करना स्वीकार न किया ॥ ५१ ॥

[ टिप्पणी—यह भी भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति और उभयज्योतिषी ॥ उस काल के कियोरावस्था प्राप्त भारतवासी अपने पिता की अनुमति बिना विवाह वैसा दायित्वपूर्ण काम करने का दुस्साहस नहीं कर सकते थे ।

ततः शशुरमामन्त्र्य वृद्धं दशरथं नृपम् ।

मम पित्रा त्वहं दत्ता रामाय निदितात्मने ॥ ५२ ॥

तब मेरे पिता ने मेरे वृद्ध मसुर महाराज दशरथ जी को निर्मंत्रण भेज बुलाया और उनकी अनुमति से जगन् में प्रविष्ट ( अथवा आत्मवेत्ता ) श्रीराम को माँग दिया अर्थात् उनके साथ मेरा विवाह कर दिया ॥ ५२ ॥

१ छन्द—अभिप्राय ( गो० )



मम चैवानुजा माघी ऊर्मिला प्रियदर्शना ।

भार्याथे लक्ष्मणस्यापि दत्ता पित्रा मम स्वयम् ॥ ५३ ॥

मेरी छोटी, मीथी माटी और सुन्दर बहिन उर्मिला को, मेरे पिता ने स्वयं लक्ष्मण को भार्या रूप में दिया । अर्थात् लक्ष्मण के साथ उसका भी विवाह कर दिया ॥ ५३ ॥

एवं दत्तास्मि रामाय तदा तस्मिन् स्वयंवरे ।

अनुरक्तास्मि धर्मे पति वीर्यवतां वरम् ॥ ५४ ॥

इति अष्टादशोत्तरशततमः सर्गः ।

हे तपोवने ! मैं उस स्वयंवर में इस प्रकार श्रीराम को दी गई थी । तब से मैं धर्मानुसार पराक्रमियों में श्रेष्ठ अपने पति श्रीराम की सेवा करने में अनुरागिनी हूँ ॥ ५४ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



## एकोनविंशत्युत्तरशततमः सर्गः

—०—

अनद्यथा तु धर्मज्ञा श्रुत्वा तां महतीं कथाम् ।

पर्यप्यजत बाहुभ्यां शिगम्यात्राय मैथिलीम् ॥ १ ॥

पनिग्रहाधर्म को जानने वाली अनुसूया जी ने सीता के विवाह का मंत्रिस्तर वृत्तान्त सुन, जानकी जी का मस्तक सूँघा और दोनों हाथों से पकड़, उनसे अपने हृदय से लगा कर, कहा ॥ १ ॥

व्यक्ताक्षरपदं चित्रं१ मापितं मधुरं२ त्वया ।

यथा स्वयंशरं वृत्तं तत्सर्वं हि श्रुतं मया ॥ २ ॥

तूने स्वयंशर का जो ममन् वृत्तान्त, माफ माफ, मनोहर और विचित्र गीति से रूढा, सो मैंने सब सुना ॥ २ ॥

रमेऽहं कथया तेतु दृढं मधुरभाषिणि ।

रगिरस्त गतः श्रामानुषोक्ष रजनीं शिराम् ॥ ३ ॥

हे मधुरभाषणी ! यथाप तरी इस तथा के सुनने में मेरा मन बहुत लगता है तथापि अब मूर्य भगवान् अस्ताचलगामी हो चुके हैं और सुन्दर रात होना चाहता है ॥ ३ ॥

दिवसं प्रतिकीर्णानामाहारार्थं पत्रत्रिणाम् ।

सन्ध्याकाले निलीनानां निद्रार्थं श्रूपते ध्वनिः ॥ ४ ॥

देखो न ! दिन भर भोजन की राज मे श्वर उभर उदते हुए पक्षी, सन्ध्या हुई देर दमेरा लेने के लिए अपने अपने घोंसलों में आ गए हैं । यह उन्हीं का शब्द सुन पड़ता है ॥ ४ ॥

एते चाप्यभिपेक्षाद्री मुनयः कलशोधताः ।

सहिता उपवर्तन्ते मलिलाप्नुतस्फलाः ॥ ५ ॥

ये मुनि लोग स्नान कर भीगे हुए बन्कल घस मथा जल के कलसे लिए हुए, माथ माथ आ रहे हैं ॥ ५ ॥

ऋषीणामग्निहोत्रेषु कृतेषु विधिपूर्वम् ।

कपोतान्नाहृणो भूमो दृश्यते परनोद्धतः ॥ ६ ॥

१ चित्र—बहुविधस्वरभनाविशिष्टम् । (चि०) - मधुर—मनोहरं ।

ऋषियों के विधि विधान से किए हुए अग्निहोत्र का धुआँ, जो क्यूतर की गरदन के रग के समान लाल ( धुमैले लाल ) वर्ण का है, वायु के वेग से आकाश की ओर उठता हुआ देख पड़ता है ॥ ६ ॥

अल्पपर्णा हि त्रयो धनीभूताः समन्ततः ।

विप्रकृष्टेऽपि देशेऽस्मिन् न प्रकाशन्ति वै दिशः ॥७॥

ये सब अल्प पर्तों वाले पेड़, जो यहाँ से दूर होने के कारण साफ नहीं दिखलाई पड़ते, चारों ओर से अन्धकार के कारण सघन जान पड़ते हैं । दिशाएँ भी अन्धकार द्या जाने से प्रकाश रहित हो गई हैं । अथवा अघेरा द्या जाने के कारण चारों ओर दूर दूर खड़े हुए थोड़े पत्ते वाले पेड़ भी सघन जान पड़ते हैं । अब किसी दिशा में भी उजियाला नहीं देख पड़ता ॥ ७ ॥

१२जनीचरसत्त्वानि प्रचरन्ति समन्ततः ।

तपोवनमृगा ह्येते वेदितीर्थेषु शरते ॥ ८ ॥

देखो निशाचर चारों ओर घूमने लगे हैं और तपोवन के मृग अग्निहोत्र काँ वेदी के पवित्र स्थनों में पड़े मो रहे हैं ॥ ८ ॥

संप्रवृत्ता निशा सीते नक्षत्रसमलंकृता ।

ज्योत्स्नाप्राचरणश्चन्द्रो दृश्यतेऽभ्युदितोऽम्बरे ॥ ९ ॥

हे सीते ! देखो रात भी तारागणों से भूषित हो आ पहुँची थीर चन्द्रमा भी चाँदनी फैलाता हुआ आकाश में उदय हो रहा है ॥ ९ ॥

गम्यतामनजानामि रामस्थानुचरी भव ।

कथयन्त्या हि मधुरं त्वयाऽहं परितोपिता ॥ १० ॥

१ रजनीचरसत्त्वा—निशाचराः । ( शि० ) २ वेदितीर्थेषु—पावन-वेदिषु । ( शि० )

अब मेरी अनुमति से तू जा कर श्रीराम की सेवा कर । तेरी कही मनोहर कथावर्ता सुन मुझे नदुन ही मन्तोष हुआ ॥ १० ॥

अर्लङ्कुरु च ज्ञानञ्चं प्रत्यक्षं मम मैथिलि ।

प्रीतिं जनय मे वत्से दिव्यालङ्काशोमिता ॥ ११ ॥

हे मैथिली तू इन दिव्य अलङ्कारों को मेरे सामने ही धारण करले और इनसे भूषित हो, मेरी प्रमत्तता बदा । अर्थात् मुझे प्रसन्न कर ॥ ११ ॥

सा तथा समलङ्कृत्य सीता सुरसुतोपमा ।

प्रणम्य गिरसा तस्यै रामं त्वभिमुखा ययौ ॥ १२ ॥

तब देवकन्या के सुन्दर सीता जा उन अलङ्कारों से अपने शरीर को सजा कर और अनुमूया जी के चरणों में अपना सीम रख, ( अर्थात् प्रणाम कर ) श्रीरामचन्द्र के पास गई ॥ १२ ॥

तया तु भूषितां मीतां ददर्श बद्धांतरः ।

राघवः प्रीतिदानेन तपस्विन्या जहर्ष च ॥ १३ ॥

वचन बोलने वालों में श्रेष्ठ, श्रीरामचन्द्र जी सीता जी को सजी हुई देख, अनुमूया जी के दिष्ट हुए प्रेमोपहार से बहुत प्रसन्न हुए ॥ १३ ॥

न्यवेदयन्तः सुरं मीता रामाय मैथिली ।

प्रीतिदानं तपस्विन्या वमनाभगणस्रजम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर अनुमूया जी के दिष्ट हुए प्रेमोपहार अर्थात् वस्त्र आभूषण, माला आदि के मिलने का श्रुत्वात्, सीता जी ने

श्रीरामचन्द्र जी से कहा अथवा प्रेमोपहार की वस्तुएँ सीता जी ने श्रीरामचन्द्र जी को दिसलाई ॥ १४ ॥

प्रहृष्टस्त्वभवद्रामो लक्ष्मणश्च महारथः ।

मैथिल्याः सत्क्रियां दृष्ट्वा मानुषेषु सुदुर्लभाम् ॥ १५ ॥

मनुष्यों के लिए अलभ्य, अनुसूया जी क.लिए हुए जानकी जी के सत्कार को देख, श्रीरामचन्द्र और महारथी लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुए । अथवा अनुसूया जी ने जानकी जी का जो सत्कार किया वह मनुष्यों के लिए दुर्लभ है, अतः उसे देख श्रीरामचन्द्र और महाबलवान् लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुए । अथवा मनुष्यों के लिए दुर्लभ जो बस्त्राभूषण प्रेमोपहार में अनुसूया जी ने जानकी जी को दिए थे, उन्हें देख, श्रीरामचन्द्र और महाबलवान् लक्ष्मण अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ १५ ॥

ततस्तां शर्वरीं प्रीतः पुण्यां? शशिनिभाननः!

अचिंतस्तापसं: सिद्धैस्त्वास रघुनन्दनः ॥ १६ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने तपस्वियों और सिद्धों से सत्कारित हो और अनुसूया जी के लिए हुए बस्त्राभूषणों से भूषित चन्द्रमुरी सीता को देख, वह रात वहीं रह कर बिताई ॥ १६ ॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामभिपिच्य? हुताग्निकान् ।

आपृच्छेतां नरव्याघ्रौ तापसान् वनगोचरान् ॥ १७ ॥

उब रात बीती और सचेरा हुआ, तब दोनों पुरुषसिंहों ने स्नान और सन्ध्योपासन कर्मों को समाप्त कर, वनवासी तपस्वियों से आगे वन में जाने के लिए विदा माँगी ॥ १७ ॥

१ पुण्या—अनुसूयापुण्ययालकारा सीता दृष्ट्वा । ( रा० ) २

अभिपिच्य हुताग्निकान्—स्नात्वाकृतहोमान् । ( गो० )

तान्बुक्षते वनचरास्तापसा धर्मचारिणः ।

वनस्य तस्य सञ्चार राक्षसैः समभिप्लुतम् ॥ १८ ॥

तत्र धर्मचारा और वनवासी तपस्वियों ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे राक्षस ! इस वन में मनुष्यों को घूमना फिरना राक्षसों के कारण बड़ा भयावह है । अथवा राक्षसों के उपद्रव से यह वनप्रदेश बड़ी जोग्यों का स्थान हो रहा है ॥ १८ ॥

रक्षांसिःपुण्यादानि नानारूपाणि राघव ।

वमन्त्यस्मिन् महारण्ये व्यालारच रुधिरागनाः ॥ १९ ॥

हे श्रीराम ! इस वन में नाना रूपधारी एव नरमांसभोजी राक्षस और रक्त पीने वाले हिंस्रपशु रहते हैं ॥ १९ ॥

उच्छिष्टं वा प्रमत्तं वा तापमं धर्मचारिणम् ।

अदन्त्यस्मिन् महारण्ये तान् निवारय राघव ॥ २० ॥

वे राक्षस और जंगली हिंस्रपशु इस वन में यदि किसी धर्मधारी तपस्वी को कभी अपवित्र दशा में या अमारधान पाते हैं तो मार कर खा जाते हैं । अतः हे राक्षस ! आप इन दुष्टों को मारें । ( राक्षस अपवित्र दशा में रहने वाले तपस्वियों को और अन्य जन्तु मिह व्याघ्रादि अमारधान तपस्वियों को ) ॥ २० ॥

एष पन्था महर्षीणां फलान्याहरता वने ।

अनेन तु वनं दुर्गं गन्तुं राघव ते क्षमम् ॥ २१ ॥

हे राक्षस ! इस रास्ते से तपस्वी लोग वन में फल लेने जाते हैं, अतः इसी रास्ते से आपका भी इस दुर्गम वन में जाना ठीक है ॥ २१ ॥

इतीव तैः प्राञ्जलिभिस्तपस्विभि-

द्विजैः कृतस्वस्त्ययनः परन्तपः

वनं सभार्यः प्रविवेश राघवः

सलत्मणः सूर्य इवाभ्रमण्डलम् ॥ २२ ॥

इति एकोनविंशत्युत्तरशततमः सर्गः

तत्र तपस्वियों ने हाथ जोड़ मङ्गल आशीर्वाद दे कर इस प्रकार कहा, तब शत्रुओं को तपाने वाले, श्रीराम और लक्ष्मण ने सीता जी सहित, उस दुर्गम वन में, उसी प्रकार प्रवेश किया, जिस प्रकार, सूर्यदेव मेघमण्डल में प्रवेश करते हैं ॥ २२ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ अयोध्याकाण्ड समाप्त हुआ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये

चतुर्विंशतिताहसिकाया संहितायाम्

अयोध्याकाण्डः समाप्तः ॥



॥ श्री ॥

## श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः



एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमास्तु व ।  
प्रयाहरत विस्त्रय बल विष्णो प्रवर्धताम् ॥ १ ॥  
लाभस्तेषा जयस्तेषा कुतस्तेषा पराभव ।  
येषामिन्दीवररयामो हृदये मुप्रतिष्ठित ॥ २ ॥  
काले धर्षतु पर्जन्य पृथिवी सस्यशालिनी ।  
देशोऽय श्श्रीभरहितो ब्राह्मणा सन्तु निर्भया ॥ ३ ॥  
कावेरी धर्षता काले काले धर्षतु वासव ।  
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीरच धर्षताम् ॥ ४ ॥  
स्वरलि प्रचाभ्य परिपालयन्ता  
न्याय्येन मार्गेण मही महीशा ।  
गोब्राह्मणोभ्य शुभमस्तु नित्य  
लोका समस्ता मुम्बिनो भरन्तु ॥ ५ ॥  
मङ्गल कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।  
पञ्चवर्तितनूत्राय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥  
वेदवेदान्तवेणाय मेघरयामलमूर्तये ।  
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यरजोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥



विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरोपतेः ।  
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥  
पितृभक्त्या मतत भ्रातृभिः सह सीतया ।  
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ९ ॥  
त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।  
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥  
सौमित्रिणा च जानक्या चापवाणासिधारिणे ।  
ससेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥  
दण्डकारण्यवासाय खरिडतामरशत्रवे ।  
गृध्रराजाय भक्त्या मुक्तिदायास्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥  
सादरं शत्रुदत्तकुलमूलाभिलाषिणे ।  
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्विक्त्याय मङ्गलम् ॥ १३ ॥  
हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।  
बालप्रमथानायास्तु महावीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥  
श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितमिन्धवे ।  
जितराजसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥  
आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्त्या सीतया ।  
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥  
मङ्गलाशासनपरमैर्मादाचार्यपुरोगमैः ।  
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥